अभिनवगुप्त के साहित्य सिद्धान्त

डॉ॰ आभा श्रीवास्तव

प्रकाशक
नारायण प्रकाशन मन्दिर
२, महाराणा प्रताप नगर,
कमच्छा वाराणसी

© डॉ० आभा श्रीवास्तव

संस्करण : अगस्त १९८७

मूल्य : ७५ रुपये

मुद्रक :
माधो प्रिन्टर्स
२४२, पुराना बैरहाना
इलाहाबाद–३

उन सबको—

जो मेरे अपने हैं।

आमुख

संस्कृत साहित्यशास्त्र में आ र्य अभिनवगुप्त की अद्वितीय विलक्षणता सहृदयों के लिये परोक्ष नहीं है। कश्मीर के सुप्रसिद्ध शिवाद्वैत वाद के प्रमुख प्रवक्ताओं में मूर्धन्य दार्शनिक ने साहित्यतत्त्व का जो विवेचन किया वह चिन्तन की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और काव्य भावना की सम्वादात्मकता का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत करता है। सहृदय का लक्षण निरूपित करने वाले आचार्य अभिनव वस्तुतः सहृदयत्व भावना के मूर्त प्रतीक थे।

निःस्पृह दार्शनिक के सूक्ष्माति सूक्ष्म विश्लेषण और मानवीय भावनाओं में रमने वाले वर्गव की रसदृष्टि—इन दोनों का पूर्ण उपयोग करने के कारण आचार्य अभिनव के सारे सिद्धान्त गम्भीरता और व्यापकता में अद्वितीय हैं। शिवमय जगत् में सर्वत्र रसरूप में परमसत्य का साक्षात्कार करने वाले की दृष्टि साहित्य में भी उसी रससत्ता पर संलग्न है और उसी दृष्टि से उन्होंने साहित्य का विचार किया है।

अभिनवगुप्त को ध्वनि सिद्धान्त ही सर्वोत्तम प्रतीत हुआ और उसी को ध्य.न में रख कर उन्होंने श्रव्य तथा दृश्य दोनों काव्य प्रकारो का, वस्तुतः समग्र कविकर्म का अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग विचार प्रस्तुत किया है। शैव दर्शन पर अनेक भौतिक ग्रन्थों के रचयिता होने पर भी उन्होंने स्वयं किसी साहित्यशास्त्रीय भौतिक ग्रन्थ की रचना नहीं की— यह भी उनकी प्रतिभा की ही विलक्षणता है। रस को ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तुत करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस युगान्तरकारी ग्रन्थ ध्वन्यालोक की रचना की उसी पर उन्होंने लोचन नाम की टीका लिखी जो भारतीय टीका ग्रन्थों में ज्ञान की गरिमा तथा प्रतिभा की बहुत मुखिता के कारण अनन्य प्रतिष्ठा की अधिकारिणी है। साहित्य के क्षेत्र में ध्वनि गुरू आनन्दवर्धन के ग्रन्थ के अतिरिक्त रसगुरु भरतमुनि के ग्रन्थ नाट्यशास्त्र पर उनकी दूसरी टीका अभिनवभारती है, जो पूर्वोक्त टीका के ही अनुरूप नितन्त प्रौढ़ तथा प्रमाण भूत ग्रन्थ है। दो टीकाओं ग्रन्थों के आधार पर ही अभिनवगुप्त साहित्य विचार के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान पर विराजमान हैं।

लोक से लोकोत्तर की ओर अग्रसर होने की भावना कदाचित् भारतीय मनीषा की सर्वोत्तम पहचान है। खण्डित पार्थिव जीवन के सुख दुःख को ही उपजीव्य बनाकर भावयित्री प्रतिभा के धनी कविगण अखण्ड तथा स्वप्रकाशानन्दचिन्मय जैसे रस की अभिव्यन्जना करते आये हैं, उसी रस की अलौकिक महिमा का सर्वाङ्ग सुन्दर प्रतिपादन आचार्य अभिनवगुप्त की अभूतपूर्व देन है।

शिवदृष्टि के धनी और आध्यात्मिक साधना की तुङ्गता पर विराजमान आचार्य के साहित्य के विषय में चिन्तन को शोध का विषय चुन कर श्रीमती आभा श्रीवास्तव ने साहित्य तत्त्व जिज्ञासुओ का महान् उपकार किया है। काव्य के सभी प्रकरणों पर आचार्य के विचार बिन्दुओं के निष्पक्ष परीक्षण और तुलनात्मक मूल्याङ्कन का प्रयास प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य आकर्षण है। श्रीमती आभा का साहित्यिक श्रम पूर्णतया निश्छल है और उसकी तत्वानुसंधित्सु दृष्टि तथा निष्पक्ष विवेचन शक्ति सहृदय जिज्ञासु जनों को नितान्त उपादेय प्रतीत होगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन ध्वनि सिद्धान्त के क्षेत्र में आचार्य अभिनवगुप्त की देन को पूर्णतया समझने में सर्वथा उपयोगी सिद्ध होगा— इस आस्था के साथ मैं सादर इस ग्रन्थ को विद्वानों की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ।

संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (९ अगस्त १९८७)
रक्षाबन्धन (१९८७)

विश्वनाथ भट्टाचार्य

प्रस्तावना

साहित्यकार तो अपने कृतित्व द्वारा साहित्य जगत् में चिरन्तन ख्याति एवं अद्वितीय महत्व का अधिकारी होता ही है किन्तु किसी भाष्यकार का कालजयी व्यक्तित्व एवं अप्रतिम महत्व स्वयं में असाधारण घटना है। आचार्य श्री अभिनवगुप्त का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इसी वर्ग का है। आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की नींव पर आचार्य अभिनवगुप्त ने भव्य काव्यशास्त्रीय प्रसाद की स्थापना की है। ऐसा प्रासाद जिसका सिंहद्वार ही नहीं, अपितु एक-एक गवाक्ष, एक-एक भित्ति, अलिन्द और आधार काव्यशास्त्रीय शिल्प का अद्भुत उदाहरण है। उनके इस शिल्प, प्रतिभा संवेदनशीलता एवं वस्तु निरूपण चातुर्य ने उन्हें टीकाकार होते हुए भी साहित्यकार से अधिक गरिमा एवं प्रभविष्णुता प्रदान की है। जिस प्रकार भवन दिखता है उसकी नींव नहीं ठीक उसी प्रकार संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रीय संसार में आचार्य अभिनवगुप्त की टीकायें ही सुविज्ञ पाठकों के ध्यानाकर्षण का केन्द्र हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्रीय चिन्तन एवं लेखन की भूमि अत्यन्त विशाल है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र और आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक से लेकर शिवाद्वैतवादी दर्शन तक उसका विस्तार है। आचार्य अभिनवगुप्त की टीकाओं के प्रसार, महत्व एवं व्यापकत्व को देखते हुए ऐसा अनुभव होता है कि स्वयं आचार्य के प्रति उनके अध्येताओं ने न्याय नहीं किया है। इसका ज्वलन्त उदाहरण है उन पर रचित ग्रन्थों एवं शोध-प्रबन्धों का अभाव। अनेक पुस्तकालयों एवं पुस्तक संस्थानों की पुस्वक सूचियों का सम्यक् अवलोकन करने पर मात्र निम्नांकित पुस्तकें ही आचार्य के कृतित्व पर प्रकाश डालने वाली उपलब्ध हुई हैं

1. Historical —Philosophical Study of Abhinava Gupta
   by K. C. Pandey
2. Aesthetic experience according to Abhinavagupta
   by R. Gnoli
3. Abhinavagupta—Santa Rasa
   by M. V. Patwardhan—J. S. Masson

आचार्य अभिनवगुप्त पर रचित ग्रन्थों का अभाव ही मेरे इस प्रबन्ध का प्रेरक तत्व है। काव्य जगत में यत्र तत्र सर्वत्र बिखरे हुए अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्रीय सूत्रों का संकलन कर, उनकी विशद् विवेचना कर उन्हें एक ही प्रबन्धसूत्र में गुम्फित कर

सुश्री जनों के सम्मुख प्रस्तुत करने की प्रबल इच्छा अनुभव की। इच्छा को कार्यान्वित कर सकने की दिशा में परम पूज्य गुरू डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य जी का प्रोत्साहन एवं सम्यक निर्देशन मेरा सशक्त सम्बल बना। प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सम्यक निर्देशन की ही फलित अभिव्यक्ति है' आचार्य अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचनात्मक अध्ययन' शीर्षक यह शोध प्रबन्ध। मेरी यह प्रस्तुति यदि जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का समाधान कर सके, अध्येताओं के लिए आचार्य अभिनव के चिन्तन सिद्धान्त निरूपण एवं निष्कर्षों के ग्रहण को सुगम बना सके तो मैं अपने प्रयास को कृतार्थ मानूँगी।

मेरी इस शोध-यात्रा के अनेक आयाम हैं। व्यक्तित्व और कृतित्व अन्योन्याश्रित होता है अतः कृतित्व की विवेचना के पूर्व व्यक्तित्व का सांगोपांग निरूपण स्वतः ही अपरिहार्य हो जाता है। इसी दृष्टि से विवेच्य प्रबन्ध के आरम्भ में हमने आचार्य अभिनवगुप्त के जन्म से लेकर उनके जीवन दर्शन, आध्यात्मिक एवं भौतिक उपलब्धि, वाह्य प्रभाव और अन्तःप्रेरणा आदि को प्रकाश में लाने की चेष्टा की है। उसके यथा तथ्य अंकन हेतु मुझे कश्मीर तक की यात्रा करनी पड़ी। आचार्य अभिनव के कृतित्व की भाँति उनका व्यक्तित्व भी असाधारण था। व्यक्तित्व की असाधारणता ने ही उन्हें ज्ञान और भक्ति दोनों पर समान अधिकार दिया। हृदय और बुद्धि का ऐसा सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ है। हृदय से कवि और बुद्धि से दार्शनिक यही कारण है कि उनकी सर्जना ४४ की संख्या तक पहुँच गई है। उनकी उपलब्धकृतियों में दो काव्यशास्त्रीय हैं एवं अन्य दार्शनिक। हमारा प्रतिपाद्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचनात्मक अध्ययन है। अतः मैंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी टीकाओं में ही अपने को केन्द्रित किया है। आधार ग्रन्थ के रूप में लोचन टीका को ही मेरुदण्ड बनाया है और सहायक रूप से नाट्यशास्त्र के उन्हीं अध्यायों को अध्ययन के लिए चुना है जिनका सम्बन्ध काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से है इनमें मुख्य है अध्याय ६,७,१२,१३ व १८।

प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में काव्यशास्त्र और उसके प्रतिपाद्य विषय का अध्ययन किया गया है जिसमें काव्यशास्त्र का पारिभाषिक परिचय महत्व प्रतिपादन तथा आवश्यकता निरूपण के साथ-साथ तत्सम्बन्धी आचार्य अभिनव के सिद्धान्तों का समाहार किया गया है। साथ ही परवर्ती एवं पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं और सिद्धान्तों के सन्दर्भ में तुलनात्मक मूल्यांकन एवं अभिनवगुप्त की अपनी उपलब्धियों के निष्कर्ष निरूपण का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय काव्यशास्त्रीय तत्वों एवं उपादानों के सांगोपांग अध्ययन का अभिलेख है। काव्यशास्त्रीय तत्वों के ऐतिहासिक विकास, लक्षण निरूपण, भेदोपभेद कथन तथा सोदाहरण विवेचन एवं मूल्यांकन से युक्त है। इन काव्यशास्त्रीय तत्वों के

अन्तर्गत शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुण, अलंकार संघटना एवं दोषों का समाहार किया गया है।

इस प्रबन्ध के **चतुर्थ अध्याय** में काव्यशास्त्र से सम्बद्ध प्रकीर्ण विषयों यथा सहृदय, कवि, चमत्कार आदि पर संक्षिप्त एवं सारग्रही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इसके अनन्तर निष्कर्षात्मक उपसंहार है। इसमें अभिनव की काव्यशास्त्रीय उपलब्धियों का सूत्रात्मक संगुम्फन है। भाष्यकार के रूप में नहीं प्रत्युत एक स्वतंत्र काव्यशास्त्री के रूप में उनका काव्यगत स्थान महत्व एवं उनके सिद्धान्तों की सटीकता, सफलता और अनुवर्तन को निरूपित किया गया है।

परिशिष्ट के अन्तर्गत मैंने 'आचार्य अभिनवगुप्त की काव्यशास्त्रीय टीकायें पद्धति और उद्देश्य' शीर्षक शोधात्मक सामग्री को निबद्ध किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अद्यन्त विवेचना शैली पूर्व और पर के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक मूल्यांकन युक्त रही है क्योंकि निश्चित निष्कर्ष निरूपण सर्वत्र मेरा अभिप्रेत है। प्रबन्ध की प्रस्तुति में मैंने त्रिविध शैली का आश्रय लिया है जिसमें सर्वप्रथम सिद्धान्तों की स्थापना पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों के सन्दर्भ में उसकी तुलनात्मक विवेचना तथा मूल्यांकन एवं निष्कर्ष निरूपण का प्रयास है। इस सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध में मेरी आन्तरिक इच्छा इस तथ्य के स्पष्टीकरण में निहित रही है कि यदि आचार्य अभिनवगुप्त ने मम्मट आदि की तरह का कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा होता तो काव्यशास्त्रीय तत्वों के सन्दर्भ में उनकी मान्यतायें क्या होती ? इस प्रयास में मैंने ध्वन्यालोक को आधार ग्रन्थ बनाया है एवं आनुषंगिक रूप से अभिनव भारती के कुछ अध्यायों की सहायता ली है। इसके अतिरिक्त विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए पूर्व एवं परवर्ती काव्यशास्त्रकारों के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया गया है।

प्रयास मेरा है और इस प्रयास की सफलता सुधी जनों के विवेकाश्रित है। यदि सुधी जनों की सहमति मेरी उपलब्धि को प्राप्त हुई तो मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूंगी।

१५ अगस्त १९८७
स्वतन्त्रतादिवस

डॉ० आभा श्रीवास्तव

प्रणति

इस शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में जिन विद्वानों की बौद्धिक उपलब्धियों से प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः लाभान्वित हुई हूं उन सबके प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

आभारी हूँ—श्री भारद्वाज (पुस्तकालयाध्यक्ष सरस्वती भवन) श्री लक्ष्मी नारायण तिवारी (पुस्तकालयाध्यक्ष (केन्द्रीय ग्रन्थालय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) एवं सुश्री कलामेहता (पुस्तकालयाध्यक्षाबसन्त महिला महाविद्यालय) की जिन्होंने शोध अवधि में पुस्तकें सुलभ कराने में सहयोग दिया।

ऋणी हूँ – माँ डा० श्रीमती सरोज बिसारिया की जिन्होंने मात्र प्रेरणा ही नहीं दी प्रत्युत् शोध अवधि के मध्य आई अनेकानेक ग्रन्थियों पर मुझे समय देकर पूर्ण विचार विनिमय किया एवं समस्याओं के समाधान में अपनी प्रज्ञा एवं प्रतिभा का सम्बल देकर मुझे निष्कर्ष निरूपण में समर्थ बनाया। पिता श्री जगदीश सहाय बिसारिया की जिनके स्नेह, प्रेरणा और प्रोत्साहन का ही फलित रूप है यह शोध प्रबन्ध उपकृत हूँ –श्वसुर श्री आनन्दमूर्ति श्रीवास्तव एवं पति श्री गौतम कुमार श्रीवास्तव की जिन्होंने प्रकाशन का समन्वय दायित्व लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ को न केवल सहृदय पाठकों के लिये ही सुलभ कराया प्रत्युत मेरे परिश्रम को भी यथेष्ठ अर्थवत्ता दी।

सर्वाधिक श्रेय तो प्रिय भाई राहुल एवं सौरभ को जाता है जिन्होंने अत्यन्त तत्परता से इस ग्रन्थ का मुद्रण किया एवं प्रूफ देखने का समस्त दायित्त्व भी स्वयं ही सम्भाला। संस्कृत साहित्य से पूर्ण विज्ञता न होने के कारण प्रूफ में कतिपय अशुद्धियाँ का रह जाना नितान्त स्वाभाविक है।

सुविज्ञ-पाठक विवेकी मराल की भाँति केवल क्षीर ही ग्रहण करेंगे नीर नहीं इसी विश्वास के साथ सुविज्ञों की सेवा में यह ग्रन्थ सादर समर्पित है।

लेखिका

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना : i–v

प्रथम अध्याय : जीवनवृत्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व १–३४

(१) अभिनवगुप्त एक परिचय, अभिनवगुप्त के पूर्वज आचार्य अभिनवगुप्त नाम और किंवदन्तियाँ, जीवनवृत्त, योगिनी भूः अभिनवगुप्त, व्यक्तित्व, आचार्य अभिनवगुप्त एवं उनके गुरुजन ।

(२) कृतित्व-सामान्य परिचय, ग्रन्थतालिका, दार्शनिक साहित्य, आलंकारिक साहित्य, अभिनवगुप्त के उपलब्ध ग्रन्थों का सामान्य परिचय ।

द्वितीय अध्याय : काव्यशास्त्र एवं उसके प्रतिपाद्य विषय ३५–५६

(क) काव्यशास्त्र और उसके प्रतिपाद्य विषय-एक अध्ययन, काव्यशास्त्र उपयोगिता और आवश्यकता काव्यशास्त्र की परम्परा-पूर्वध्वनिकाल, ध्वनिकाल ध्वन्युत्तर काल ।

(२) काव्यशास्त्रीय प्रतिपाद्य विषय-काव्य स्वरूप, काव्यकारण, काव्य प्रयोजन, काव्यगतवैशिष्ट्य

(३) काव्य का आत्मतत्व-अभिनवगुप्त और काव्यात्माकाव्य प्रयोजन-अभिनवगुप्त एवं काव्य प्रयोजन, काव्यकारण-अभिनवगुप्त और काव्य हेतु ।

तृतीय अध्याय : काव्यशास्त्रीय उपादानों का समीक्षात्मक मूल्यांकन ५७–१९२

(१) शब्दशक्ति-शब्दशक्ति का विचार और उसकी परम्परा, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना-व्यन्जनों के भेद आर्थी व्यंजना, दार्शनिक सम्प्रदाय और व्यंजना-मीमांसक और व्यंजना, वेदान्तियों का अखण्डतार्थवाद और व्यंजना, व्यंजन, और अभिधा व्यंजना और लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्या वृत्ति, आचार्य अभिनवगुप्त और व्यंजना ।

(२) ध्वनि-एक सामान्य परिचय, व्याकरण के सिद्धान्त और ध्वनि, ध्वनि के अस्तित्व की सिद्धि एवं उसकी प्राचीनता, ध्वनि कारिका और आचार्य अभिनवगुप्त का ध्वनि विवेचन, ध्वनि विरोधी मत तथा अभिनव कृत उनकी विवेचना अभाववाद, भाक्तवाद, अशक्यवक्तव्यतावाद, आचार्य भट्टनायक का ध्वन्यार्थबोध और आचार्य अभिनवगुप्त, ध्वनि भेद, ध्वनि के विभिन्न रूप एवं उनका वर्गीकरण-वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि व रस ध्वनि। गुणीभूत व्यंग्य-गुणीभूत व्यंग्य का महत्व, रस व्यंजक गुणीभूत व्यंग्य, काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य चित्रकाव्य।

(३) रस-सामान्य परिचय, रस के संयोजक तत्व-स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, रस प्रक्रिया, रसों, की संख्या, रस एवं उसकी अलौकिकता, नाट्यशास्त्र में विवेचित रस उसके वर्ण एवं देवता। रस प्रतीति उसके विघ्न एवं अभिनवगुप्त, भाव एवं रस।

(४) गुण-सामान्य परिचय गुण सिद्धान्त का ऐतिहासिक आकलन, अभिनवगुप्त और गुण, त्रिविध गुणों का स्वरूप विश्लेषण-माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणों का रसगत विभाजन, गुण और रस-एक समीक्षा।

(५) अलंकार-सामान्य परिचय, अलंकार एवं अलंकार्य, अलंकार धारणा का विकास, ध्वनि सम्प्रदाय और अलंकार, गुणालंकार विभाग अलंकार और अभिनवगुप्त, रसाभिव्यक्ति और अलंकार।

(६) संघटना-सामान्य परिचय, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संघटना, संघटना-भेदक तत्व, गुण और संघटना, संघटना के नियामक तत्व-वक्ता, वाच्य एवं विषय। संघटना और रीति, संघटना और वृत्ति, अभिनवगुप्त और संघटना।

(७) दोष-सामान्य परिचय, काव्यदोष-स्वरूप धारणा का विकास, रस दोष-विरोधी रस संबंधी विभावादि ग्रहण, सम्बद्ध भी किसी अन्य वस्तु का विस्तृत वर्णन, अनवसर

पृष्ठ संख्या

में रस विच्छेद, अनवसर में रस प्रकाशन, परिपुष्ट रस का पुनः पुनः दीपन, वृत्यनौचित्य, दोषों की नित्यता अनित्यता, काव्यत्व और दोष, रस विरोध का परिहार।

चतुर्थ अध्याय : प्रकीर्ण विषय १९३–२०६

(१) काव्य की विधायें
(२) कवि
(३) सहृदय
(४) चमत्कार।

पंचम अध्याय : उपसंहार २०७–२१३

(१) साहित्य शास्त्र को अभिनवगुप्त का योगदान

परिशिष्ट : २१५–२२०

(१) आचार्य अभिनवगुप्त की काव्यशास्त्रीय टीकायें – पद्धति और उद्देश्य।
(२) सन्दर्भ ग्रन्थ सूची।

संकेत सूची

अ० पु०	अग्निपुराण
अ० भा०	अभिनव भारती
का० अ०	काव्यालंकार
का० सू० वृ०	काव्यालंकार सूत्र वृत्ति
का० आ०	काव्यादर्श
का० प्र०	काव्यप्रकाश
का० मी०	काव्य मीमांसा
ग० ओ० सी०	गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज
ध्व०	ध्वन्यालोक
तन्त्रा०	तन्त्रालोक
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
सा० द०	साहित्य दर्पण
हि० अ० भा०	हिन्दी अभिनव भारती।

———

प्रथम अध्याय

(१) जीवन वृत्त---व्यक्तित्व

(२) कृतित्व

अभिनवगुप्त—एक परिचय

समय की शिला पर कृतित्व का अमिट अभिलेख अंकित कर सदा के लिये अमर हो जाने वाली विभूतियों में उल्लेखनीय हैं अभिनवगुप्त। उद्भव और विलय की धुरी पर घूमती इस सृष्टि में मृत्युंजयी तो कोई नहीं होता पर कालजयी अवश्य होते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त भी कालजयी वर्ग की विभूति हैं। साहित्य, दर्शन, तंत्र आदि अनेक क्षेत्रों को इनकी प्रखर प्रतिभा का पारस स्पर्श प्राप्त हुआ है। कृतित्व व्यक्ति का प्रतिफलित व्यक्तित्व होता है और व्यक्तित्व आनुवंशिक क्षमताओं वातावरण एवं बाह्य परिवेश से निर्मित होता है। परिवार गुरुपरम्परा, परिस्थिति एवं बाह्य प्रभाव इसके संरचनात्मक अवयव होते हैं। भारत के मनीषी साहित्यकार अपने जीवन परिचय की ओर से सामान्यतः उदासीन अपने प्रति मौन ही रहे हैं किन्तु अभिनवगुप्त इस दिशा में कालिदास, भास आदि की तुलना में अवश्य अभिनव हैं। उन्होंने मौनव्रत का पालन न कर अपनी रचना 'तंत्रलोक' एवं पर-त्रिंशिका विवरण में जन्म, परिस्थिति एवं प्रभाव पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है साथ ही उनकी अन्य कृतियों में भी यत्र तत्र जीवन सम्बन्धी कुछ सूत्र अवश्य मिल जाते हैं। व्यक्तित्व एवं कृतित्व में कुछ ऐसा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है कि एक का ज्ञान दूसरे के बिना अपूर्ण रह जाता है। अतः कृतित्व की विवेचना से पूर्व अभिनवगुप्त के जीवन से परिचित होना आवश्यक है। इसलिये भी आवश्यकता है क्योंकि इस एक नाम से ही अनेक व्यक्तियों का उल्लेख विवादास्पद ढंग से मिलता है। प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक 'आनन्दवर्धन' में अभिनवगुप्त नाम से चार विभिन्न विभूतियों का अस्तित्व घोषित करते हैं। एक को कामरूप (आसाम) का निवासी बताया है और तीन को कश्मीर से सम्बन्धित किया है।[1] किन्तु के० सी० पाण्डे अपने ग्रंथ अभिनवगुप्त में दो विभूतियों के अस्तित्व को ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इस पुस्तक के विवेच्य अभिनव गुप्त का उल्लेख माधव कृत शंकर दिग्विजय में मिलता है।[2] इस कृति के अनुसार कामरूप के अभिनवगुप्त शाक्त थे और शाक्त भाष्य के रचयिता थे। शंकराचार्य

१—द्रष्टव्य—आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी कृत—'आनन्दवर्धन' पृ० ६३।

२—तदन्तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स चं भग्नोमनसेदभालुलोचे ॥
—(शंकर दिग्विजय १५-१५८)
स च भग्नोऽभिनवगुप्ताचार्यो मनसा इदं वक्ष्यमाणं विचारयामास।
—वही।

से इनका शास्त्रार्थ हुआ था और पराजित होने पर यह विजेता के अनुयायी हो गये थे। वस्तुतः कामरूप एवं कश्मीर के अभिनवगुप्त में केवल भौगोलिक दूरी ही नहीं लगभग दो शताब्दियों का भी अन्तर है। कामरूप के अभिनवगुप्त यदि शंकराचार्य के समकालीन थे तो उनका काल आठवीं शताब्दी का अन्त एवं नवीं शताब्दी का आरम्भ ही सिद्ध होता है, जबकि विवेच्य अभिनवगुप्त का समय अन्तः साक्ष्य (क्रम स्तोत्र, भैरव स्तोत्र तथा ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी) के आधार पर दसवीं शताब्दी का द्वितीयार्ध सिद्ध होता है। अपनी रचना 'क्रमस्तोत्र' के रचना काल पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है—

'षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽह्नि ।
मयाभिनव गुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः ॥'

अर्थात् सम्वत् ६६ में मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी को मुझ अभिनवगुप्त द्वारा (इस क्रम स्तोत्र के रूप में) शिव की स्तुति की गई। इसी प्रकार भैरवस्तोत्र के अन्त में उसके रचना काल का निर्देश देते हुए कहा है—

'वसुरस पौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवभिममकरोत्'

अर्थात् सम्वत् ६८ के पौष मास के कृष्ण दशमी को अभिनवगुप्त ने इस भैरव स्तोत्र की रचना की। अपनी 'कृति विवृति विमर्शिनी' में अभिनवगुप्त ने रचना काल का निर्देश निम्न प्रकार से किया है—

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे,
तिथि शशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ।
जगति विहित बोधां ईश्वर प्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः ॥

अर्थात आचार्य शम्भुपाद की प्रेरणा से जगत् को पूर्ण बोध प्रदान करने वाली सारी ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की ४११५ सम्वत्सर बीत जाने पर ९० सम्वत्सर में मार्गशीर्ष के अन्त में सम्पूर्ण व्याख्या की।[१] ईस्वी सन् के अनुसार इस कृति का रचना काल १०१४ ई० ज्ञात होता है अर्थात् विवृति विमर्शिनी की रचना ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई।

अभिनवगुप्त ने जिन तीन ग्रंथों का रचना-काल दिया है उसके आधार पर उनके जन्म, काल और आयु का अनुमान लगाते हुए डा० नगेन्द्र की सम्पादित पुस्तक हिन्दी अभिनव भारती में आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि लिखते हैं कि क्रमस्तोत्र की रचना के समय हम अभिनवगुप्त की आयु यदि ४० वर्ष की मान लें तो इसका अर्थ यह हुआ कि उनका जन्म काल ९७० ई० बैठता है और बृहती विमर्शिनी के बाद १०-११ वर्ष बाद तक उनका जीवन काल १०२५ तक मान

१—बृहती विमर्शिनी पुष्पिका ।

लेने से उनकी ७५ वर्ष की अवस्था होती है। इस ७५ वर्ष के जीवन काल में लगभग ४० वर्ष का काल उनके साहित्यिक रचना कार्य का काल माना जा सकता है। इस ४० वर्ष की साहित्यिक रचना काल में अभिनवगुप्त ने सब मिलाकर ४० ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अपने लेखों के आधार पर उनका काल ९५० ई० से लेकर १०२५ ई० तक निश्चित-प्राय है।[1]

अभिनवगुप्त के पूर्वज :

आचार्य अभिनवगुप्त के दो सौ वर्ष पूर्ववर्ती प्रथम विभूति का नाम अत्रिगुप्त था। अन्तर्वेदी के नाम से विख्यात गंगा और यमुना की मध्यग भूमि के ये मूल निवासी थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह क्षेत्र कन्नौज के राजा यशोवर्मन् (७३०-७४० ई०) का शासन क्षेत्र था। अत्रिगुप्त परम प्रतिभावान् एवं सर्वशास्त्र विद् थे। इनकी प्रतिभा का प्रशस्तिगान करते हुए अभिनवगुप्त ने स्वयं लिखा है—

'निःशेषशास्त्रसदनंकिलमध्यदेशः,
तस्मिन्नजायतः गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः।
शास्त्राब्धि चर्वण कलोधदगस्त्यगोत्रः ॥ ३८

(तन्त्रालोक ३८ आह्निक)

परम विद्या प्रेमी कश्मीर के राजा ललितादित्य, अत्रिगुप्त की प्रतिभा पर मुग्ध होकर उन्हें अपने राज्य का विभूषण बनाने का मोह सम्वरण न कर सके। फलतः अभिनवगुप्त के पूर्वज कश्मीर निवासी बने—

तमथ ललितादित्यो राजा निजं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् कश्मीराख्यां हिमालयमूर्धगम् ॥ ३९

(तन्त्रालोक ३७ आह्निक)

अत्रिगुप्त को ससम्मान कश्मीर ले जाने के बाद वहाँ राजा ललितादित्य ने उनके लिये क्या व्यवस्था की इसका भी वर्णन अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में किया है—

तस्मिन् कुबेरपुर चारु सितांशुमौलि-
साम्मुख्यदर्शन विरूढपवित्र भावे
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे
राजा द्विजस्य परिकल्पित भूरि सम्पत् ॥ ५२

(तन्त्रालोक ३७ आह्निक)

अतः स्पष्टतः आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने वंश की सुभव्य आधार शिला के रूप में अत्रिगुप्त के इतिहास को स्थापित किया है। निःसन्देह अत्रिगुप्त वंश की प्रत्यक्ष

१—हिन्दी अभिनव भारती—डा० नगेन्द्र, पृ० २२।

परम्परा सूत्र से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व के पूर्वज थे। यदि हम अत्रिगुप्त के इतिहास को आचार्य अभिनवगुप्त की वंश परम्परा का चित्रफलक कहें तो अनुचित न होगा।

आचार्य अभिनव ने अत्रिगुप्त के उपरान्त सीधे अपने पितामह वराह गुप्त से वंश बेलि के सूत्र का समारम्भ किया है। इस सन्दर्भ में उनका स्वरचित श्लोक द्रष्टव्य है—

तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्त
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले
गीर्वाणसिन्धुलहरी कलिताग्रमूर्धा-
यस्या करोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ॥
(तन्त्रालोक ५३ आह्निक ३७)

इस श्लोक में पितामह का ऐश्वर्य पूर्ण अंकन है। पिता नरसिंहगुप्त पितृव्य वामनगुप्त एवं पितृव्य पुत्रों का भी समुचित उल्लेख अभिनव ने किया है। सर्व शास्त्रज्ञ और परम शिव भक्त पिता नरसिंह गुप्त का सर्वविश्रुत नाम चुलुखक[1] था इसका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—

तस्यात्मजः चुलुखकेतिजनैप्रसिद्धः
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जन शुभ्र चित्तं
माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः ॥
(तन्त्रालोक ५४, आह्निक ३७)

इसके अतिरिक्त वामन गुप्त नाम से सम्बोध्य अपने पितृव्य का उल्लेख अभिनव भारती में किया है जिससे वामनगुप्त का कवि रूप प्रकाशित होता है।[2] अपने पितृव्य पुत्रों के नामोल्लेख की ओर से भी आचार्य मौन नहीं रहे हैं। एक श्लोक में उन्होंने क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रकगुप्त और पद्मगुप्त इन पाँच भ्राताओं का उल्लेख कर उनके परम त्यागी रूप पर प्रकाश डाला है। शिव भक्ति के लिये तृणवत माया को त्याग देने की क्षमता उनके पितृव्य पुत्रों में थी—

अन्ये पितृव्यतनयाः शिवभक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः[3]।
ते सम्पदं तृणममंसत शम्भुसेवासंपूरितंस्वहृदयं हृदि भावन्यतः ॥

१—कहीं-कहीं चुलुखक के स्थान पर चुखल नाम भी उपलब्ध होता है।

२—तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य
लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
सम्मन्यते यदि किमत्र वदाम नाम
यत्वत्र हासमुखरस्तत्वममुष्यतेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥—अभिनवभारती, पृ० २९७।

३—तन्त्रालोक—१२, पृ० ४१७।

इनके पिता नरसिंह गुप्त परम बुद्धिशाली शास्त्रज्ञ तथा उल्लेखनीय शिव भक्त थे। माता विमला कला[१] धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं इनका दाम्पत्य जीवन परम सुखी था। भोग-विलास के आकर्षण से अधिक इनकी दृष्टि शास्त्र विहित सद् गृहस्थचर्या पर केन्द्रित थी। स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त का आनुवंशिक परिवेश धार्मिक होने के साथ-साथ विद्वतापरक भी था।

अभिनवगुप्त ने अपने उपरोक्त परिचितों के अतिरिक्त कश्मीर नरेश यशस्कर के ब्राह्मण मन्त्री वल्लभ उनके पुत्र शौर उनके पुत्र कर्ण, कर्ण के मित्र मन्द्र, कर्ण की पत्नी अम्बा, कर्ण के पुत्र योगेश्वरदत्त, अम्बा के भाई अभिनव और लुम्पक तथा मन्द्र की सम्बन्धिनी वत्सला अथवा वत्सलिका का स्मरण भी अपने तन्त्रालोक में स्नेहपूर्वक किया है। आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि यह सम्भवतः इनका मातृ वंश था।[२]

मालिनी विजयवार्तिक में अभिनव ने भद्र और कर्ण का उल्लेख सत् शिष्य कहकर किया है।[३] तन्त्रालोक में बताया है कि इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने

१—रेवा प्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक आनन्दवर्धन में अभिनव की माता का नाम दुस्सला लिखते हैं—द्र० पृ० ६६।

द्विवेदी जी का यह अनुमान अभिनव भारती के दसवें अध्याय के अन्तिम मंगल पद्य पर आधारित है जहाँ अभिनव ने अपने को दुखलात्मजः कहा है वह श्लोक है—

इत्थं दशममध्यायं व्याचष्टे च समासतः
शिवस्मृति कृतार्थोऽपि परार्थं दुखलात्मजः॥

सर्वप्रथम तो यहाँ 'दुखला' नाम ही कुछ औचित्य युक्त नहीं लगता क्योंकि अपनी प्राचीन भारतीय परम्परा सार्थक नाम में विश्वास रखती हैं जो शिव तथा सुन्दर भी हो। इस दृष्टि से भी 'दुखला' नाम कुछ युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता—

दूसरा सन्देहास्पद तत्व है दुखला के साथ आत्मज शब्द का प्रयोग। आत्मा वैजायते पुत्र इति श्रुति तथा भर्तुः पुत्रं विजानन्ति आदि के अनुसार आत्मज का सार्थक प्रयोग पिता के नाम के साथ ही होता है। अतः यदि इस दुखलात्मजः पाठ को चुलुखात्मज माना जाय तो मेरी दृष्टि से यह प्रयोग अधिक सार्थक सिद्ध हो सकेगा।

२—आनन्दवर्धन : रेवा प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६६।

३—सच्छिष्य कर्णमन्द्राभ्यां चोदितोऽहं पुनः पुनः।
वाक्यार्थं कथये श्रीमन्मालिन्यांयत् क्वचित् क्वचित्॥२॥
मालिनी विजयवार्तिक।

वत्सलिका के घर में रहकर की ।[१] अतः सम्भव है कि ये लोक अभिनव के सम्बन्धी रहे हों।

आचार्य अभिनवगुप्त—नाम और किंवदन्तियां :

अभिनवगुप्तपादाचार्य के नाम के सन्दर्भ में पूर्वाचार्यों का अनुमान है कि अभिनवगुप्त पाद नाम सम्भवतः उनके माता पिता द्वारा प्रदत्त नाम नहीं था। बाल्यावस्था में ही जब उन्होंने अध्ययन आरम्भ किया तब से ही उनकी असाधारण प्रतिभा के चिह्न स्पष्ट हो गये थे। अपनी प्रगाढ़ बौद्धिक सम्पन्नता के कारण वे अपने सहपाठियों के लिये किसी भुजंग के समान ही त्रासदायक हो उठे थे। उनके अपवादात्मक बुद्धि वैभव से प्रभावित अध्यापकों ने उनका नाम 'अभिनवगुप्तपाद' रख दिया। इस तथ्य का उल्लेख काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य ने अपनी बालबोधिनी में इस प्रकार किया है—

इदमत्र रहस्यं, पुरा किल क्वचिद्वलभो पठतां बहूनां ब्राह्मणबालकानामध्ययन-शालासीत्। तत्र पठन् कश्चिद् गोडबालोऽति सौबुद्धयान्मुखरत्वाच्च निखिलबालानां भयप्रदत्वे न बालबलभीभुजङ्ग इति गुरुणा व्यपदिष्टः। स चाचार्यतामु पगतः इति सकल रहस्यभिज्ञः श्री वाग्देवतावतारो (मम्मट) गूढं तन्नाम 'अभिनवगोपानसीगुप्तपाद' इति वेदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति।[२]

वामनाचार्य के इस आख्यान की सत्यता कहाँ तक प्रमाणित हो सकती है नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभिनव (जो कश्मीर निवासी थे) के लिए 'गोड़ बाल' पद का प्रयोग सन्देहास्पद है वस्तुतः सत्य जो कुछ भी हो सार मात्र इतना ही है कि 'अभिनवगुप्तपाद' नाम गुरुप्रदत्त था उनका अपना राशि नाम नहीं। इस तथ्य की (पुष्टि स्वयं अभिनव गुप्त के कथन से होती है जहाँ वे कहते हैं कि यह उस अभिनवगुप्त की कृति है जिसका यह नाम गुरुओं ने रखा।[३]

जहाँ तक किंवदन्तियों का प्रश्न है वे सब सम्भावनायें ही हैं और सम्भावनायें सिद्धि का हेतु नहीं होती। यदि सम्भावना ही करना हो तो यह भी कह सकते हैं कि गुप्त ज्ञान को प्रकाशित कर अभिनव रूप में प्रस्तुत करने वाला ही अभिनवगुप्त है।

सामान्यतः देखा गया है कि जहाँ असाधारण प्रतिभा होती है वहाँ साथ ही विस्मयकारक कथायें उससे जुड़ जाती हैं संभवतः जिनका उद्देश्य उस प्रतिभा विशेष को असाधारणता एवं भास्वरता प्रदान करना ही होता है, अभिनव भी उसके अपवाद नहीं हैं।

१—इत्थं गृहे वत्सलिकावतीर्ण स तन्निबन्धंविदधे महार्थम।
—तन्त्रालोक ८२, आह्निक ३:।४२५ पृ०

२—बाल बोधिनी टीका, पृ० ९५।

३—अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्याः। तन्त्रालोक १-१५०

अभिनवगुप्त—जीवन वृत्त :

परम विद्वानपिता नरसिंहगुप्त एवं स्नेह शीला जननी विमलाकला को प्राप्त करके भी अभिनवगुप्त का भाग्य उन्हें शैशव काल के वो समस्त सुख न प्रदान कर सका जो एक साधारण शिशु को प्राप्त होते हैं। इसका मुख्य कारण था घर को ममता का आगार बनाने वाली माँ का असमय वियोग विधाता ने सब कुछ देकर भी शिशु काल की परम निधि माँ को छीन लिया। अल्पायु में ही ममता का नीड़ उजड़ गया।[१] स्नेह से प्रतिपल पुत्र के जीवन को उर्वर बनाने वाली माँ की ममता अभिनव गुप्त के हृदय को मरुस्थल बना गई। यद्यपि कि गुरु के समान ज्ञान देने वाले, पिता के योग्य वात्सल्य देने वाले उनके अपने पिता जीवित थे तथापि घर का आकर्षण उनके लिए निःशेष हो गया था। पिता का जो कुछ भी स्नेह बन्धन था उसे भी ध्वस्त करते भाग्य को देर नहीं लगी। पिता ने असमय में ही पत्नी के मृत्यु के उपरान्त सांसारिक विषय भोगो को तिलांजलि दे दी। विरागी साधक बन शिव चरणों में अर्पित हो गये। साधनामय पवित्र जीवन अंगीकार कर सच्चे शैव की भाँति सांसारिकता से पराङ्मुख हो आध्यात्मिकता में लीन हो गये।[२]

अल्पावस्था में ही अकस्मात घट जाने वाली इन दोनों घटनाओं ने अभिनवगुप्त के जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया। ममता का नीड़ उजड़ा ही नहीं ध्वस्त हो गया। मातृ-पितृ विहीन घर उनके लिए एक शब्द बन कर रह गया—अस्तित्वहीन। पिता का वैराग्य उस समय उनके भावुक मन को हिला गया जब वे साहित्य का अध्ययन कर रहे थे। संवेदनाओं को सजग करने वाला साहित्य अभिनव को झकझोर गया। उनके किशोर हृदय में पिता के वैराग्य का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे सांसारिकता से पराङ्मुख हो उठे और इसी परम वैराग्य भावना के बीच आजन्म अविवाहित रहने का संकल्प कर लिया। उनके इस संकल्प ने जीवन को एक नूतन मोड़ दिया। अब घर रह कर साहित्य अध्ययन सम्भव नहीं था। हृदय में परम साधनामय भक्ति की पवित्र अग्नि प्रज्वलित हो गयी थी। अपना गृह त्याग कर उन्होंने गुरु गृह गमन किया। हृदय में प्रज्वलित भक्ति की

१—माता व्ययूयुजदमुं किलबाल्यएव
देवोहि भावि परिकर्मणि संस्करोति ॥ ५६ तन्त्रालोक ३७ आह्निक पृ० ४१३।
माता परं बन्धुरिति प्रवाद :
स्नेहोऽति गाढ़ीकुरुते हि पाशान् ॥—तन्त्रालोक
तन्मूलबन्धं गलितेकिलास्य, मन्ये स्थिता जीवित एव मुक्तिः।
—५७ तन्त्रालोक, ३७ आह्निक।

२—तारुण्यसागरतरङ्गमरानपोह्य
वैराग्य पोतमधिरुह्य दृढं हठेन् ॥ ५५ तन्त्रालोक, ३७ आह्निक, पृ० ४१२।

शिखा को अखण्ड भाव से प्रज्वलित रखने के लिए शैव साधना सम्भूत आगमों के अध्ययन आराधना में लीन हो गये। शैव दर्शन और शैव साधना गत धार्मिक कृत्य अभिनवगुप्त के आकर्षण का केन्द्र बन गये और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है उनके द्वारा रचित तन्त्रालोक जो उनके ध्यान, दर्शन, अध्ययन, ज्ञान और साधना का अप्रतिम ज्वलन्त आधार है।

भाग्य और परिस्थितियों ने अभिनवगुप्त को जिस नूतन मोड़ पर लाकर खड़ा किया, जिस पथ से परिचित कराया निःसन्देह अभिनव उस पथ पर प्रज्ञा, साधना, संकल्प और का अध्ययन का पाथेय लेकर अग्रसर हुए और सिद्धि के चरम उत्कर्ष तक पहुँच कर दर्शन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों को अपने असाधारण अनुदान से अभिषिक्त कर गये इसमें कोई सन्देह नहीं।

माँ की मृत्यु ने ममता की जिस मन्दाकिनी को सुखा दिया था वह तरुणाई आने पर भी सूखी ही रही। प्रणय जन्य प्रीति की हिलोरें उसे स्पर्श न कर पायीं। अविवाहित रहने का संकल्प हृदय की ऐसी धधकती ज्वाला थी जिसने स्नेह सलिला को सुखा दिया। फिर भी प्रेम मनुष्य की ऐसी सहज आवश्यकता है कि उसकी तृषा उसकी बुभुक्षा मरुस्थल में भी सिर उठाये बिना नहीं रहती और सत्य तो यह है कि वैराग्य अनुराग के केन्द्र के बदल जाने का ही नाम है। सम्भवतः इसीलिए दर्शन से परे साहित्य की स्निग्ध छाया में अभिनव ने अपनी शिव भक्ति का उल्लेख कर आश्रय आलम्बन की अप्रत्यक्ष कल्पनाओं द्वारा श्रृंगारपरक माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर ही दी है। क्योंकि यह माधुर्य ही मानवीय अस्तित्व का मूलाधार है। उन्होंने लिखा है।

साहित्य सान्द्ररसभोगपरांमहेश—
भक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मद्या गृहीत:।
स तन्मयीभूय न लोक वर्तनी—
मजोगणत् कामपि केवलंपुनः॥
तदीय सम्भोग विवृद्धये पुरा
करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम्॥

५६ तन्त्रालोक, ३७ आह्निक, पृ० ४१४

अर्थात् अभिनव को साहित्य के रस भोग में लिप्त देख कर महेश भक्ति-रूपी नायिका उन्मत्त हो उठी और उसने अभिनवगुप्त का स्वयं ग्रहण किया। दुर्मद नायिका के स्वयं ग्रहण से अभिभूत अभिनव सब कुछ भुला बैठे एवं उसने नायिका के अधिकाधिक भोग के लिए गुरुओं के घरों पर दास्य कर्म भी स्वीकार किया। वैराग्य के अनुराग का इतना सरस चित्रण अभिनवगुप्त की लेखनी से ही सम्भव है।

प्रौढ़ावस्था आते-आते अभिनवगुप्त सिद्धियों से सम्पन्न हो उठे। बौद्धिक उपलब्धियों के साथ-साथ आध्यात्मिक पारमार्थिक उत्कर्ष उनकी महता निधि बन

गया। जीवन की सुकुमार कामनाओं से विमुक्त होकर उनकी कठोर साधना ने उन्हें सफलता के जिस बिन्दु पर खड़ा किया वह केवल शैव दर्शन, शैव साधना और भक्ति का ही बिन्दु नहीं था प्रत्युत् साहित्यिक सन्दर्भ में रस और ध्वनि का अनुपम बिन्दु भी था। जीवन के परिपक्व काल में उन्होंने साहित्य और दर्शन दोनों को ही जो कुछ दिया वह केवल कल्पना सम्भूत नहीं साधना सम्भूत था। आनुवंशिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति थी। योगिनी भू सन्तान की सिद्धियों का स्वरूप था। योग साधना से उपलब्ध स्वानुभूति का आलेख था जो आज भी शताब्दियों की सीमाओं को पार कर अक्षुण्ण और चिरस्थाई है। शैव दर्शन के क्रम त्रिक और कुल पद्धति त्रय पर उनका संधान अध्ययन और अभिव्यक्ति अवर्णनीय है। साहित्य की स्निग्धता से विरत होने पर अभिनवगुप्त के हृदय में जब शिव भक्ति का स्फुरण हुआ तो गुरु लक्ष्मणगुप्त ने ही सर्व प्रथम प्रत्यभिज्ञान के रहस्यमय स्वरूप को उनके सम्मुख अनावृत्त किया। इस प्रकार उनकी साधनामयी ज्ञान बुभुक्षा को शान्त किया उन्होंने ही सर्वप्रथम क्रम दर्शन से परिचित कराया। इस परिचय ने ही क्रमकेलि की रचना की प्रेरणा दी और शनैः-शनैः अभिनवगुप्त की लेखनी अनुभूत तथ्यों के आधार पर त्रिक और कुल के प्रणयन द्वारा आत्मशान्ति और आत्मतोष के बिन्दु पर पहुँचा गयी।

इस प्रकार ९५० से १०२५ तक उनके सम्पूर्ण जीवन की निर्मल स्रोतस्विनी आद्यन्त शैव भक्ति साधना एवं साहित्य साधना के दो तटों के बीच प्रवाहित होती रही। इस प्रवाह का अवरोध भी उनके जीवन के अनुरूप ही महान और सुन्दर हुआ। उनका अवसान काल विवादास्पद होते हुए भी निर्विवाद है। लोक कथा एवं किंवदन्ति का आश्रय लेकर कश्मीर में स्थिति मगम नामक स्थान की विश्रुत भैरव गुफा में समाधि ले लेना ही लगभग सर्वमान्य है। समाधि लेते समय बारह सौ शिष्यों द्वारा अनुगमन अवश्य ही विचारणी है क्योंकि एक गुरु का अपने बारह सौ शिष्यों के साथ एक साथ समाधि ले लेना लोकहित विधायक नहीं प्रतीत होता क्योंकि गुरु शिष्यों को एक विशिष्ट परम्परा के परिपालन के लिए ही दीक्षित करता है। शिष्य ही गुरु परम्परा के परिपोषक होते हैं। अतः आनन्दमूर्ति शिव के परम-उपासक अभिनव गुप्त से बारह सौ शिष्यों के साथ समाधि ले लेने की आशा दुराशा ही लगती है। किन्तु बहिःसाक्ष्य के रूप में स्थित भैरव गुफा एवं किंवदन्ति के रूप में प्रचलित कथा समाधि काल एवं स्थान की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालती है।

इतना तो असन्दिग्ध है कि अपनी असाधारण प्रतिभा, अलौकिक क्षमता, अप्रतिम कृतित्व एवं नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के कारण अभिनवगुप्त इस पृथ्वी पर शिव का अवतार ही थे। उनके द्वारा निरूपित तथ्य स्वानुभूत थे, अभिव्यञ्जना शैली में मौलिकता थी। उनकी जीवन दृष्टि मे नवीनता थी केवल नवीनता ही नहीं जनमन को आकर्षित करने की अद्वितीय क्षमता भी थी।

निष्कर्षतः आचार्य अभिनवगुप्त का जीवन साधना और संकल्प, तपश्चर्या और त्याग ज्ञान और वैराग्य का जीवन था। लौकिक परिवेश में भी अलौकिक

अनुभूति का जीवन था। अनित्य में भी नित्य के आविर्भाव की चेतना का जीवन था।

योगिनीभू: अभिनवगुप्त :

भारत आरम्भ से ही आध्यात्मिक देश रहा है। यहाँ जीवन की प्रत्येक एषणा की उपलब्धि का मार्ग धर्म में ही निर्दिष्ट किया गया है। राज्य वैभव, सत्ता, विद्या, सन्तति आदि सभी की प्राप्ति, धर्म पद्धति का पवित्रता एवं निष्ठा से पालन करने पर सुलभ मानी जाती रही है। सामान्यतः धार्मिक क्रियाओं का पालन करके लोग लौकिक तथा पारलौकिक मनोवाछंनाओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते थे संयम और नियम साथ ही अभिप्रेत के प्रति निरपेक्ष धार्मिक दृष्टि महत्त्व-पूर्ण होती थी। प्रतिभाशाली, शक्तिशाली एवं परम तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए शास्त्र विहित धार्मिक प्रक्रिया आरम्भ से प्रचलित रही है। शैव दर्शन में महान् तेजस्वी पुत्र की उपलब्धि के लिए स्त्री-पुरुष का, मिलन के क्षण में, शिव और शक्ति के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने का विधान है। शिव और शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुष द्वारा उत्पन्न की हुई सन्तति को शैव्य योगिनी भूः की संज्ञा देते हैं। योगिनी भू सन्तान के वैशिष्ट्य का उल्लेख करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है—

> रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्रनित्यंप्रतिष्ठितः ।
> सति तस्मिश्च चिह्नानि तस्यैतानिविलक्षयेत ॥
> तत्रैतत् प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्ति सुनिश्चला।
> द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात् सद्यः प्रत्ययकारिका ॥
> सर्वतत्त्वशिवत्वं च तृतीयं लक्षणं स्मृतम्।
> प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिन्हमाहुश्चतुर्थकम् ॥
> कवित्वं पंचमं ज्ञेयं सालंकारं मनोहरम्।
> सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्यजायते ॥
> (तन्त्रालोक टीका आह्निक ८·१३६)।

उपरोक्त श्लोक में वर्णित अनेकानेक गुणों से विभूषित सन्तान ही योगिनी भू कहलाने की अधिकारिणी है जो कि दुर्लभ है। किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत इस श्लोक को ही आधार बनाकर टीकाकार जयरथ ने स्वयं अभिनव को ही योगिनी भू सिद्ध किया है।[१]

---

१. समस्तं चेदं चिह्न जातमस्मिन्नेव ग्रन्थकारे प्रादुरभूदिति प्रसिद्धिः। यद्गुरवः

अकस्मात्सर्वशास्त्रार्थज्ञत्वाद्यं लक्षमपन्चकम्।
यस्मिन्दृष्टोपूर्वशास्त्रोक्तमदृश्यत जनैः स्फुटम् ॥ —तन्त्रा० टीका ८।१३७।

तन्त्रालोक में निरूपित लक्षणों के आधार पर जयरथ का उन्हें योगिनी भू सिद्ध करना संगत ही प्रतीत होता है। वस्तुतः एकनिष्ठ रुद्र भक्ति, मन्त्र सिद्ध समस्त तत्वों पर प्रभुत्व, इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने की क्षमता तथा समस्त शास्त्र नेतृत्व किसी एक सामान्य व्यक्ति में प्राप्त होने वाले गुण नहीं हैं। ये गुण तो एक असाधारण प्रज्ञा असाधारण शक्ति सम्पन्नता की माँग करते हैं और इस दृष्टि से इन गुणों से युक्त अभिनवगुप्त को सामान्य शिशु न मानकर योगिनी भू मानना असंगत नहीं है।

इसके अतिरिक्त साहित्य परम्परा में आचार्य अभिनवगुप्त की प्रतिष्ठा भैरव अवतार और शेषावतार के रूप में पायी जाती है। यह अवतारवादी धारणा भी अभिनवगुप्त के असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न होने की ठोस आधार शिला है। आचार्य अभिनवगुप्त की मनुष्येतर अद्वितीय क्षमता के अन्तः साक्ष्य के रूप में तन्त्रालोक का वह श्लोक उद्धृत करना अनुचित न होगा जहाँ वे स्वयं कहते हैं कि—गुरुओं से पूर्वश्रुत शास्त्र सारों का प्रत्याह्वान कर रचना कर रहा हूँ।[1] वस्तुतः समस्त शास्त्रों को स्वबुद्धारोपित कर रचना करना मनुष्येतर शक्ति सम्पन्न द्वारा ही सम्भव है। अतः आचार्य अभिनवगुप्त को योगिनी भू मानना ही न्याय संगत है।

व्यक्तित्व :

उपरोक्त अभिनवगुप्त के जीवन की यह झलक जिस भव्य एवं असाधारण व्यक्तित्व की प्रतिमा अनायास ही आँखों के सम्मुख निर्मित कर देती है उसमें एक अलौकिक भास्वरता है अतः गुण कथन के आधार पर वाह्य रूप दर्शन की जिज्ञासा स्वाभाविक है और सम्भवतः आचार्य अभिनवगुप्त के अध्येताओं के हृदय में उठने वाली जिज्ञासा के समाधान के लिए ही उनके शिष्य मधुराजयोगिन् ने अपनी रचना धन्य श्लोक में निम्नांकित श्लोक द्वारा अभिनवगुप्त का रूप चित्र अंकित किया है—

द्राक्षारामस्य मध्ये स्फटिकमणिमये मण्डपे चित्ररम्ये
पुष्पस्रग्धूपदीपैर्बहलपरिमले चर्चिते चन्दनाद्यैः।
वाद्यैर्गीत सनृत्यैः सततमुखरिते योगिनीसिद्धसंघै—
राकीर्णे स्वर्णपीठे मृदुतलिमतले बद्धमुक्तावितानेः ॥१॥

आसीनः क्षेमराज प्रभृतिभिरखिलैः सेवितः शिष्यवर्गैः
पादोपान्ते निषण्णैरवहित हृदयैरुक्तमुक्तं लिखद्भिः

१—इत्थं गृहे वत्सलिकावतीर्णे
स्थितः समाधाय मतिं बहूनि
पूर्वश्रुतान्याकलयन्स्वबुद्ध्या
शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम् ॥ —तन्त्रालोक १२।४२५।

द्वाभ्यां पार्श्वस्थिताभ्यां शिवरस करकं पूर्णताम्बूलपेटीं
दूतीभ्यां बिभृतीभ्यामपरकरलसन्मातुलिङ्गोत्पलाभ्याम् ॥२॥
आनन्दान्दोलिताक्षः स्फुटकृत तिलको भस्मना भालमध्ये
रुद्राक्षोल्लासिकर्णः कलिकचभरोमालया लम्बकूर्चः
रक्ताङ्गो यक्षपङ्कोल्लसदसितगलोलम्बमुक्तोपवीतः
क्षौमं वासो वसानः शशिकर धवलं वीरयोगासनस्थः ॥३॥
जान्वासक्तैकहस्तः स्फुटपरमशिवज्ञानमुद्राक्षसूत्रो
वामश्रीपाणिपद्मस्फुरितं नखमुखैर्वादियत्रादवीणाम्
श्रीकण्ठेशावतारः परमकरुणया प्राप्त काश्मीरदेशः
श्रीमात्रः पातु साक्षादभिनववपुषा दक्षिणामूर्ति देवः ॥४॥

अर्थात् श्री कण्ठावतार, दक्षिणामूर्ति रूप अभिनवगुप्त के रूप में सशरीर ही करुणाभिभूत हो मानो हमारी रक्षार्थ ही कश्मीर देश को प्राप्त हुए हैं। उनके नेत्र उस परमतत्त्व को साक्षात्कारात्मक आनन्द से परिपूर्ण हैं। भाल का मध्यभाग भस्म के त्रिपुण्ड से चिन्हित है कानों में रुद्राक्ष सुशोभित हो रहा है। प्रचुर केश राशि पुष्पमाला से आबद्ध है। लम्बी कूर्चा व्यक्तित्व को भव्य बना रही है। शरीर की गुलाबी आभा के मध्य केसर कर्पूर अगरु के लेप से चित्रित कंठ श्यामल कान्ति बिखेर रहा है। यज्ञोपवीत से युक्त उनका शरीर अपूर्व शोभा को प्राप्त कर रहा है। उन्होंने चन्द्र किरणों के समान धवल चीनांशुक धारण किया हुआ है और वे वीरासन की मुद्रा में द्राक्ष उपवन में मुक्तावितानों से बद्ध मणिमय मण्डप के नीचे स्वर्ण पीठ वाले मृदु आसन पर आसीन हैं। उनका वह स्थान पुष्पमाला, धूप, दीप, चन्दन के परिमल से परिव्याप्त रम्य चित्रों से चित्रित है। वहां नृत्य गीत वाद्य का सतत् प्रवाह प्रवाहित है। योगी साधक साधिकाओं के समूह से युक्त वे अपने शिष्य वर्ग से सेवित हैं। क्षेमराज प्रभृति शिष्य, उनके चरणाब्जों में स्थित हो, उनकी विचार मुक्ताओं को लिपिबद्ध कर रहे हैं। दो दूतियां जल कलश और ताम्बूल लिये उपस्थित हैं। उनका रुद्राक्ष सज्जित दाहिना हाथ तत्व मुद्रा में जानु पर स्थित है कमल समान वाम हस्त के नख से वे नादवीणा का वादन कर रहे हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य मधुराज योगिन् द्वारा निरूपित अभिनव का यह रूप चित्र इतना सम्पन्न और परिपूर्ण है कि श्लोक पाठ के साथ ही एक सम्पूर्ण चित्र पाठक के हृदय पटल पर आकार लेने लगता है। परमतत्वज्ञ योगी साधक संगीतज्ञ अभिनवगुप्त का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इन चार श्लोकों में रुपान्वित हो उठा है। डा० के० सी० पाण्डेय ने इन्हीं श्लोकों के आधार पर अभिनवगुप्त के चित्र का निर्माण कराया है।[१]

१—अभिनवगुप्त—डॉ० के० सी० पाण्डेय, पृ० २१।

आचार्य अभिनवगुप्त एवं उनके गुरुजन :

बाह्य स्वरूप तो विधाता का विधान होता है किन्तु आन्तरिक स्वरूप का निर्माण गुरु द्वारा ही होता है। स्वर्णकार की भांति ही गुरु, ज्ञान और अनुभव के, साधना और तपश्चर्या के, हल्के-हल्के आघात देकर अनगढ़ स्वर्ण पिण्ड को अलंकार और आभूषण बना देता है। अभिनवगुप्त में जीवन और जगत् के रहस्यों के प्रति एक जिज्ञासा थी ये जिज्ञासा एक ऐसी अविकल पिपासा थी जिसकी तृप्ति के लिये उन्हें एक नहीं अनेक गुरुओं की चरण छाया लेनी पड़ी। उनकी बहुमुखी प्रतिभा उन्हें विभिन्न विषयों के अध्ययन के लिए प्रेरित करती रही।[१] उन्होंने प्रत्येक विषय का अध्ययन उस विषय के आधिकारिक विद्वान के चरणों में बैठकर किया। इस कथन के अन्तः साक्ष्य के रूप में लोचन का वह श्लोक उद्धृत किया जा सकता है जहाँ वे स्पष्ट कहते हैं कि इन्दुराज द्वारा उनकी बुद्धि का एक अंश संस्कृत हुआ है।[२] उनकी यह ज्ञान पिपासा सम्भवतः विद्या वैभव सम्पन्न काश्मीर में रहकर शान्त न हो सकी। यद्यपि काश्मीर की घाटी से निकल और कितने स्थानों का भ्रमण किया और कितने ज्ञान स्रोतों का आश्रय लिया नहीं कहा जा सकता तथापि इतना तो उल्लेख असन्दिग्ध रूप से प्राप्त है कि वे जालन्धर गये और वहाँ गुरु शम्भु नाथ से कौलिक साहित्य का अध्ययन किया।[३]

उनके अध्ययनानुराग से अभिभूत गुरु मुक्त हृदय से उन्हें दीक्षित करते थे।[४] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अपने गुरुजनों का सम्मान करते हुए बड़ी श्रद्धा से उनका उल्लेख अपनी कृतियों में किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने विषय के नामोल्लेख के के साथ जिन गुरुजनों का स्मरण किया है उनके नाम इस प्रकार है—

१—अहमप्यत एवाधः शास्त्रदृष्टिकुतूहलात्
नास्तिकार्हत बौद्धादीनुपाध्यायानसेविषम् ॥

—तन्त्रालोक ८/२०६।

२—श्री सिद्धचेलचरणाब्जपरागपूतभट्टेन्दुराजमतिसंस्कृत बुद्धिलेशः।

—ध्वन्यालोक च० उ० लोचन, पृ० ५५५।

३ कश्चिद् दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान् विभुर्भैरवः
पन्चस्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च यः।
तस्माभूत्सुमतिस्ततः समुद्भूतस्यैव शिष्याग्रणी।
श्रीमान्छम्भुरिति प्रसिद्धमगमजजालन्धरात्पीठतः ॥

—तन्त्रालोक टीका १, २३६।

४—एते सेवा रसविरचितानुग्रहाः शास्त्रसारम्।
प्रौढादेशप्रकटसुभगं स्वाधिकारं किलास्मै ॥
यत्संप्रादुः••• •••••••   —तन्त्रालोक आ० ३७, पृ० ४१५।

(१) **आचार्य नरसिंहगुप्त**—ये अभिनवगुप्त के पिता थे। इनका विश्रुत नाम चुलुखक था। इनके चरणों में बैठकर अभिनवगुप्त ने व्याकरण की शिक्षा प्राप्त की थी।[१] व्याकरण की समस्त जटिलतायें अभिनव के सम्मुख विशद् और स्फीत थी।

(२) **वामनाथ**—ये एरक के पुत्र थे। इनसे अभिनव गुप्त ने द्वैताद्वैत की शिक्षा ली थी। अपने ग्रंथ तन्त्रालोक में अभिनव ने इनका स्मरण किया है।[२]

(३) **भूति राज**—यह अभिनव के महत्वपूर्ण अध्यापकों में से थे। इनके चरणों में अभिनव ने द्वैतवादी शैवागमों का अध्ययन तो किया ही ब्रह्मविद्या[३] एवं क्रम दर्शन की भी शिक्षा ली।[४] अभिनवगुप्त अपने इन गुरु का सम्मान अपने पिता चलुरवक से भी अधिक करते थे।[५] इन्हे वे शिव का अवतार ही मानते थे।

(४) **भूतिराज तनय**—ये अभिनव के द्वैतवादी शैव सम्प्रदाय के गुरू थे। सम्भवतः इनका नाम हेलराज था क्योंकि मर्तृहरि के वाक्यपदीय के टीकाकार हेलराज ने 'भूतिराज तनय हेलराजकृत……………का उल्लेख अनेकशः किया है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रलोक में इनका स्मरण किया है।[६]

१—पित्रा स शब्दगहने कृत सम्प्रवेशः। —वही ३७, पृ० ४१३।

२—आमदर्संन्ततिमहार्णवकर्णधारः सद्दैशिकैरकवरात्मजवामनाथः।
—तन्त्रालोक ३७/४१४।

३—अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्य प्रत्ययदायिनी
शिवः श्री भूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यभादयत्।
सर्वेषामेवभूतानां मरणे समुपस्थिते
यथा पठितयोत्क्रम्य जीवो याति निरन्जनम्॥ —तन्त्रालोक १२/१९६।

४—अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः प्रत्ययदायिनी
शिवः श्री भूतिराजो यामस्यभ्यं प्रत्यपादयत्॥
एतद्विद्यात्रयं श्रीमद्भूतिराजो न्यरुपयत्
यः साक्षादभजच्छ्री मान्छ्रीकण्ठोमानुषीं तनुम्॥
—वही, ३/१९४।

५—गुरुभ्योऽपि गरीयांसंयुक्तं श्री चुरवलाभिधम्।
वन्दे यत्कृतसंस्कारः स्थितोऽस्मि गलित ग्रहः॥
तवो गुरुतरः श्रीमान्भूतिराजो महामतिः
जयताद्भक्तजनतासमुद्धरणसाहसः॥ —मालिनी विजयवार्तिक १।

६—श्रीनाथसंततिमहाम्बर धर्म कान्तिः।
श्री भूतिराज तनयः स्वपितृ प्रसादः॥ ६० तन्त्रालोक ३७/४१४।

(५) **लक्ष्मणगुप्त**—इन्होंने अभिनवगुप्त को प्रत्यभिज्ञा क्रम तथ त्रिक दर्शं की शिक्षा दी थी। ये उत्पल देव के शिष्य और पुत्र दोनों थे।[१]
आचार्य लक्ष्मण गुप्त के किसी भी ग्रंथ की उपलब्धि आज तक नहीं हुई है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञान विवृति विमर्शिनी में अभिनवगुप्त ने 'श्रीशास्त्रकृत' के रूप में इनका उल्लेख किया है।[२]

(६) **इन्दुराज**—ये अभिनव के ध्वनि सिद्धान्त के गुरु थे। ध्वन्यालोक की लोचन टीका के आरम्भ में ही अभिनव ने अतिश्रद्धान्वित हो इनका स्मरण किया हैं।[३] सम्भवतः ये हेलराज के भाई और भूतिराज के पुत्र थे। यद्यपि भूतिराज तनय होने का उल्लेख इन्होंने कहीं नहीं किया है तथापि अभिनवकृत भगवद्गीता की टीका में उल्लिखित एक श्लोक इस तथ्य को प्रकाशित करता है।

(७) **भट्टतौत**—इन्होंने अभिनव को नाट्यशास्त्र की शिक्षा दी थी। अभिनव ने नाट्यशास्त्र के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि भट्टतौत की नाट्यशास्त्रीय व्याख्या को अर्थिजनों के लिए संक्षिप्त-वृत्ति के रूप में लिपिबद्ध किया है।[४] इसके अतिरिक्त भी अनेकानेक स्थलों पर यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन आदि के द्वारा इनका स्मरण किया है और इनके मत का उल्लेख किया।[५] अभिनव के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इन्होंने काव्यकौतुक नामक ग्रंथ की रचना की जिस पर अभिनव ने विवरण नाम से टीका लिखी।[६]

१—त्रैयम्बकप्रसरसागर शायि सोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मण गुप्त नाथः ॥
—तन्त्रालोक ३७/४१४।

२—श्री शास्त्रकृद्घटितलक्ष्मणगुप्तपादसत्यौ रदर्शितशिवाद्वयवादहृप्तः।
वाल्यूम III ४०६—ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी।

३—भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपादाभिधोऽहम्।
यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुट्यामिकाव्यालोकं स्वलोचननियोजनयाजनस्य॥
—लोचन—प्र० उ०।

४—सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेद—
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धि हेतोः।
माहेश्वरभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठा
संक्षिप्त वृत्ति विधिना विशदी करोति॥ १४॥ अभिनवभारती।

५—यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—स्वान्तत्रयेण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः इति।
—अभि० भा० ३१०।

यदुक्तमस्मदुपाध्याय—भट्टतौतेन—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवः ततः इति। —ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २९।

६—मोक्षफलत्वेनचायं परमपुरुषार्थनिष्ठितत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतर कृत निर्णयः पूर्वपक्ष सिद्धान्तइत्यलं बहुना। —ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १७८।

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अन्य १३ और गुरुओं की भी शरण ली जिसका उल्लेख उन्होंने किया है परन्तु इस उल्लेख में इस तथ्य का अभाव है कि इनमें से किस विशिष्ट आचार्य से किस विशिष्ट विषय का ज्ञान प्राप्त किया। तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त ने इन सभी विद्वानों का नामोल्लेख किया है। उद्धृत विद्वानों के नाम इस प्रकार है—

(१) श्रीचन्द (२) भक्तिविलास
(३) योगानन्द (४) चन्द्रवर
(५) अभिनन्द (६) शिव भक्त
(७) विचित्रनाथ (८) धर्मानन्द
(९) शिव (१०) वामन
(११) उद्भट (१२) भूतीश
(१३) भास्कर

कृतित्व

अभिनवगुप्तपादाचार्य का कृतित्व उनके विराट व्यक्तित्व का जीवन्त अभिलेख है। आचार्य जैसा योगिनी भू व्यक्तित्व प्रतिपल रचनात्मक रहा है। साहित्यिक सिद्धान्त की सरस्वती और दर्शन की दीप्तिमती ह्लादिनी धारा चिरन्तन प्रवहमान रही है। आचार्य अभिनवगुप्त का कृतित्व जहाँ एक ओर अभिनव साहित्य सिद्धान्तों से ज्योतित है वहीं दूसरी ओर दर्शन की गरिमा से मंडित भी है। आचार्य ने अपनी ७५ वर्ष की आयु में ४४ ग्रन्थों का प्रणयन किया। यह संख्या उपलब्ध कृतियों तथा अनुमान और प्राप्त उल्लेखों पर आधृत है। किन्तु बहुत सम्भव है कि उनकी कुछ कृतियां काल के गहन तम से आच्छादित ही रह गयी हों।

यद्यपि आचार्य के साहित्य सिद्धान्त ही समीक्षा का विषय हैं फिर भी उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के पूर्णाङ्ग आकलन के लिए आवश्यक है कि उनकी समस्त रचनाओं का वर्गीकरण एवं प्रतिपाद्य निरूपण किया जाय।

अभिनवगुप्ताचार्य कृत रचनाओं की सूची निम्नांकित है—

(१) बोध पंचदशिका (२) मालिनी विजयवार्तिक
(२) परात्रिंशिका विवृत्ति (४) तन्त्रालोक
(५) तन्त्रसार (६) तन्त्रवटधानिका
(७) ध्वन्यालोक लोचन (८) अभिनव भारती
(९) भगवद्गीतार्थ संग्रह (१०) परमार्थ सार

१ – श्रीचन्दशर्मभवभक्तिविलासयोगानन्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्र नाथाः।
अन्येऽपि धर्मशिववामन कोद्भट श्री भूतेश भास्करमुखप्रमुखा महान्तः॥
—६२ तन्त्रालोक ३७।४१५।

(११) ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी
(१२) ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
(१३) पर्यन्त पंचाशिका
(१४) घटकर्परकुलक विवृति
(१५) क्रम स्तोत्र
(१६) देहस्थदेवता चक्र स्तोत्र
(१७) भैरव स्तोत्र
(१८) परमार्थ द्वादशिका
(१९) परमार्थ चर्चा
(२०) महोपदेशविंशतिका
(२१) अनुत्तराष्टिका
(२२) अनुभव निवेदन
(२३) रहस्य पंचदशिका
(२४) तन्त्रोच्चय
(२५) पुरुखो विचार
(२६) क्रमकेलि
(२७) शिवदृष्टयालोचन
(२८) पूर्व पंञ्चिका
(२९) पदार्थ प्रवेश निर्णय टीका
(३०) प्रकीर्णक विवरण
(३१) प्रकरण विवरण
(३२) काव्य कौतुक विवरण
(३३) कथामुख तिलक
(३४) लघ्वी प्रक्रिया
(३५) भेदवाद विदारण
(३६) देवीस्तोत्रविवरण
(३७) तत्वाध्वप्रकाशिका
(३८) शिवशक्त्या भिनाभावश्लो
(३९) बिम्ब प्रतिबिम्बवाद
(४०) परमार्थ संग्रह
(४१) अनुत्तर शतक
(४२) प्रकरण स्तोत्र
(४३) नाट्यालोचन
(४४) अनुत्तरतत्व विमर्शिनी

आचार्य अभिनवगुप्त कृत ४४ कृतियों में से १२ रचनायें ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी ९ छोटी रचनाओं का प्रकाशन परिशिष्ट के रूप में डॉ० के० सी० पाण्डेय के ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त' में हुआ है। इस प्रकार अभिनवगुप्त की प्रकाशित रचनाओं की कुल संख्या २१ है। १४ कृतियों का ज्ञान अभिनव की विभिन्न रचनाओं के विविध सन्दर्भों के आधार पर होता है। ६ कृतियों का उल्लेख आधुनिक सूची-पत्रों में मिलता है। अभिनवगुप्त की तीन कृतियाँ पर्यन्तपंञ्चाशिका, घटकर्पर कुलक विवृति एवं पुरुरवो विचार निर्भ्रान्त रूप से अभिनव के ही ग्रन्थ सिद्ध नहीं हो सके हैं यद्यपि इनकी हस्तलिपियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं।

विषय की दृष्टि से अभिनव की उपलब्ध रचनायें दो वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) दार्शनिक साहित्य और (२) आलंकारिक साहित्य। अभिनवगुप्त कृत दार्शनिक रचनायें त्रिविध रूप में दिखाई पड़ती हैं—(१) मौलिक ग्रंथ, (२) टीका ग्रंथ और (३) स्तोत्र ग्रंथ।

दार्शनिक साहित्य :

विभिन्न सन्दर्भों एवं कालक्रम के अनुसार देखेंगे तो यही विदित होता है कि अभिनव गुप्त ने सर्वप्रथम अपनी लेखनी शिवाद्वैतवाद के प्रतिपादन में व्यापृत की।

क्रम स्त्रोत के रचनाकाल का ज्ञान इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि तांत्रिक साहित्य के रचना प्रवाह में पहला स्थान क्रमदर्शन को ही मिला। इस क्रम दर्शन से सम्बद्ध साहित्य में क्रमस्तोत्र के बाद उल्लेखनाय नाम क्रम केलि का है। इसके उपरान्त त्रिक साहित्य पर पूर्व और अन्य पंचिकाओं की रचना की तत्पश्चात् कौल दर्शन से सम्बद्ध साहित्य सर्जना की जिनमें उल्लेखनीय कृतियां भैरव स्तोत्र, परात्रिशिका विवरण आदि हैं। तन्त्र विद्या पर उनकी लेखनी से प्रसूत ग्रंथ 'तन्त्रालोक' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वस्तुतः इसे ज्ञानकोश कहना हो उपयुक्त है। इस ग्रन्थ में कश्मीर शैव दर्शन से सम्बद्ध सभो सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है। अभिनवगुप्त के इस तन्त्रालोक के उत्तरोत्तर सार संक्षेप के रूप में उनकी तीन कृतियां उल्लेखनीय हैं— 'तन्त्रसार, ''तन्त्रोच्चय, एवं तन्त्रवट धानिका।

इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी एवं 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी' के रूप में महत्वपूर्ण साहित्य प्रदान किया। अभिनवगुप्त कृत 'भगवद्गीतार्थ संग्रह' की रचना का उद्देश्य भी अद्वैतात्मक शैव की स्थापना ही था।

आलंकारिक साहित्य :

तन्त्रालोक का ३७ वां आह्निक इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि तांत्रिक साहित्य सर्जना में संलग्न होने पर भी साहित्य की सरसता से अभिनव का मन आप्लावित था क्यों कि वितस्ता की लहरों और कश्मीर की प्रकृति में वे एक अव्यक्त आकर्षण का अनुभव करते थे। सुरा और सुन्दरियाँ उन्हें विस्मृत नहीं हुई थीं।

हृदय की इस सरसता के मध्य ही उन्होंने काव्यकौतुक विवरण, ध्वन्यालोक लोचन और अभिनव भारती का प्रणयन किया जिसमें प्रथम कृति अनुपलब्ध है। उपलब्ध दोनों कृतियां यद्यपि टीका ग्रन्थ हैं फिर भी मूल ग्रन्थों से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

अभिनवगुप्त के उपलब्ध ग्रन्थों का सामान्य परिचय

(१) **बोध पञ्चदशिका :** यह १६ श्लोकों का ग्रन्थ है जिसमें १५ श्लोकों में तो विषय वस्तु का प्रतिपादन है तथा १६ वें श्लोक में रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। विषय वस्तु शैव सिद्धान्त से सम्बद्ध है जिसके अन्तर्गत शिव और शक्ति के स्वरूप, उनका सम्बन्ध, उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बन्ध के कारण तथा उनका स्वरूप, मोक्षोपाय एवं मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन शैव सिद्धान्तों का, सुकुमारमति वाले शिष्यों को, बोध कराना है[1]।

---

१. सुकुमार मतीन् शिष्यान् प्रबोधयितुमञ्जसा
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिता ।।१६।। बोधपञ्चदशिका

अपने इस ग्रंथ का उल्लेख अभिनवगुप्त ने मालिनी विजयवार्तिक में भी किया है[१]।

(२) **मालिनी विजयवार्तिक :** यह मालिनी विजय तन्त्र, जो कि अत्यन्त दुरूह एवं विशद् ग्रन्थ है एवं जिसका दूसरा नाम 'श्री पूर्वशास्त्र' भी है, पर लिखी गई टीका है। इस ग्रन्थ की रचना के प्रेरणा स्रोत उनके प्रिय शिष्य मन्द्र और कर्ण हैं। जिनका उल्लेख करते हुए ग्रन्थारम्भ में लिखा है—

सच्छिष्य कर्णमन्द्राभ्यां चोदितोऽहं पुनः पुनः।
वाक्यार्थं कथये श्रीमन्मालिन्यां यत् क्वचित् क्वचित् ॥[२]

यहाँ 'क्वचित् क्वचित्' के प्रयोग से प्रतीत होता है कि सम्भवतः उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ पर वार्तिक नहीं लिखा साथ ही अठारहवें अध्याय का पुनः पुनः उल्लेख[३] यह विश्वास दिलाता है कि कम से कम १८वें अध्याय तक तो उन्होंने लिखा ही होगा। परन्तु मुद्रित मालिनी विजयवार्तिक में मात्र दो अध्याय हैं। इनमें भी केवल एक श्लोक की व्याख्या है। इस ग्रन्थ की रचना अभिनवगुप्त ने प्रवरपुर नामक नगर के पूर्वी भाग में रहकर की, इसका उल्लेख भी ग्रन्थ में किया है[४]।

(३) **परात्रिंशिका विवरण:** यह परात्रिंशिका ग्रन्थ अद्वैतवादी यामल तन्त्रों के वर्ग में आये हुए रुद्रतन्त्र का अन्तिम भाग है[५]। अभिनवगुप्त ने इस पर विवरण नामक टीका

---

१. द्रष्टव्य—मालिनी विजय वार्तिक—३६।
२. " " "—२।
३. एतदष्टादशे तत्वमधिकारे भविष्यति। —मा० वि० वा० ५८
अष्टादशे तत्पटले तत्वंसम्यग् विभाव्यते। —मा वि० वा० १०४।
४. प्रवरपुर नामधेयपुरेपूर्वे कश्मीरिकोऽभिनवगुप्तः।
मालिन्यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म ॥ —मा० वि० वा० १३५।
५. अद्वैतवादी तांत्रिक ६४ तन्त्र मानते हैं और आठ-आठ तन्त्रों के आठ वर्गों में इन्हें विभक्त करते हैं। इनके प्रत्येक वर्ग के अलग-अलग नाम हैं। अद्वैतवादी तन्त्र के द्वितीय वर्ग का नाम यामल तन्त्र है और इस वर्ग में समाविष्ट सातवें तन्त्र का नाम रुद्र तन्त्र है। रुद्रतन्त्र का अन्तिम भाग परात्रिंशिका कहलाता है।

भैरवं यामलं चैव मताख्यं मङ्गलं तथा
चक्राष्टकं शिखाष्टकं बहुरूपं च सप्तमम् ॥
वागीशं चाष्टमं प्रोक्तमित्यष्टौ वीरवन्दिते
ब्रह्मयामलमित्युक्तं विष्णुयामलकं तथा
स्वच्छन्दश्च रुरुश्चैव षष्ठं चाथर्वणस्मृतम्
सप्तमं रुद्रमित्युक्तं वेतालं चाष्टमं स्मृतम् ॥

—तन्त्रालोक १–४२।

लिखी। टीका के आरम्भ में ही 'परात्रिंशिका' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि परा शक्ति की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति का प्रतिपादक होने के कारण इसका नाम परात्रिंशिका है[१]। साथ ही उपलब्ध पाठ भेद त्रिशिका और त्रिंशिका का समाधान करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि त्रिंशिका पद का प्रयोग गुरुजन अक्षर साम्य पर कहते हैं। इसका सम्बन्ध तीस श्लोकों से नहीं है[२]। इस परात्रिंशिका को त्रिक सूत्र भी कहा जाता है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने लिखा है --

उक्तं श्री त्रिकसूत्रे च[३]

श्री त्रिकसूत्रे इति—त्रिकप्रमेय सूचिकायां श्री परात्रीशिका यामित्यर्थः[४]।

परात्रीशिका सम्भवतः अपने समय का अत्यन्त लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ था क्योंकि उस पर अनेकानेक टीकायें लिखी गई जिनमें से तीन टीकाकारों का उल्लेख अभिनवगुप्त ने ससम्मान किया है।[५] शेष टीकाओं के प्रति अनादर व्यक्त करते हुए उनकी आलोचना करने में भी अरुचि व्यक्त की है।[६] परात्रीशिका ग्रन्थ की रचना संवादात्मक शैली में हुई है। भैरव एवं भैरवी के संवादों के मध्य ही प्रतिपाद्य विषय निरूपित हुआ है।

(४) तन्त्रालोकः—अभिनवगुप्त के प्राप्त ग्रन्थों में यह सर्वाधिक मूल्यवान और विशद् ग्रन्थ है। इसमें अद्वैतवादी ६४ तन्त्रों का उल्लेख सविस्तार किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य कौल एवं तन्त्र सिद्धान्तों की विवेचना है तथापि क्रम एवं प्रत्यभिज्ञा आदि सिद्धान्तों पर भी प्रामाणिक विचार व्यक्त किये

---

१. त्रीशिका इति तिसृणां शक्तिनां इच्छा ज्ञान क्रियाणां······ ···ईशकाचईश्वरी।
परात्रिंशिका विवरण १६—७।

२. त्रिंशिका इत्यपगुरवः पठन्ति अक्षरवादसाम्यात् न तु त्रिंशत्श्लोक योगात् त्रिंशिका। —प० त्रि० वि० १७।

३. तन्त्रालोक—आह्निक ३, पृ० १०१।

४. तन्त्रालोक टीका (जयरथ) आह्नक १२, पृ० १०१।

५. श्री सोमानन्द कल्याण भवभूतिपुरोगमाः।
तथा हि त्रीशिकाशास्त्र ते भ्यधुर्बुधाः॥ —तन्त्रालोक ८।९६

६. इतीदृग् व्याख्यानं त्यक्त्वा यदन्यैर्व्याख्यातम्, यद्यपि पदवाक्यसंस्कार विहीनैः सह व्रीडवहा गोष्ठी कृता भवति·········।
परात्रीशिका विवृत्ति-९३।
इसके अतिरिक्त दो अन्य टीकायें भी उपलब्ध हुई हैं जिनका उल्लेख डॉ० के० सी० पाण्डेय ने अपनी पुस्तक अभिनवगुप्त में किया है।
द्रष्टव्य—अभिनवगुप्त —डॉ० के० सी० पाण्डेय, पृ० ४५।

गये हैं।[1] ग्रन्थ के नाम पर अपने विचार व्यक्त करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा कि जिस प्रकार आलोक को प्राप्त कर संसार स्वयमेव संचरित हो उठता है उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी व्यक्ति को स्वयमेव चैतन्य प्रदान करने की क्षमता रखता है इसीलिए इसका नाम तन्त्रालोक है।[2] इस ग्रन्थ में ३७ आह्निक है। इस ग्रन्थ का प्रशस्ति गान करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि जो बुद्धमान व्यक्ति इन ३७ आह्निकों का सम्यक् अभ्यास करेगा वह साक्षात् भैरव ही हो जायेगा।[3] इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा के मूल में उनके शिष्य मन्द्र, मनोरथ एवं अन्य शिव भक्तों का आग्रह ही है। इस ग्रन्थ की रचना मन्द्र के निवास स्थान पर हुई।[4] यह ग्रन्थ मूलतः मालिनी विजय तन्त्र पर आधृत है।[5] यह ग्रन्थ दार्शनिक तान्त्रिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही आत्म परिचयात्मकता से युक्त होने के कारण इसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है। इस ग्रन्थ के आधार पर ही उनके पूर्वज, वंशवेलि, बाल्यावस्था माता-पिता आदि से सम्बद्ध बहुमूल्य तथ्य उपलब्ध हुए हैं।

(५—६) **तन्त्रसार तथा तन्त्रघटधानिका** :—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इन दोनों ग्रन्थों में विशाल ग्रन्थ तन्त्रालोक का सार संग्रहित है। तन्त्र वट धानिका तन्त्रसार से भी संक्षिप्त है। इस ग्रन्थ में तन्त्रालोक रूपी वट वृक्ष बीज रूप में सन्निहित है।

(७) **ध्वन्यालोकलोचन** :—यह साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ

---

१. वक्ष्यमाणग्रन्थस्य कुलतन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि।
—तन्त्रालोक १, २४।

तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता'
इत्यादि दृशा सर्वत्रव गुरुपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयो विद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थ कृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं दर्शयति।
—तन्त्रालोक टीका १, २९।

२. आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः सुखं सञ्चरति क्रियासु।
—तन्त्रालोक आह्निक ६७।४२६।

३. इति सप्ताधिकामेनां त्रिशतं यः सदा बुधः।
आह्निकानां समभ्यस्येत्स साक्षाद्भैरवो भवेत्॥
—तन्त्रालोक १,२८८।

४. इत्थं गृहे वत्सलिकावतीर्ण स तन्निबन्धं विदधे महार्थम्।
—तन्त्रालोक आह्निक ३७।४२५।

५. नतदस्तीहयन्न श्री मालिनी विजयोत्तरे।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिङ्गतः॥
—तन्त्रालोक १,३५।

है। आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक की यह सुप्रसिद्ध टीका है। यह काव्य-लोकलोचन तथा सहृदयालोकलोचन के नाम से भी जाना जाता रहा है। अभिनवगुप्त ने अपनी इस टीका का महत्व निरूपित करते हुए स्वयं ही लिख दिया है चन्द्रिका के होने पर भी जिस प्रकार व्यक्ति आलोक का आनन्द लोचन के अभाव में नहीं ले सकता उसी प्रकार ध्वनि रूपी आलोक का सम्यक रसास्वाद भी लोचन के अभाव में सम्भव नहीं है। सहृदय के लोचनोन्मीलनार्थ ही यह प्रयास है।[1] वस्तुतः ध्वन्यालोक के अध्ययन में लोचन का वही स्थान है जो व्याकरण में महाभाष्य का। यह जहाँ ध्वन्यालोक के दुरूह स्थलों की सांगोपाङ्ग व्याख्या करता है वहीं प्रणेता की अपूर्व विद्वत्ता एवं स्वतन्त्र विचारणा के परिणाम स्वरूप पर्याप्त मौलिक भी है। ध्वन्यालोक लोचन में उद्धृत सन्दर्भों के आधार पर ज्ञात होता है कि ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नामक टीका लिखी जा चुकी थी और चन्द्रिकाकार अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती गोत्रज थे।

जहाँ तक प्रतिपाद्य विषय वस्तु का सम्बन्ध है जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह ध्वनि सम्बन्धी ग्रन्थ है इसमें एक मात्र काव्य प्रयोजक तत्व के रूप में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना है। यह चार उद्योतों में विभक्त है। इन चारों पर ही अभिनव ने अपनी सार गर्भित लेखनी चलायी है स्वयं उनके ही शब्दों में इस लोचन में सार भरा हुआ है जिसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि आनन्द-वर्धन जैसे परम निष्णात आचार्य के विवेक से जिस काव्यालोक का विकास हुआ था उसके अर्थ को पूर्ण रूप से इसमें संघटित करा दिया गया है और सहृदयों में काव्य के जितने भी महत्वपूर्ण विषय प्रकृष्ट रूप में प्रकाशित हैं उन सबको यह प्रकाशित करने वाला है।[2]

(८) **अभिनवभारती** :—यह भरत नाट्यशास्त्र पर रचित टीका है। यों तो अभिनवगुप्त ने अपनी इस टीका को गुरुपरम्परागत व्याख्या ही कहा है[3] परन्तु प्रज्ञा की प्राञ्जलता के वशीभूत हो स्थान-स्थान पर गुरु से मत वैभिन्य भी स्पष्ट

१. किं लोचनं विनालोको भाँति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥ —प्र० उ०, पृ० १६४।

२. आनन्दवर्धनविवेकविकास काव्यालोकार्थतत्वघटनादनुभेदसारम्।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत्॥
—लोचन च० उ०, पृ० ५५४।

३. सद्विप्रतीतवदनोदितनाथवेदतत्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठाः संक्षिप्त वृत्तिविधिनविशदीकरोति॥ १-४
—ना० शा० अभि०भा०।

दीखता है परन्तु ऐसे स्थलों पर अभिनव का प्रयास पूर्ववर्तियों का त्रुटि निर्देश न होकर उनका परिष्कार करना होता है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य भट्टतौत की व्याख्याओं को सुनने के जिज्ञासु व्यक्तियों की कामना पूर्ति ही है। अभिनव भारती के पूर्व भरत नाट्यशास्त्र पर अनेकों टोकायें लिखी जा चुकी थी जिनका उल्लेख अभिनव भारतो में प्राप्त है। इनमें उद्भट, भट्टलोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक उल्लेखनीय हैं परन्तु अब तक अभिनवभारती के अतिरिक्त अन्य कोई टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है। अभिनवगुप्त ने अपने नाट्यगुरु भट्टतौत के ग्रन्थ काव्य कौतुक एवं उस पर अपनी विवरण टीका का भी उल्लेख किया है परन्तु ये दोनों महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हो सके हैं। अतः अभिनवभारती, रस, संगीत एवं नाट्यकला से सम्बद्ध विपुल ज्ञान राशि से सम्पन्न होने के कारण तो महत्वपूर्ण है ही इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि मात्र इसके आधार पर ही हमें अनेकानेक आचार्यों के नाम उनकी कृतियों एवं उनकी कृतियों के प्रतिपाद्य विषयों का बोध होता है।

(९) **भगवद्गीतार्थ संग्रह :**—यह भगवद्गीता की विषय वस्तु का सार संग्रह है। यद्यपि यह एक टीका ग्रन्थ है तथापि इसकी रचना शैव ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में हुई है। शैव कृष्ण को त्रिक सिद्धान्त का आचार्य मानते हैं इसलिए तन्त्रालोक १-६२ में गुरुवाक्य कह कर गीता के वचन उद्धृत हैं। शैव सम्प्रदाय में प्रचलित गीता के इस महत्व के वशीभूत ही अभिनवगुप्त ने भट्टेन्दुराज से गीता का अध्ययन कर शैव सिद्धान्तों के अनुसार इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है।[१] अभिनवगुप्त से पूर्व भी वसुगुप्तादि अनेकों शैव आचार्यों ने इस गीता पर टीकायें की हैं ऐसा उल्लेख अभिनवगुप्त ने स्वयं किया है।[२] इस रचना की प्रेरणा के मूल में किसी 'लोटक' नामक सद्विप्र का आग्रह रहा है[३] जो कि सम्भवतः अभिनवगुप्त का सम्बन्धी था।[४]

(१०) **परमार्थसार:**—इस ग्रन्थ की रचना शेष मुनिकृत आधारकारिका के संक्षिप्त संस्करण के रूप में हुई है। शेष मुनि आधार भगवान या अनन्तनाथ के नाम से भी सम्बोध्य रहे हैं और उनकी आधारकारिका का दूसरा नाम परमार्थसार

१. भट्टेन्दुराजादाम्नायं विविच्य च चिरं धिया।
कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः ॥६॥
भगवद्गीतार्थसंग्रह परिचयात्मक (श्लोक)

२. तास्वन्यैः प्राक्तनैर्व्याख्याः कृता यद्यपि भूयसा।
न्याय्यस्तथाप्युद्यमो मे तद्गूढार्थ प्रकाशकः ॥५॥ वही।

३. तच्चरणकमलमधुपो भगवद्गीतार्थसंग्रहं व्यदधात्।
अभिनवगुप्तः सद्द्विजलोटककृतचोदनावशातः ॥२॥ वही (समापन श्लोक)

४. कृत्यमिदं बान्धवार्थम्। ३।

भी है। वस्तुतः मूल रूप से यह ग्रन्थ सांख्य सिद्धान्ताधारित है और इसका विवेच्य विषय प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति है। परन्तु अभिनवगुप्त ने अपने परमार्थसार में उसे शैवागमों के अनुसार ही रूपायित किया है। इस ग्रन्थ में १०५ श्लोक संग्रहीत हैं यद्यपि अन्तः साक्ष्य के आधार पर इसकी रचना आर्यशतैन अर्थात् १०० आर्या छन्दों में हुई है। सम्भवतः बोधपंचदशिका के ही समान मूल विषयावस्तु प्रतिपादक श्लोकों की संख्या सौ होने के कारण अभिनवगुप्त ने लिखा है—

'आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढ़म्'[१]

अभिनव विरचित इस परमार्थ सार के अतिरिक्त अन्य तीन ग्रन्थ इसी नाम से उपलब्ध हुए हैं जिनमें अधिकांश श्लोक अभिनव कृत परमार्थसार से साम्य रखते हैं परन्तु श्लोक संख्या में पर्याप्त भेद है।[२]

(११) **ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी :**—यह ग्रन्थ उत्पलपादाचार्य-रचित विवृति पर लिखी गई टीका है। उत्पलपादाचार्य ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा सूत्र लिखा था एवं स्वयं ही उस पर विवृति लिखी। अभिनवगुप्त ने उत्पलाचार्य के सूत्र-ग्रन्थ और विवृति दोनों पर ही टीकायें लिखी। प्रस्तुत ग्रन्थ उत्पलाचार्य की विवृति की टीका है यह तथ्य निरूपित किया जा चुका है। इस ग्रन्थ का परिमाण १८ सहस्त्र श्लोकों का है अतः इसे अष्टादश साहस्त्री अथवा बृहती विमर्शिनी भी कहा जाता है। उत्पलाचार्य अभिनव के गुरु लक्ष्मण गुप्त के गुरु थे। इसका परिचय देते हुए ग्रन्थ के परिचयात्मक श्लोक में अभिनव ने स्वयं को प्रशिष्य कहा है।

श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तदर्शितपथः श्री प्रत्यभिज्ञाविधो।
टीकार्थं प्रविम्र्विशिणीं रचयत वृत्ति प्रशिष्यो गुरोः ॥

(१२ **ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी :**—उत्पलाचार्य के ईश्वर प्रत्यभिज्ञा सूत्र पर रचित टीका ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'लघ्वी विमर्शिनी' भी है। यह ग्रन्थ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी की अपेक्षा संक्षिप्त है। प्राचीन गणना पद्धति[२] के अनुसार इस ग्रन्थ का परिमाण चार सहस्त्र श्लोकों का है अतः इसे चतुःसाहस्त्री भी कहते हैं। इन दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य अद्वैतवादी शैव तन्त्र के दार्शानक मूल्यों की स्थापना है।

अब तक विवेचित ये रचनायें ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त अभिनव की नौ छोटी रचनायें डॉ० के० सी० पाण्डेय कृत अभिनवगुप्त में परिशिष्ट के रूप में छप चुकी हैं। अभिनव कृत इन नौ रचनाओं को सुविधानुसार दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है:—

---

१. परमार्थसार, १६८।

२. गद्यात्मक ग्रन्थ का निर्धारण ३२ अक्षरों को एक श्लोक को मान कर किया जाता था।

(१) प्रचारात्मक वर्ग

(२) स्तोत्रात्मक वर्ग ।

प्रचारात्मक वर्गः—इस वर्ग में निम्नांकित चार रचनायें परिगणित है—

(१) अनुत्तराष्टिका—इसमें आठ श्लोक हैं।

(२) परमार्थद्वादशिका—इसमें तेरह श्लोक हैं।

(३) परमार्थचर्चा—इसमें आठ श्लोक हैं।

(४) महोपदेश विंशतिकम्—इसमें बीस श्लोक हैं।

इन चारों रचनाओं का मूल प्रतिपाद्य अद्वैतात्मक शैव दर्शन पर आधारित हैं। अहं विमर्श द्वारा तीनों मंत्रों से विमुक्त व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार द्वारा ही उस परम तत्व का साक्षात्कार करता है एवं इस मार्ग का अनुसरण कर ही वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[१] अभिनवकृत परमार्थ द्वादशिका का नाम आद्य द्वादशिका भी जान पड़ता है क्योंकि रामयादवाचार्य ने अपनी टीका भावोपहार में इस रचना का द्वितीय श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है—आद्यद्वादशिकायामपि।

परमार्थ चर्चा में भी उसी परमतत्व शिव जो प्रकाशात्मक हैं एक हैं की चर्चा है जो अपनी विचित्र शक्ति के कारण ही ग्राह्य और गृहीत प्रविभाग से युक्त प्रतीत होता है।[२] परमार्थ चर्चा के आठवें और अन्तिम श्लोक में अभिनव ने कहा है जो परमार्थकामा व्यक्ति इस सद्वृत्ति सप्तक का हृदय से स्मरण करेगा वह त्रिजगतीपरमार्थचर्चा का बोध प्राप्त कर भैरवीय परधाम में निवास करेगा।[३]

इसी अद्वैतात्मक स्थिति का सुन्दर निरूपण महोपदेशविंशतिकम् में हुआ

---

१. यत्सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं च यत्
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते।
तत्सवं स्वविमर्शसंविदुदयात् रूप प्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभावधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज ॥८॥
—अनुत्तराष्टिका,

२. इत्थं स्वसंविद्घन एकएकशिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः
तत्रापि भात्यव विचित्रशक्तौ ग्राह्यग्रहीतृप्रविभाग भेदः ॥३॥
—के० सी० पाण्डेय परिशिष्ट सी, पृ० ९४६ परमार्थ चर्चा।

३. सद्वृत्तसप्तकमिदं गलितान्यचिन्ताः सम्यक् स्मरन्ति हृदये परमार्थकामाः।
तै भैरवीय परधाममुहुर्विशान्तिजानन्ति च त्रिजगतीपरमार्थचर्चाम् ॥९॥
—के० सी पाण्डेय, परिशिष्ट 'सी' पृ० ९४६, परमार्थ चर्चा।

है। भक्त और भगवान में कोई भेद रहीं रहता। भगवद्रूपता को प्राप्त कवि आत्मा और परमात्मा दोनों को ही प्रणाम करने लगता है।[1]

स्तोत्रात्मक वर्ग—इस वर्ग में पाँच रचनायें आती हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) क्रमस्तोत्र—इसमें ३० श्लोक हैं।

(२) भैरवस्तोत्र—यह १० श्लोकों की रचना है।

(३) देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र—इसमें १५ श्लोक हैं।

(४) अनुभवनिवेदन—यह मात्र ४ श्लोकों की रचना है।

(५) रहस्य पञ्चदशिका।

क्रम एवं भैरव स्तोत्र शिव की स्तुति में लिखे गये हैं। भैरव स्तोत्र के विषय में प्रचलित है कि इसी का पाठ करते हुए अभिनव गुप्त कन्दरा में प्रविष्ट हुए थे इन दोनों रचनाओं का, अभिनवगुप्त के काल निर्णय में महत्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि इन दोनों ही रचनाओं में इनके रचे जाने की तिथि मास सम्वत्सर का उल्लेख है।

देहस्थ देवता चक्र में अभिनवगुप्त ने स्पष्ट उद्घोषणा की है कि वह परम शिव जब अपने अंश रूप आत्मा का रूप धारण कर लेता है तो भी वह अपनी समस्त विभूतियों से युक्त रहता है। यह अवश्य है कि नाम परिवर्तित हो जाते हैं परन्तु उनका कार्य नहीं बदलता यथा गणेश और बटुक शिव के गण पुरुष प्रमाता में प्राण और अपान के रूप में निवास करते हैं।[2] इसी प्रकार बुद्धिरूपा ब्रह्माणी अहंकृतिरूपा

---

१. प्रपञ्चोतीर्ण रूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये।
सदानन्दप्रकाशाय स्वात्मनेऽनन्तशक्तये ॥१॥
त्वं त्वमेवाहमेवाहं त्वमेवासि न चास्म्यहम् ॥
अहं त्वमित्युभौ न स्तोयत्र तस्मै नमो नमः ॥२॥
अन्तर्देहेमयानित्यं त्वमात्मा च गवेषितः।
न दृष्टस्त्वं नचैवात्मा यच्चदृष्टं त्वमेव तत् ॥३॥
भवद्भक्तस्य संजातभवद्रूपस्य मेऽधुना
त्वमात्मरूपं संप्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमोनमः ॥४॥
—महोपदेश विंशतिकम्
—अभिनवगुप्त—परिशिष्ट सी—के० सी० पाण्डेय, पृ० ९४६।

२. असुरसुरवृन्दवन्दितमभिमतवरवितरणेनिरतम्।
दर्शनशताग्र्यपूज्यं प्राणतनुं गणपतिं वन्दे ॥१॥
वरवीरयोगिनीगणसिद्धावलि पूजितांघ्रियुगलम्
अपहृतविनयिजनार्ति वटुकमपानाभिधं वन्दे ॥२॥
—देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्
अभिनवगुप्त—परिशिष्ट सी. के० सी० पाण्डेय, पृ० ९५२।

शाम्भवी जिह्वारूप चामुण्डा, घ्राणरूपा महालक्ष्मी सभी प्रमाता की देह यष्टि में यथा स्थान स्थिर हो उस भैरव का प्रसादन करते हैं।

जहाँ तक 'अनुभव निवेदन' का प्रश्न है इस रचना के सन्दर्भ में अन्तः या बहिः ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है जिसके आधार पर इसे अभिनव गुप्त की कृति कहा जाय। इसे अभिनव गुप्त की रचना मात्र परम्परा के आधार पर माना गया है। इस रचना में उस समय के अनुभूत भावों की अभिव्यंजना है जब प्रमाता बाह्य मात्र रूपात्मक नाना वर्णात्मक जगत् से पराङ्मुख हो अन्तस्थ परतत्व के साक्षात्कार के लिये तत्पर होता है।[१] कवि ने अपनी इस रचना में अन्तस्थ पर तत्व के साक्षात्कारात्मक आनन्द का सुललित वर्णन प्रस्तुत किया है।

रहस्य पञ्चदशिका' यह भी एक विवादास्पद रचना है यद्यपि इसके कर्तृत्व के विषय में सन्देह नहीं है क्योंकि स्वयं इस रचना के अन्त में अभिनवगुप्त ने लिखा है—

पूर्व सिद्धान् गुरून् देवान् देवीं नत्वाथ योगिनः
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिवाः ॥

परन्तु अभिनव का यही उल्लेख इसे विवादास्पद बना देता है क्योंकि अभिनव इसे १५ श्लोकों की रचना बताते हैं जब कि प्राप्त रहस्यपञ्चदशिका में ३७ श्लोक हैं। यों तो अभिनव की अन्य कृतियों में भी इस प्रकार का उक्ति विपर्यय मिलता है जैसे बोधपञ्चदशिका में १६ श्लोक है और 'आर्याशतेन' से कहे हुए परमार्थसार में १०५ श्लोक है परन्तु इस ग्रन्थ का वैशम्य तो दुगने से भी अधिक का है अतः ऐसा लगता है मानो यह अभिनवगुप्त की प्रामाणिक कृति न हो। या अन्यान्य श्लोकों के इसमें सम्मिश्रित हो जाने के कारण मूल १५ श्लोक दूषित हो गये हों।

इसमें पराशक्ति और शिव के सम्मिलन का आख्यान शिव पार्वती के धार्मिक पौराणिक आख्यान से प्रभावित है।[२] इसमें 'परा' का वर्णन लक्ष्मी[३] और

१—अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादाद्गुरो
शून्याशून्य विवर्जितं भवति यत् तत्वं पदं शाम्भवम् ॥१॥
अनुभव निवेदन्
अभिनव गुप्त परिशिष्ट—'सी'—के० सी० पाण्डेय, पृ० ९५३।

२—ययाविनानैवकरोतिकिञ्चिन्नवेत्तिनापीच्छति संविदीशः।
तस्यै परस्यै जगतां जनन्यै नमः शिवायै शिव वल्लभायै ॥४॥
—रहस्यपञ्चदशिका।

३—अमे अम्बिके अस्वरूपे अनाख्येउमेरौद्रिब्राये महालक्ष्मिमाये।
परेदेवतैपञ्चकृत्यैकलोलेशिवे भैरवि श्रीमति त्वां प्रपद्ये ॥७॥
—रहस्य पञ्चदशिका

सरस्वती[1] दोनों रूपों में हुआ है और दोनों ही पौराणिक चारित्रिक वैशिष्ट्य युक्त चित्रित हैं। वस्तुतः इसमें परा शक्ति की दार्शनिक धारणा और पार्वती लक्ष्मी सरस्वती की पौराणिक धारणा का सम्मिश्रण हो गया है।

(२२) **तन्त्रोच्चय**—यह 'तन्त्रालोक' से सम्बद्ध ग्रन्थ है आकार में यह 'तन्त्रसार' से छोटा एवं तन्त्रवटधानिका से बड़ा है। यद्यपि प्रारम्भ एवं पुष्पिक दोनों में ही इस ग्रन्थ अभिनव रचित होने का उल्लेख है फिर भी इसकी भाषा शैली और विषय वस्तु प्रतिपादन पद्धति सन्देह उत्पन्न करती है कि सम्भवतः यह अभिनव की लेखनी से प्रसूत न हो।

(२३) **बिम्बप्रतिबिम्बवाद**—यद्यपि इस ग्रन्थ का उल्लेख दोनों सूचीपत्रों[2] में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मिलता है परन्तु सत्य तो यह है कि यह 'तन्त्रालोक' के तृतीय आह्निक का एक अंश है जिसमें अभिनवगुप्त ने नैयायिकों के बिम्ब प्रतिबिम्ब वाद का खण्डन कर शैव सम्मत बिम्ब प्रतिबिम्बवाद की स्थापना की है। इसकी पुष्टि इस रचना की पुष्पिका से भी होती है जहाँ अभिनव गुप्त कहते हैं श्री तन्त्रालोकेबिम्ब प्रतिबिम्बवादः सम्पूर्णः।

(२४) **अनुत्ततत्व विमर्शिनी वृत्तिः** अभिनव कृत इस ग्रन्थ की दो हस्तलिपियां उपलब्ध हुई हैं परन्तु दुर्भाग्यवश दोनों ही अधूरी हैं। यह परात्रिंशिका' के रुद्रयामल-तन्त्र पर लिखी गई दूसरी संक्षिप्त टीका है।[3]

(२५) **पर्यन्तपञ्चाशिका**—यह सम्भवतः कॉल दर्शन पर आधारित ग्रन्थ है। इस कॉल सम्प्रदाय के शिक्षक शम्भुनाथ थे। इस ग्रन्थ में उन्होंने ३७ तत्वों का प्रति पादनकिया है।[4]

(२६) **घटकर्परकुलकविवृत्तिः** यह एक बीस श्लोकीय काव्य ग्रन्थ की टीका है जिसमें अभिनव गुप्त ने इसके रचयिता का नाम कालिदास बताया है।[5] इसके

१—मुग्धा पुस्तकहस्तामुग्धेन्दुकला ललाटनेत्रवती
शारदशशाङ्क धवला दयामयी कापि देवता जयति ॥२२॥
—रहस्य पञ्चदशिका
अभिनवगुप्त—परिशिष्ट 'सी'--के० सी० पाण्डेय, पृ० ६५४ से ६५५।

२—डा० बूलर के काश्मीर सूची पत्र तथा डा० भण्डाकार के १८७५-७६ में संग्रहीत हस्तलिपि ग्रन्थ सूची में।

३—इसकी दोनों हस्तलिपियां तंजौर पुस्तकालय में है।

४—विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—अभिनवगुप्त :
डा० के० सी० पाण्डेय, पृ० ७८ से ९३।

५—अत्र कर्ता महाकविः कालीदासः इत्युनुश्रुतमस्मनाभिः।
—घटकर्परकुलकविवृत्ति, पृ० २१।

बीसों पद्य यमकालंकार से युक्त हैं। इसके उपसंहारात्मक श्लोक में कवि ने घोषणा की है कि जो, उसे यमक रचना में विजित कर लेगा उसका घड़े के खप्पर में पानी भरना मैं स्वीकार करूँगा।[१] यह नायिका प्रधान कृति है अभिनव गुप्त के अनुसार इसमें कुछ कथन नायिका का है, कुछ सखी का और कुछ दूती का।[२] अभिनवगुप्त ने इसे निर्दोष कवि का और उत्तम काव्य कहा है।[३]

इतना कुछ होने पर भी यह ग्रन्थ विवादास्पद है। पहला विवाद तो इसके कर्ता को लेकर ही है अभिनवगुप्त ने कालीदास का नाम लिखा पर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अनुश्रुतम् परम्परया श्रुत विषयानुसार इसके रचयिता कालीदास है। हेमचन्द्र इसे मास की कृति मानते हैं और कुछ अन्य विद्वान इसके रचयिता का नाम घटकर्पर ही बताते हैं और उसे विक्रम की राज सभा का ही कालिदास का समकालीन कवि मानते हैं। यह ग्रन्थ रामचरित शर्मा कृत टीका सहित प्रकाशित हुआ है और इस ग्रन्थ में वक्ता तीन न होकर मात्र नायिका है। इन रचनाओं के अतिरिक्त अभिनवगुप्त की चौदह कृतियाँ ऐसी हैं जिनका उल्लेख अभिनव के प्रकाशित अथवा अप्रकाशित विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ये रचनायें निम्नांकित हैं।

(२७) **पुरुरवोविचार**–अभिनव की इस कृति का उल्लेख अभिनव की ही टीका घटकर्परकुलक विवृत्ति में हुआ है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह कालिदास के विक्रमोर्वशीय के नायक पुरुरवा से सम्बद्ध है। इसमें इस नाटक को विरूद्ध आलोचना से कालीदास की रक्षा करते हुए कवि स्वातन्त्रय का न्याय संगत विवेचना हुआ है।

(२८) **क्रमकेलि** : इसका उल्लेख परत्रीशिका विवरण में उपलब्ध है जहाँ वे कहते हैं—

'व्याख्यातं चैतत् मयातट्टीकायांक्रमकेलोविस्तरतः'[४]

अतः स्पष्टतः यह क्रम दर्शन आधारित किसी ग्रन्थ की टीका है। सम्भवतः उसका नाम क्रम स्त्रोत था पर यह अभिनव रचित क्रमस्त्रोत से भिन्न कोई प्राचीन ग्रन्थ था। महार्थमन्जरी की परिमल टीका में महेश्वरान्द ने इस क्रमस्तोत्र का बहुधा उल्लेख किया है।

१—जीयेय येन कविनायमकैः परेण।
तस्मै वहे य मुदकं घटकर्परेण ॥ २१ ॥ घटकर्पर०।

२—तत्र किञ्वत् कविनिबद्धप्रमदारूपवक्तृकं, किञ्चित् कवि निबद्धतत्सखी भाषितं, किञ्चत् कवि निबद्ध दूतीभाषितम्।
घटकर्पर काव्य, पृ० १।

३—न चास्यकाव्येतृणमात्रमपिकलङ्कमुत्प्रेक्षितवन्तो मनोरथेऽपि स्वप्नेऽपि सहृदयाः। तस्मात प्राक्तन एव समाप्तिश्लोकः।
—वही, पृ० १८।

४—परात्रीशिका विवरण, पृ० २३७।

(२९) शिवदृष्टयालोचन :—उत्पलाचार्य के गुरू और त्रिक दर्शन के परम आचार्य सोमानन्द कृत शिव दृष्टि पर लिखी गई टीका है। यह किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का उल्लेख परात्रीशिकाविवरण में अभिनवगुप्त ने किया है।

यथोक्तं मयैव शिवदृष्ट्यालोचने –[१]

(३०) पूर्वपंचिका :—मालिनी विजय तन्त्र जिसका नाम पूर्व शास्त्र या श्री पूर्व शास्त्र भी है पर लिखी गई विस्तृत टीका है। यह त्रिक शास्त्र का आधार ग्रन्थ परन्तु इस पर लिखी गई पूर्व पंचिका अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्त ने इस तरह की पंचिकायें अन्य तन्त्र ग्रन्थों पर भी लिखी थीं जिनका संकेत परात्रीशिका विवरण में किया है—

'निर्णीतं चेतन्मयैव पूर्व प्रभृति पञ्चिकासु'

—प०त्री० वि०, पृ० १४७।

(३१) पदार्थ प्रवेश निर्णय टीका :—सम्भवतः त्रिक दर्शन में समादृत ३६ पदार्थों पर लिखित यह ग्रन्थ हो परन्तु यह मात्र अनुमान ही है क्योंकि न तो पदार्थ प्रवेश ग्रन्थ उपलब्ध न उसकी यह टीका। परात्रींशिका विवरण में इस ग्रन्थ का उल्लेख है—

'विततय च विचारितं मयैतत् पदार्थ प्रवेश निर्णयटीकायाम्।'

—प० त्री० वि०, पृ० १६२।

(३२) प्रकीर्णकविवरण—यह सम्भवतः कोई दार्शनिक सैद्धान्तिक ग्रन्थ हो इसका उल्लेख तन्त्रालोक की टीका में मिलता है जिसके रचयिता जयरथ है।

इत्थं जडे सम्बन्धे न मुख्यान्यार्थसङ्गति। आस्तां, अन्यत्र विततमेतद् विस्तरतो मया। इस पर जयरथ ने टीका करते हुए लिखा है—

'अन्यत्रेति प्रकीर्णकविवरणादौ'।

—तन्त्रालोक ७।३३।

(३३) प्रकरण विवरण—यह प्रकरण स्तोत्र की टीका है। इसका उल्लेख 'तन्त्रसार' में मिलता है।

(३४) काव्यकौतुक विवरण—यह अभिनव के गुरु भट्टतौत विरचित अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ काव्यकौतुक' की टीका है। इसका उल्लेख ध्वन्यालोक लोचन और अभिनव भारतीय दोनों में हुआ है—

स स्वयमस्मदुपाध्याय--भट्टतौतेन काव्यकौतुके अस्मामिश्च तद् विवरणे बहुतर कृतं निर्णयः पूर्वपक्ष सिद्धान्तः। इत्यलं बहुत्रा।

ध्वन्यालोक लोचन १७८।

१—परात्रीशिका विवरण, पृ० ११६।

(३५) **कथामुखतिलकम्**—इसका उल्लेख बृहती विमर्शिनी में अभिनव ने स्व रचित ग्रन्थ के रूप में किया है।[१] अभिनव के शिष्य मधुराज योगिन् ने अपने 'गुरुनाथ परामर्श' में कथामुख महातिलक के नाम से इसका उल्लेख किया है।[२] यह न्यायोक्त षोडश पदार्थों से सम्बद्ध है। इसका निर्माण प्रतिपक्षियों के खण्डनार्थ ही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है।

(३६) **लघ्वी प्रक्रिया**—यह भक्त्यात्मक स्तोत्र ग्रन्थ है। इसका उल्लेख भगवद्गीतार्थसंग्रह में करते हुए लिखा है—

यथा च मयैवलघ्व्यां प्रक्रियायामुक्तम्—
न भोग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुस्तत्वं विभाव्यते।
एष एव हि भोगो यत् तादात्म्यं भोक्तृ भाग्ययोः॥
(भगवद्गीतार्थ संग्रह अध्याय ४ श्लोक २८)।

(३७) **भेदवाद विदारण**—यह एक प्रतिवादात्मक ग्रन्थ है जिसकी रचना का उद्देश्य द्वैतवादी धारणा का खण्डन प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ का उल्लेख भगवद्गीतार्थ संग्रह एवं 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञान विमर्शिनी' दोनों में हुआ है।[३]

(३८) **देवीस्तोत्र विवरण**—यह सम्भवतः आनन्दवर्धन कृत देवीस्तोत्र की टीका है। इसका उल्लेख भगवद्गीतार्थ संग्रह के श्लोक ३० अध्याय ६ की व्याख्या में मिलता है—

'विस्तरस्तु भेदवादविवरणादिप्रकरणे, देवीस्तोत्रविवरणे च मयैव निर्णीतः'।

(३९) **तत्वाध्वप्रकाशिका**—इसमें त्रिक शास्त्र सम्मत तत्वों की प्रकृति और संख्या पर विचार किया गया है तन्त्रालोकटीका में जयरथ ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

ग्रन्थकृता च तत्वाध्वप्रकाशनादौ तत्रतत्र तन्मात्रावलम्बनमेव कृतम्।
—तन्त्रालोक आह्निक ११, पृ० १९।

१—एतच्चमयां कथामुखतिलके वितत्य निरूपितम्।—ई० प्र० वि० वि० १।२०।

२—ग्रन्थं कथामुखमहातिलकाभिधानं
न्यायोक्तषोडषपदार्थ निरूपणाभिः।
यो वादिनां व्यरचद्विजयाय वादे
यस्मैनमोऽभिनवगुप्तगुरुत्तमाय॥ ६॥
—गुरुनाथ परामर्श (हस्तलिपि)।

३—कृतप्रतानश्चायं प्रकृत्यर्थं न्यर्थविवेको मयैव भेदवाद विदारणे इति तत् एवान्वेष्यः। —ई० प्र० वि० २–१५८।

(४०) **शिव शक्त्यविनाभाव स्तोत्र**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इसमें शिव और शक्ति के अभेदात्मक रूप की स्तुति है। इस ग्रन्थ का उल्लेख भगवद्गीतार्थ संग्रह के १५वें अध्याय के १९वें श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने किया है।

(४१) **परमार्थ संग्रह**—डा० व्हूलर के कश्मीर कैटलाग में इसका उल्लेख है।

(४२) **अनुचरशतक**—परात्रीशिका विवरण की भूमिका, पृ० १५ पर इसका उल्लेख है।

(४३) **प्रकरण स्तोत्र एवं नाट्यालोचन**—इन दोनों के अभिनव विरचित होने का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अनुमान के आधार पर ही इन्हें अभिनव विरचित ग्रन्थ सूची में रखा गया है।

———

द्वितीय अध्याय

१. काव्यशास्त्र और उसके प्रतिपाद्य विषय
२. काव्यशास्त्र : उपयोगिता और आवश्यकता
३. काव्यशास्त्र की परम्परा
४. काव्यशास्त्रीय प्रतिपाद्य विषय
   (अ) काव्यात्मा
   (ब) काव्य प्रयोजन
   (स) काव्य कारण

काव्यशास्त्र और उसके प्रतिपाद्य विषय-एक अध्ययन

काव्यशास्त्र एक यौगिक शब्द है जिसके मूल में दो स्वतन्त्र तत्व क्रियाशील हैं। एक तो काव्य दूसरा शास्त्र। काव्य का अर्थ है कवि कर्म। आचार्य अभिनव गुप्त के शब्दों में कवनीय ही काव्य है[१]। कवनीय का अर्थ है कवि का अभिधेय अभिप्रेत अथवा विधेय। कवि जब अपने अनुभूत भावों की अभिव्यक्ति, गुणालङ्कारोचित्ययुक्त सुन्दर शब्दार्थों में जो ध्वनन रूप आत्मा से युक्त है, करता है तो उसे काव्यत्व की संज्ञा दी जाती है[२]। तात्पर्य यह है कि काव्य का अर्थ है 'कवि सृष्टि'। श्रुति कहती है-'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' काव्य का सृजन कर्ता कवि परिभूः है अर्थात् अपने चतुर्दिक फैले हुए परिवेश को अपने में समाहित कर लेता है और वह स्वयंभूः भी है। स्वयं में पूर्ण और सर्वज्ञ, कारण वह अपने काव्य संसार का प्रजापति है[३] उसका जन्मदाता, पालक उन्नायक सब कुछ वह स्वयं होता है। श्रुति की इस एक परिभाषा में ही कवि और काव्य दोनों का क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है एक स्रष्टा है दूसरी सृष्टि।

दूसरी ओर शास्त्र शब्द का अर्थ है नियन्ता या नियामक। दूसरे शब्दों में सुव्यवस्था और संतुलन बनाये रखने वाले साथ ही अनुशासनात्मक आदेश देने वाले ग्रन्थ का नाम शास्त्र है।

तात्पर्य यह है कि काव्य यदि समाज का, चित्त वृत्तियों का, प्रतिबिम्ब है तो शास्त्र समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों का संकलन। काव्य भावाभिव्यक्ति प्रधान है तो शास्त्र व्यवस्थापरक विवेचन प्रधान। काव्य यदि हृदय सम्पन्नता का प्रतीक है तो शास्त्र बुद्धि वैभव का। यही कारण है कि काव्य कवि प्रतिभा से उद्भूत होता है और शात्र का जन्म प्रज्ञा से होता है[४]।

१—कवनीयं काव्यं, तस्य भावः काव्यत्वम्। —लोचन च० उ० पृ० १३६५।

२—गुणालङ्कारौचित्य सुन्दर शब्दार्थ शरीरस्य सति् ध्वननाख्यात्मनि काव्य रूपता व्यवहारः। —लोचन प्र० उ०, पृ० ६३

काव्य ग्रहणाद्गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थ शब्दार्थ पृष्ठपाती ध्वनि लक्षणश्च आत्मेत्युक्तम्। —लोचन प्र० उ० पृ० १६०।

अक्लिष्टा रसाश्रयेणउचिता ये गुणालङ्कारस्ततो या शोभा तां बिभर्ति काव्यम्। —लोचन च० उ०, पृ० १४०८।

३—अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः। —अग्निपुराण ३३९ : १०।

४—द्वे वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्॥

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में सम्पूर्ण वाङ्मय को काव्य और शास्त्र दो रूपों में विभक्त किया है।[१] साथ ही स्पष्ट किया है कि काव्य के अनुशीलन के लिए शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। राजशेखर का कथन है कि जिस प्रकार दीपक के प्रकाश के बिना पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान के बिना काव्य ज्ञान सम्भव नहीं है। इसीलिये वे काव्यशास्त्र को शिक्षा, व्याकरण, कला आदि के समान सप्तम अंग स्वीकार करके इसके अध्ययन की आवश्यकता पर बल देते हैं।

वस्तुतः जिस प्रकार एक सुव्यवस्थित जीवन जीने के लिए, व्यवहार जगत् के सम्यक् संचालन के लिए सामाजिक और संवैधानिक नियमों और सिद्धान्तों का रूपायण करना पड़ता है ठीक उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी सुव्यवस्थित एवं उपयोगी साहित्य के सृजन के लिए नियमों का निर्धारण और पालन अनिवार्य है। इस आधार पर सामान्यतः काव्य पर नियन्त्रण रखने के लिए नियम निर्धारण करने वाली, सिद्धान्त निरूपित करने वाली, विधा को काव्यशास्त्र कह सकते हैं।

डॉ० सुरेश अग्रवाल के शब्दों में—जो शास्त्र काव्य के कर्त्ता को व्यवहार ज्ञान कराकर जीवन की उपयोगिता की दृष्टि से उसे अनुशासनात्मक आदेश भी देता है, उसका निरीक्षण और परीक्षण करने के लिए विशेष प्रकार के सिद्धान्तों का नियमन भी करता है उसे काव्यशास्त्र कहते हैं[२]। वस्तुतः हृदय और बुद्धि की संश्लिष्टि ही काव्यशास्त्र है।

काव्यशास्त्र—उपयोगिता और आवश्यकता :—

काव्यशास्त्र पर इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्यशास्त्र सर्जक कलाकार के लिए वह सुदृढ़ आधार भूमि प्रस्तुत करता है जिस पर वह अपनी कल्पना के प्रासाद को प्रतिष्ठित कर उसे अक्षुण्ण और कालजयी बना सके। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र 'भावुक' के लिए निकष प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर वह अपने सृजन स्वर्ण की शुद्धता की परख कर सकता है। काव्यशास्त्र कवि को वह दिशा प्रदान करता है, उस पथ का निर्देश करता है जिस पर चल कर वह महाकवि की पदवी प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार काव्यशास्त्र की उपयोगिता और महत्व सर्जक, कलाकार के लिए तो हुआ ही करता है। सहृदय पाठक प्रेक्षक और श्रोता के लिए भी इसका महत्व असन्दिग्ध है क्योंकि यह भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा के बीच का सेतु है। भावुक की अभिव्यक्ति और भावक के आस्वा-

१—इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।

—राजशेखर काव्यमीमांसा अध्याय २।

२—भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त—डा० सुरेश अग्रवाल, पृ० १०।

दन के बीच की कड़ी है। सत्य तो यह है कि काव्यशास्त्र यदि भावुकों के लिये नेत्र है तो भावक के लिये ज्योति। ऐसी ज्योति जो आस्वादन के सूक्ष्मतम अंश को भी धूमिल न होने दे। कवि की अभिव्यक्ति को उसकी सम्पूर्ण समग्रता के साथ ग्रहण करने की सामर्थ्य काव्यशास्त्र ही प्रदान करता है और प्रदान करता है सहृदय के लिए रसास्वादन का व्यापक धरातल।

कवि और उसके काव्य के वैशिष्ट्य का बोध काव्यशास्त्र के ज्ञान के अभाव में कदापि सम्भव नहीं है। इसीलिए राजशेखर इसे सप्तम अंग कहते हैं। वस्तुतः सत्य तो यह है कि इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यह शास्त्र सृजन और शिल्पन के सिद्धान्तों की विवेचना ही नहीं करता प्रत्युत् व्यवहार के विस्तृत प्राँगण में उपस्थित ही व्यावहारिक समस्याओं का सम्यक् निष्कर्ष भी प्रस्तुत करता है। इसलिए कवि शिक्षा से लेकर सहृदय शिक्षा तक इसका बिस्तार है।

काव्यशास्त्र की परम्परा :

काव्यशास्त्र जिसके लिए काव्यालंकार, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र और क्रिया कल्प इन सभी नामों का प्रयोग होता रहा है एक प्राचीन शास्त्र है। 'नमोऽस्तुतस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथा मति, पर दृष्टि रख यदि इस काव्यशास्त्र के उत्स के अनुसंधान के लिए तत्पर हों तो वैदिक ऋचाओं सूक्तों में उसे ढूँढा जा सकता है परन्तु क्रमबद्ध, सुसंगठित और सर्वाङ्ग पूर्ण काव्यशास्त्रीय चिन्तना का समारम्भ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से ही होता है। यह अवश्य है कि नाट्यशास्त्र में काव्यचर्चा अंगभूत थी। यद्यपि भरतमुनि ने तत्कालीन समस्त काव्य घटकों को अपने शास्त्र में स्थान दिया पर उन सबकी विवेचना में नाट्य दृष्टि प्रधान ही उठी थी। यही कारण था कि नाट्यशास्त्रीय परम्परा से पृथक काव्यशास्त्रीय चिन्तना का सूत्रपात् हुआ जिसके परिणाम स्वरूप भामह, दण्डी वामन, आनन्दवर्धन कुन्तल जैसे मनीषी आचार्यों की श्रृंखला अपने काव्यशास्त्रीय विचारों के साथ क्रमशः अवतरित हो उठी। इन मनीषी आचार्यों के आविर्भाव के साथ ही एक नूतन काव्यशास्त्रीय सृष्टि की संरचना का समारम्भ हुआ। प्रबुद्ध आचार्यों की वैयक्तिक काव्य चिन्तना और मौलिक काव्य दृष्टियों के कारण एक के बाद एक काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय प्रकाश में आने लगे।

भरत से भामह के पूर्व तक जो काव्य-शास्त्र अपनी शैशवावस्था में था भामह से आनन्दवर्धन तक आते-आते तारुण्य श्री से मंडित हो उठा वस्तुतः ६०० विक्रम (भामह) से ८०० विक्रम (आनन्दवर्धन) का काल साहित्य शास्त्रीय सम्पन्नता का काल है। इन २०० वर्षों में ही विभिन्न सम्प्रदायों के मौलिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। अलंकार, रीति, रस और ध्वनि इन चारों सम्प्रदायों का उद्भव इन २०० वर्षों की ही देन है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा को विवेचन सौविध्य की दृष्टि से, ध्वनि सिद्धान्त को केन्द्रीभूत कर, तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) **पूर्व ध्वनिकाल**—अज्ञात से आनन्दवर्धन तक (८०० वि०)

(२) **ध्वनिकाल**—आनन्दवर्धन से मम्मट तक (८०० से १०५० वि०)

(३) **उत्तर ध्वनिकाल**—मम्मट से जगन्नाथ तक (१०५० से १७५० वि०)

पूर्वध्वनि काल :—

उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस काल का समारम्भ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से होता है और इस काल के अन्तिम आचार्य के रूप में आचार्य रुद्रट का नामोल्लेखन किया जा सकता है। यद्यपि रस सिद्धान्त का बीजाङ्कुरण नाट्यशास्त्र के रूप में ई० पू० प्रथम शताब्दी में ही हो चुका था तथापि पूर्व ध्वनि काल के साहित्याकाश में प्रभुत्व अलंकार सम्प्रदाय का ही था। इस काल के गण्यमान आचार्यों, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट सभी की दृष्टि काव्य के बहिरंग विवेचन में ही लिप्त रही, अतः आत्मभूत रस अथवा ध्वनि को ये आचार्य उसका देय नहीं दे सके। भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट सभी ने काव्य में अलंकार का प्राधान्य स्वीकार किया और रस को भी, रसवदलंकार के रूप में, इसी में समाहित कर लिया। दण्डी ने तो काव्य शोभाकारक समस्त धर्म अलंकार शब्द वाच्य ही है[1] के रूप में अपना अन्तिम निष्कर्ष भी दे दिया। आचार्य वामन ने अपने सीमित क्षेत्र में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया और अलंकार को अपनी वैयक्तिकता की छाप के साथ स्वीकार किया। उन्होंने यह अवश्य कहा कि काव्य अलंकार युक्त ही ग्राह्य है परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि सौन्दर्य ही अलंकार है[2] और सौन्दर्य का सृजन गुण करते हैं उपमादि अलंकार तो उस शोभा की वृद्धि ही करते हैं।[3] काव्यात्मा की चर्चा के प्रसङ्ग में भी उन्होंने इसी सत्य का प्रतिपादन किया है। वामन के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है रीति विशिष्ट पद संघटना ही है और वैशिष्ट्य है गुणात्मकता।[4] अतः स्पष्टतः आचार्य वामन ने भामह, दण्डी, रुद्रट की अपेक्षा अलंकार को एक व्यापक भूमि प्रदान की।

भामह और वामन के मौलिक दृष्टि भेद ने दो सम्प्रदायों के प्रवर्तक जन्म दिया। भामह की प्रतिष्ठा अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में हुई और वामन

१—काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

—काव्यादर्श।

२—काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।

३—काव्यशोभायाः कर्त्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवश्चालंकाराः।

४—रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।

—वामन—का०सू०वृ० (१।२।६ से ८ तक)।

रीति सम्प्रदाय के जन्मदाता माने गये। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय की काव्यशास्त्रीय दृष्टि अधिक अन्तर्मुखी है फिर भी वामन उस अन्तरतम को प्राप्त न कर सके जिसे आनन्दवर्धन ने प्राप्त किया क्योंकि वामन ने गुण को ही प्रधानता देकर विराम ले लिया। वस्तुतः गुण धर्म है अतः इसे धर्मी की अपेक्षा है। वामन ने गुणों की आश्रय की दृष्टि से विचार ही नहीं किया इसीलिये वे अपनी ध्वन्यात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति नहीं दे सके। रस को ही साहित्य के प्रमुखतम तत्व, आत्मा के रूप में उद्घोषित करने वाले आनन्दवर्धन के लिए वस्तुतः वामन ने ही इस प्रकार पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

ध्वनिकाल :—

आचार्य आनन्दवर्धन की अवधारणा काव्यशास्त्रीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि मात्र यह ही एक ऐसा सिद्धान्त है जिसकी प्रभविष्णुता अनेकों विरोधों के उपरान्त भी ज्यों की त्यों रही। वैयाकरण, साहित्यिक, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक सभी सम्प्रदाय ध्वनि सिद्धान्त के विरोध में उठ खड़े हुए किन्तु अभिनव गुप्त ने व्याकरण के नियमों से ही वैयाकरणों को परास्त किया, मीमांसा की भूमि पर ही मीमांसकों से निबटारा कर लिया। अभिनव के उपरान्त आचार्य मम्मट ने इस ध्वनि सिद्धान्त को पुष्पित और पल्लवित किया। अतः अनेकानेक अग्निपरीक्षाओं को उत्तीर्ण करता हुआ ध्वनि सिद्धान्त अन्ततः सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

यद्यपि यह सत्य है जिस ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन का श्रेय आनन्दवर्धन को दिया जाता है उसका पूर्वाभास, सूक्ष्म रूप में ही सही, पूर्वाचार्यों द्वारा हो चुका था। आनन्दवर्धन ने मात्र व्यापक, मौलिक और तथ्यपरक समीक्षा दृष्टि की स्थापना का सद् उद्योग किया जिससे सृजन-परक समस्त काव्यशास्त्रीय घटकों का उचित सन्निवेश सम्पादित हो सका। पूर्वाचार्यों से ध्वनिवादी आचार्यों का वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि उन्होंने काव्यशास्त्रीय मूल्यों की विवेचना सहृदयता की भूमि पर की जिसमें सूक्ष्म शास्त्रीय चिन्तना, तथ्यों की सम्यक विश्लेषणा और निर्भ्रान्त तत्व के अन्वेषण की लगन के साथ ही उदार काव्य बोध और भावुक की संवेदनाओं को पूर्ण महत्व प्राप्त हुआ। इस प्रकार इन आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय परम्परा और भावुक की आस्वादात्मक संवेदना को एक सम्मिलित आधार भूमि प्रदान की।

इस ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापन के उपरान्त दो सम्प्रदायों का उदय हुआ जिसमें प्रथम है राजानक कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय, दूसरा है आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य सम्प्रदाय। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण तत्व कहा और तीन तत्वों को महत्व दिया है— (१) विदग्धता (२) भंगिमा और (३) भणिति।[१]

१—उभावेतौ बलङ्कार्यौ तयो पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भङ्गीभणितिरूच्यते ॥—व०जी० १।१० कुन्तक
वैदग्धं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गीविच्छित्तिः तया भणिति।—वृत्ति १।१० वक्रोक्ति जीवित।

अतः कुन्तक का वक्रोक्ति स्वरूप होगा कवि प्रतिभा जन्य कौशल से उत्पन्न होने वाले चमत्कार पर अवलम्बित रहने वाले अभिधात्मक रूप से विभिन्न कथन विशेष। इस प्रकार कुन्तक जिस भङ्‌गी भणिति को आत्म तत्व कहते हैं आनन्दवर्धन उसे अलंकार जननी कहते हैं। अभिनवगुप्त भी कथन के प्रकार विशेष 'उक्ति विच्छित्ति' को अलंकार कहते हैं। निरपेक्ष दृष्टि से कुन्तक के सिद्धान्त काव्यात्मा से परे शैली तत्व के अधिक सन्निकट है अतः इस सिद्धान्त की ज्योति धूमिल नहीं पड़ी।

जहाँ तक क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्प्रदाय का प्रश्न है वह आनन्दवर्धन की इसी उक्ति का विस्तार है जहाँ वे कहते हैं अनौचित्य को छोड़कर रस भंग का और कोई कारण नहीं होता प्रसिद्ध औचित्य का उपनिबन्धन रस की सबसे बड़ा रहस्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र भी यही कहते हैं—औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् अर्थात औचित्य रससिद्ध काव्य को स्थायी प्राणतत्व देने वाला तत्व है। अतः यदि औचित्य को स्वतंत्र सम्प्रदाय न मानकर रस सिद्धान्त की व्यापक व्याख्या कहा जाय तो कोई अनौचित्य न होगा। आचार्य अभिनव गुप्त ने भी इस औचित्य तत्व को आस्वादात्मकता के बिन्दु पर अनिवार्य तत्व घोषित किया है उनके अनुसार अनौचित्य से शोभा की हानि होती है। शव शरीर या संत को अलंकृत करना अनौचित्य के कारण ही हास्यास्पद है। अतः औचित्य न कोई वाद है न सिद्धान्त प्रत्युत एक ऐसी कवि चेतना है जिसकी उपस्थिति काव्य में पग-पग पर अनिवार्य है।

ध्वन्युत्तर काल :—

ध्वनि काल की समाप्ति के समय तक काव्यशास्त्रीय समस्त सम्प्रदाय प्रकाश में आ चुके थे। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं सम्प्रदायों में से एक-एक को अपना कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की और उन्हें एक सुदृढ़ मेरुदण्ड देने का प्रयास किया। किसी ने रस सम्प्रदाय का पक्ष पोषण किया तो किसी ने अलंकार सम्प्रदाय का। इन परवर्ती आचार्यों में सर्वाधिक ख्याति मिली वाग्देवतावतार मम्मट को जिन्होंने आनन्दवर्धन और अभिनव की परम्परा को पुष्ट किया। उन्होंने प्रचलित समस्त काव्य घटकों पर आनन्द वर्धन और अभिनव के विचारों का तत्वांश सुन्दर और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया।

ध्वन्युत्तर काल के प्रबुद्ध आचार्यों में उल्लेखनीय हैं रुय्यक, मरवक, वाग्भट्ट हेमचन्द्र, जयदेव, विश्वनाथ, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित और अन्तिम कड़ी के रूप में आचार्य जगन्नाथ। ध्वन्युत्तर काल को यदि व्याख्यान काल कहा जाय तो उचित होगा क्योंकि इस काल में मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ सबने अपने-अपने ढंग से पूर्व प्रचलित सम्प्रदायों की विवेचना खण्डन मण्डन के साथ प्रस्तुत की।

काव्याशास्त्रीय प्रतिपाद्य विषय :—

प्रत्येक शास्त्र की रचना निश्चित मूल्यों के आधार पर हुआ करती है। काव्य शास्त्र के भी अपने निश्चित प्रतिपाद्य है और उन्हीं आधारभूत प्रतिपाद्यों की समी-

क्षाओं ने हमें वैभवशाली काव्य परम्परा का उपहार दिया है। पूर्व विवेचित काव्य शास्त्रीय सम्प्रदायों के उद्भव और विकास का कारण ये काव्यशास्त्रीय प्रतिपाद्य विषय ही हैं। काव्य चर्चा के स्वतन्त्र होते ही विचार सरणि का प्रथमसोपान सिद्ध हुआ 'काव्य स्वरूप।' समय-समय पर आचार्यों ने इस पर विचार व्यक्त करते हुए अपने निर्णय दिये। काव्यस्वरूप के उपरान्त आचार्यों ने काव्य प्रयोजन, काव्य कारण एवं काव्यगत वैशिष्ट्य पर ध्यान केन्द्रित किया और अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुरूप इनका विवेचन प्रस्तुत किया।

कथन का तात्पर्य यह है कि भरत से जगन्नाथ पर्यन्त सभी आचार्यों की विवेचना (१) काव्यस्वरूप, (२) काव्यकारण, (३) काव्य प्रयोजन और (४) काव्यगत वैशिष्ट्य के सीमाओं में ही भ्रमण करती रही तथा इन आचार्यों ने इन मूल विषयों पर अपनी प्रज्ञा का प्रयोग कर उनके विभिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत किये यथा किसी ने काव्य प्रयोजन प्रीति और कीर्ति को बताया तो किसी ने पुरुषार्थ चतुष्टय को। इस सन्दर्भ में अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध का वह उल्लेख समीचीन होगा जहाँ वे बताते हैं कि–काव्य विशिष्ट शब्दार्थ का नाम है। इस मान्यता में किसी आचार्य को कोई आपत्ति नहीं है। आपत्ति है विशिष्टता के प्रतिपादन में। इसे कुछ आचार्य धर्म द्वारा निष्पन्न मानते हैं कुछ व्यापार द्वारा और कुछ व्यंग्य द्वारा। धर्म भी दो प्रकार के हैं। अलंकार और गुण तथा व्यापार भी दो हैं वक्रोक्ति और भोग कृत्व। इस प्रकार आचार्यों के पाँच मत तो हो जाते हैं।

समुद्रबन्धकृत वर्गीकरण की स्थूलता या सैद्धान्तिकता का विवेचन मेरा प्रयोज्य नहीं है। यहाँ इनके मतोल्लेख का प्रयोजन मात्र इस सत्य की पुष्टि करना ही है कि काव्य शास्त्रीय उन चार मूल प्रतिपाद्यों की विवेचना ही इस काव्यशास्त्रीय परम्परा की जन्मदात्री है।

काव्य-स्वरूप :

भरत से जगन्नाथ पर्यन्त काव्य स्वरूप की विवेचना करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के संरचनात्मक अवयव के रूप में शब्द और अर्थ की सत्ता सभी आचार्यों ने स्वीकार की। यह अवश्य है कि कुछ आचार्यों ने शब्दार्थ को ही काव्य की अथ और इति मान विवेचना कर डाली तो कुछ आचार्यों ने शब्दार्थ को शरीर माना और काव्यात्मा के अन्वेषण में प्रवृत्त हुए। काव्यात्मा की गवेषणा में भी कोई स्थूल से सूक्ष्म शरीर तक पहुँच कर ही रह गये तो किन्हीं आचार्यों ने सूक्ष्म शरीर से भी परे चैतन्य तत्व के दर्शन कर लिये। इस प्रकार काव्यशास्त्रीय परम्परा आचार्यों के उदार अनुदानों से सम्पन्न होती रही।

काव्य-कारण :

काव्य कवि का साध्य है अतः साधन सापेक्ष्य है। साध्य और साधन में कार्य कारण सम्बन्ध होता है और यह निर्विवाद है कि कारण कार्याश्रित होता है। काव्य के परिप्रेक्ष्य में कारण की विवेचना में लगभग सभी आचार्य एक मत हैं और वे प्रतिभा को किसी न किसी रूप में काव्यत्व का मूल कारण मानते हैं। भामह का दृढ़ विश्वास है कि प्रतिभावान् व्यक्ति में ही काव्य चेतना जागृत हो सकती है। आचार्य वामन प्रतिभा के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन, काव्यज्ञ से शिक्षा और काव्याभ्यास को भी उतना ही आवश्यक मानते हैं रुद्रट प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास दोनो को काव्य कारण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन व्युत्पत्ति से अधिक प्रतिभा को महत्व देते हैं क्योंकि प्रतिभा या शक्ति रहने पर तो अव्युत्पत्ति कृत दोष छुप जाते हैं पर प्रतिभा के अभाव में सृजित काव्य उपहास योग्य ही होता है। आचार्य मम्मट ने पूर्व प्रचलित सभी काव्य कारणों की सम्यक् समायोजना कर शक्ति निपुणता और अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य हेतु के रूप में प्रस्तुत किया।

सार यह है कि प्रतिभा या शक्ति (प्रधान कारण) व्युत्पत्ति और अभ्यास (सहकारी कारण) ही सुष्ठु काव्य के हेतु है और सभी आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से इन्हीं तत्वों का प्रतिपादन किया है।

काव्य-प्रयोजन :

कोई भी कार्य निष्प्रयोजन सम्पादित नहीं होता। इसलिए काव्य और शास्त्र का भी निश्चित प्रयोजन होता है। कहा भी गया है—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्य चित्
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत तत्केन गृह्यते ।।

अतः काव्य प्रयोजन का अस्तित्व निःसन्देह मानना होगा। भरत से जगन्नाथ तक विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से काव्य के उद्देश्य का विवेचन विश्लेषण किया है। भरत जहाँ काव्य का प्रयोजन धर्म और यश की उत्पत्ति, हित कारक बुद्धि विवर्धन और लोकोपदेश मानते हैं तो भामह पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति, कला वैच-क्षण्य, कीर्ति और प्रीति को काव्य प्रयोजन कहते हैं।

वस्तुतः काव्य एक ऐसी कला है जो अपनी पूर्णता को लिए स्रष्टा के साथ प्रतिपत्ता के अनिवार्य सहकार की अपेक्षा रखती है। जब तक भावक, भावुक द्वारा सम्प्रेषित रस का भोग नहीं कर लेता तब तक काव्य अपनी पूर्ण गरिमा को प्राप्त नहीं कर पाता। यों कहने के लिए तो सृजन स्वतंत्र निरुद्देश्य और वैयक्तिक भी होता है परन्तु उसमें अन्यपरक सोद्देश्य निर्वैयक्तिकता घुली मिली रहती है। इस तथ्य का ध्यान रख कर ही काव्य शास्त्र परम्परा ने काव्य के प्रयोजन का विवेचन कवि और

सहृदय दोनों की दृष्टियों से किया है, अतः यश व अर्थ की प्राप्ति तथा अमंगल से रक्षा जहाँ कविनिष्ठ प्रयोजन है वहीं व्यवहार ज्ञान, सद्यः परनिवृत्ति और कान्ता-सम्मित उपदेश सहृदय सम्बद्ध ।

काव्यगत वैशिष्ट्य :

काव्यगत वैशिष्ट्य विवेचना ही वह आधार है जो प्रत्येक आचार्य की मौलिक चिन्तना का आख्यान प्रस्तुत करती है । भरत से जगन्नाथ पर्यन्त अनेकानेक काव्यगत वैशिष्ट्यों का आविर्भाव तिरोभाव सम्पन्न होता रहा किन्हीं तत्वों का समावेश नाम विपर्यय के साथ हुआ तो किन्हीं का स्वरूप विपर्यय के साथ । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आचार्य के आविर्भाव के साथ काव्यशास्त्रीय तत्व परिवर्तित हुए उदाहरणार्थ भरत मुनि के समय में काव्यशास्त्रीय घटकों के रूप में लक्षण, गुण और अलंकार इन तीन तत्वों का विवेचन हुआ परन्तु भामह तक आते आते लक्षण लुप्त हो गये और अलंकारों का क्षेत्र विस्तृत हो गया । भामह के उपरान्त दण्डी ने अलंकारों का प्रभुत्व यथावत् स्वीकार करते हुए भी गुणों की संख्या का विस्तार किया और काव्य-जगत में 'रीति' तत्व की प्रतिष्ठा की जिसकी व्याख्या, विवेचना एवं महत्व निरूपण आचार्य वामन द्वारा सम्पादित हुआ । नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन ने एक नये तत्व का रूपायन किया जो पूर्व प्रचलित कुछ तत्वों का सुसंगठित रूप था उसे उन्होंने 'संघटना' नाम दिया । आनन्दवर्धन के बाद कुन्तक ने वक्रोक्ति का महत्व निरूपित किया । जिसे वस्तुतः अलंकार का ही परिवर्तित रूप कहा जा सकता है । यहाँ तक विवेचित तत्व तो काव्य की बाह्य रचना से सम्बद्ध हैं इसके अतिरिक्त कुछ विषय और हैं जो काव्य की आन्तरिकता से सम्बद्ध है जिनमें मुख्य है रस और भाव । ये काव्यशास्त्रीय समस्त तत्व सृजन की शोभा वृद्धी करने वाले तत्व हैं ।

इन तत्वों के अविरिक्त काव्याचार्यों ने एक तत्व का विशद विवेचन किया है और कवियों को उससे सतर्क रहने के लिए बारम्बार चेतावनी दी है वह तत्व है 'दोष' ।

इस प्रकार काव्यगत विशेषताओं का जो स्वरूप आज बन पड़ा है उसे निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) रस
(२) गुण
(३) अलंकार
(४) रीति ⎫
(५) वृत्ति ⎬ संघटना
(६) दोष ⎭

यहाँ तक तो काव्यशास्त्र एवं उसके प्रतिपाद्य विषयों पर एक सामान्य समीक्षा प्रस्तुत की गई है अनुवर्ती अध्यायों में इसमें निर्णीत काव्य तत्वों पर आचार्य अभिनव गुप्त के विचारों का विवेचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया जायेगा।

काव्य का आत्म तत्व :

काव्य कविगत अनुभूति और अभिव्यक्ति का संश्लिष्ट रूप है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चैतन्य आत्मा और जड़ शरीर का योग मनुष्य है। जिस प्रकार जीवन के मूल तत्व आत्मा की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से होती है उसी प्रकार काव्य के आत्म तत्व की अभिव्यक्ति 'शब्दार्थ' के माध्यम से होती है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है अतः काव्य सृजन के परिप्रेक्ष्य में भी अनुभूति रूप आत्मा तत्व और अभिव्यक्ति रूप शब्दार्थ का सापेक्ष महत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

भरत मुनि ने यद्यपि काव्यशास्त्र के प्रथम चरण में ही रस तत्व की स्थापना कर दी थी परन्तु काव्यशास्त्र में आत्म तत्व के रूप में इसकी प्रतिष्ठा बहुत देर बाद हुई। स्वतन्त्र काव्यशास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ उपलब्ध साहित्य के आधार पर आचार्य भामह और दण्डी से होता है। इन दोनों आचार्यों के काव्यशास्त्रीय विवेचन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन्होंने काव्य के शरीर तत्व अर्थात् शब्द और अर्थ पर ही अपनी समस्त चेतना केन्द्रित रखी। काव्य शरीर के सौष्ठव का विवर्धन किस प्रकार सम्भव है ? उसका अलंकरण, उसकी साजसज्जा किन-किन प्रकारों से सम्भव है ? इन सब गौड़ तत्वों पर इन आचार्यों ने मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये। आत्मतत्व की चेतना का स्फुरण इन आचार्यों में नहीं मिलता है। उनकी सम्पूर्ण विवेचना दृष्टि काव्य के बाह्य तत्व अर्थात् शरीर तत्व तक ही परिसीमित रही।

काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में आत्मतत्व के अन्वेषण का प्रथम प्रयास आचार्य वामन में परिलक्षित होता है। वामन ने गुण विशिष्ट रचनात्मिका रीति को काव्यात्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया। अपने सीमित क्षेत्र में वामन का यह प्रयास वस्तुतः स्तुत्य है यद्यपि वामन ने काव्य शरीर को छोड़ कर काव्यात्मा की ओर बढ़ने का प्रयास किया किन्तु पूर्ण सफलता प्राप्त न कर सके क्योंकि रीति के आश्रय के रूप में गुण की स्थापना तो उन्होंने कर दी परन्तु इस पर विचार नहीं किया कि गुण भी वस्तुतः गुणी सापेक्ष है। यदि वामन ने गुण के आश्रय की दिशा में थोड़ा भी विचार किया होता तो वे लक्ष्य तक पहुँच गये होते।

वामन के उपरान्त नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन ने काव्यात्मा के रूप में सार्वदेशिक, सार्वकालिक तत्व ध्वनि की स्थापना का महत्तम कार्य सम्पादित किया और स्पष्ट किया कि काव्य का चारुत्व वाच्यत्व में नहीं व्यंग्यत्व में निहित है। जहाँ शब्द और अर्थ अपने स्व को गुणीभूत कर प्रतीयमान को व्यक्त करते हैं वहाँ वह काव्य

विशेष ध्वनि नाम से विद्वानों द्वारा कहा जाता है।[१] यह ध्वनि वस्तु अलंकार और रस रूपा होती है। आनन्दवर्धन ने इस प्रकार काव्यस्थात्माध्वनि कहकर इन तीनां तत्वों को आत्म तत्व के रूप में ग्रहण किया।

अभिनवगुप्त और काव्यात्मा :

जहाँ तक आनन्दवर्धन के व्याख्याता प्रकाण्ड आचार्य अभिनवगुप्त के काव्यात्मा सम्बन्धी अभिमत का प्रश्न है वहाँ निःशंक रूप से कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त काव्य की आत्मा रस को मानते थे। यद्यपि अभिनव गुप्त मात्र टीकाकार थे अतः मूल ग्रन्थकार के वक्तव्यों का व्याख्यात्म सम्प्रेषण ही उनका क्षेत्र था फिर भी अपने इस सीमित क्षेत्र में वे अपने मूल ग्रन्थकार से एक कदम आगे बढ़ आये और निर्भीकता पूर्वक रस (रस ध्वनि) को काव्य का जीवन घोषित कर दिया।

काव्यात्मा की विवेचना के सन्दर्भ में अभिनव गुप्त लिखते हैं—'जो यह कहा गया है कि काव्य के शरीर, शब्द और अर्थ होते हैं उसमें शरीर कहने से ही यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उस शरीर में उसे अनुप्राणित करने वाली कोई आत्मा होनी ही चाहिए उनमें शब्द तो केवल शरीर भाग में ही सन्निविष्ट हो जाता है क्योंकि शरीर के स्थूलत्व कृषत्व की भाँति वह सर्वजन सम्वेद्य है परन्तु अर्थ सर्वजन सम्वेद्य नहीं होता। अर्थ मात्र की उपस्थिति काव्य संज्ञा के लिए पर्याप्त नहीं होती क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में काव्य व्यवहार नहीं होता। यद्यपि अर्थरूपत्व सभी में समान होता है फिर भी सहृदय किसी-किसी अर्थ की ही श्लाघा करते हैं अतः उसमें कुछ विशेष होना चाहिए। जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग वैशिष्ट्य के कारण ज्ञानियों द्वारा आत्मा के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है। और यह प्रतीयमान रस ही होता है। प्रतीति का अर्थ है विशिष्ट प्रकार की रसचना।[२] रस प्रतीत होता है यह दूसरी बात है कि यह प्रतीति प्रत्यक्षादि अन्य प्रतीतियों से विलक्षण होती है और चर्वणा, आस्वाद, भोग इत्यादि इसी प्रतीति के विभिन्न नाम है इसी सन्दर्भ में आगेय आनन्दवर्धन के काव्यस्य हि ललितोचितचारुणा················की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि यहाँ उचित शब्द का आशय है रस विषयक औचित्य रस ध्वनि ही काव्य

१---यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
---१।१३ ध्वन्यालोक।

२---प्रतीयमान एव हि रसः प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना।
—लोचन द्वि० उ०, पृ० ३६४।

का जीवन है।[1] अभिनव की इस रस ध्वनि में स्पष्टतः अधिक बल रस पर है ध्वनि पर नहीं। वस्तु अलंकार और रस की व्याख्या के प्रसङ्ग में अभिनव गुप्त कहते हैं कि रस ही वास्तव में काव्य का जीवन है क्योंकि वस्तुध्वनि और अलकार ध्वनि का पर्यवसान रस ध्वनि में ही होता है।[2] आचार्य अभिनवगुप्त का पूर्ण विश्वास है कि रस ही काव्य का परम तत्व है क्योंकि रस से ही काव्य का अस्तित्व बोध बना रहता है। रस के अभाव में काव्य के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

१—शब्दार्थ शरीरं काव्य मिति यदुक्तं तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मनातदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरी रभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्य धर्मत्वात्स्थूल-कृशादिवत। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेसा काव्यव्यपदेशः लौकिकवैदिक वाक्येषु तदभावात्। तदाह-सहृदयश्लाघ्य इति। स एक एव अर्थो द्विशा रवतया विवेकभिर्विभागबुद्ध्याविभज्यते। यो विशेषः स प्रतीयमान भागो विवेकभिर्विशेष हेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते।·········कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्यार्कतुमाह--काव्यस्य हीति ललित शब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचित शब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवती त दर्शयन् रसध्वनेजीवितत्व सूचयति।

—लोचन प्र० उ० पृ० ४३-४५।

२—तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदी लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिधिशेते, स च विधि निषेधाध नेकप्रकारो वस्तु शब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः यः पूर्वः क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरुपतयान्वभूत, इदानीं त्वनलङ्कार रूप एवान्यत्र गुणीभाव अभावात्, स पूर्व प्रत्यभिज्ञावलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमण न्यायेन तद्रूपाभावेन तूपलक्षित वस्तुमात्रमुच्यते। मात्र ग्रहण हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिक व्यवहार पतितः किन्तु शब्दसमर्थमाण हृदयसंवादसुन्दर विभावानुभावसमुचित प्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुराग सुकुमार सविदानन्द चर्वणाव्यापार रसनीयो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयात्मेति।

यदूचे भट्टनायकेन--'अंशत्वं न न रूपता' इति तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपालम्भः, रसध्वनिस्तु तेनेवात्मतयाङ्गीकृतः, रसचर्वणात्मनः तृतीयस्यांशस्यभिधाभवनांशद्वयोतीर्णत्वेन निर्णयात् वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रस ध्वनि पर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्।

—लोचन प्र० उ०, पृ० ५०-५२।

३—रसेनेव सर्व जीवति काव्यम्। न हि तच्छून्यं काव्यं किन्चिदस्ति तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनितु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते।

वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यमिप्रायेण ध्वनि काव्यस्यात्मेति समान्येनोक्तः

(लो० पृ० ८५)।

इन समस्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त काव्य की आत्मा रस को मानना चाहते थे। वस्तुतः अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्रीय रस और काव्यशास्त्रीय ध्वनि के समन्वय का प्रयास सर्वत्र किया है जिसके परिणाम स्वरूप रस को काव्यात्मा मानते हुए भी रस ध्वनि का प्रयोग ही किया है। सत्य तो यह है कि रस और ध्वनि दो भिन्न तत्व न होकर पूरक हैं। रस स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता वह सदैव ध्वनित होता है।

यों तो आनन्दवर्धन ने कहीं भी मात्र रसध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं कहा परन्तु उनके सम्पूर्ण विवेचन में रस की महत्ता की स्वीकारोक्ति स्पष्ट है। उन्होंने गुण दोष अलंकार संघटना सभी काव्यशास्त्रीय तत्वों का केन्द्र रस को ही माना है। सम्भवतः आनन्दवर्धन अपने इस नये सिद्धान्त द्वारा काव्यत्व की व्यापकता दिखाना चाहते हों और रस के सम्यक परिपाक के अभाव में भी वस्तु और अलंकार की दृष्टि से महत्वपूर्ण अंशों को भी काव्यत्व की श्रेणी में सम्मिलित कर लेना चाहते हों और इसीलिए ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा हो। रस के लिए ध्वनित होना अनिवार्य है। अतः रस या रसध्वनि में कोई भेद नहीं है।

अभिनव गुप्त ने अपने सम्पूर्ण विवेचन में, यद्यपि खुला विरोध भी कहीं नहीं किया है फिर भी वस्तु और अलंकार को आत्मपद प्रदान करने के लिए कहीं भी प्रस्तुत नहीं दिखते वरन् वस्तु और रस का पर्यवसान रस में ही करके उसे ही काव्यात्मा स्वीकार करना चाहते हैं।[1]

वस्तुतः आत्म तत्व एक व्यापक तत्व है। ब्रह्म के रूप में आत्मा और शरीर एक ही होते हैं यथा 'अहं ब्रह्मास्मि' में प्रयुक्त अहं आत्मनिष्ठ शरीर के लिए है किन्तु शरीर जड़ है आत्मा चेतन है। इस तरह की विभाग बुद्धि अपनाने के कारण ही हम कहते हैं आत्मा और आत्मी भिन्न हैं अन्यथा आत्मा और आत्मी का अभेद ही होता है। इसी प्रकार शब्द ब्रह्म के रूप में ध्वनि काव्य का भी एक अद्वैत तत्व है। काव्य मार्ग त्रिविध ध्वनि का विषय होता है। दूसरे शब्दों में ध्वनि ही काव्य है[2] इसलिए काव्य का अभ्यन्तर (रस) और वाह्य (वस्तु व अलंकार) दोनों ध्वनि में ही समाहित है। हाँ इतना अवश्य है कि ये वाह्य तत्व अभ्यन्तर के प्रकाश से ही ज्योतित होते हैं।

आचार्य अभिनव का कहना है कि निस्सन्देह काव्य की आत्मा ध्वनि है, किन्तु मात्र ध्वनि ही काव्यात्मा का सर्वस्व नहीं है, उसमें शब्दार्थ गुणालंकार संयुक्त रसात्म-

---

१. रस चर्वणात्मन प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमा त्मत्वमिति।
- लोचन, पृ० ३९।

२. ध्वनिरेव काव्यमिति। आत्मात्मिनोरभेद एव वस्तुतः। व्युत्पत्तये तु विभागः कृत इत्यर्थः। — — — स त्रिविधस्य ध्वने काव्य मार्गो विषय इति यावत्।
—लोचन तृ०उ०, पृ० (१२३६)।

कता का चारुत्व होना नितान्त आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तब तो 'गङ्गायां घोषः' जैसी नीरस उक्तियों को भो काव्य मानना पड़ेगा। तार्किक दृष्टि से सर्वभौम आत्म तत्व सीमित जगत के सभी पदार्थों में व्याप्त है, अतः वह घट में भी व्याप्त है फिर भी घट में जीव है। इस प्रकार का कथन नहीं किया जाता। जीव का कथन केवल प्राणधारियों के लिए ही किया जाता है। इसी सादृश्य पर मात्र ध्वनि ही नहीं वरन् रसात्मक सौन्दर्य से अभिहित ध्वनि ही काव्य की आत्मा मानी जा सकती है। परन्तु वाच्य की अपेक्षा वस्तु और अलंकार ध्वनि उत्कृष्ट होती ही है, इसी अभिप्राय से ध्वनि काव्य की आत्मा है सामान्य रूप से कह दिया गया है।[१]

काव्य पयोजन :

प्र पूर्वक युज् धातु से ल्युट् होकर प्रयोजन शब्द की निष्पत्ति होती है। 'प्रयुङ्क्ते' प्रयोजयतीति' वा प्रयोजनम् अर्थात् जो प्रयुक्त करे अथवा प्रयोजित करे उसे प्रयोजन कहते हैं। मनुष्य का कोई भी कार्य निष्प्रयोजन नहीं होता। यों भारत आध्यात्म भूमि है और यहाँ निष्काम कर्म का उपदेश दिया जाता रहा है फिर भी यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो उपदिष्ट 'निष्कामता' ही कर्म का उद्देश्य अथवा प्रयोजन बन जाती है। अतः जब व्यक्ति का प्रत्येक क्रियाकलाप सोद्देश्य होता है तो कवि का सृजन निरुद्देश्य कैसे हो सकता है? सत्य तो यह है कि जब तक व्यक्ति के समक्ष कोई स्पष्ट उद्देश्य या प्रयोजन नहीं होता वह किसी भी कार्य में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता। कहा भी गया है 'प्रयोजनमनुदि्दश्यमूढ़ोऽपि न प्रवर्तते' तो फिर प्रबुद्ध सर्जक की तो बात हीं क्या? यही कारण है कि काव्यात्मा के विषय में भले ही सभी आचार्यों ने विचार नहीं किया परन्तु काव्य प्रयोजन का विवेचन भरत से जगन्नाथ पर्यन्त सभी आचार्यों ने किया है।

भरत ने नाट्य सन्दर्भ में प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा है कि वह धर्म, यश, आयु हित व बुद्धि का विवर्धन करता है।[२] आचार्य भामह काव्य का प्रयोजन चतुर्वगसाधन के अतिरिक्त कला वैंचक्षण्य, प्रीति और कीर्ति को भी मानते हैं।[३]

१. स एवेति प्रतीयमानमात्रे पि प्रक्रान्ते तृतीय एव रस ध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहास बलात् प्रक्रान्त वृत्तिग्रन्थार्थक्ताच्च तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलङ्०-कारध्वनि तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते-इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।

—ध्वन्या० प्र०उ०, पृ० ८५

२. धर्म्यंयशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद भविष्यति ॥११२।ना०शा०।

३. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्ष्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्य निषेवणम् ॥१।२।भामह काव्यालंकार।

आचार्य वामन काव्य के मूलतः दो ही प्रयोजन स्वीकार करते हैं। कीर्ति और प्रीति।[1] उन्होंने प्रीति को दृष्ट और कीर्ति को अदृष्ट प्रयोजन कहा है

वस्तुतः काव्य का सबसे बड़ा प्रयोजन कवि की दृष्टि से भी और सहृदय की दृष्टि से भी एक ही है आनन्द अथवा प्रीति। अभिनव गुप्तपादाचार्य ने इसीलिए काव्य प्रयोजन के रूप में तीन तत्त्वों का उल्लेख (व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति) करते हुए भी प्रधानता आनन्द अथवा प्रीति की ही स्वीकार की है। अभिनव के परवर्ती, कुन्तक ने इस 'आनन्द' तत्त्व की प्रबल प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार काव्यामृत के रस से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की उत्पत्ति होती है।[2] भोज ने भी सरस्वती कण्ठाभरण में कीर्ति और प्रीति दो ही काव्य प्रयोजन माने हैं।[3] आचार्य मम्मट यद्यपि प्रयोजनों की पूरी तालिका ही प्रस्तुत करते हैं फिर भी सकल प्रयोजन मौलिभूत के रूप में वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य रसास्वादरूप आनन्द को ही महत्त्व देते हैं।[4]

अभिनवगुप्त एवं काव्य प्रयोजन :

आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है—

(१) व्युत्पत्ति (२) कीर्ति (३) प्रीति। परन्तु प्रीति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है ऐसा उनका मत है क्योंकि प्रीति ही व्युत्पत्ति की प्रयोजिका है। काव्य रसास्वादमयता के कारण हृदयानुप्रवेश की क्षमता रखता है जिससे उचित अनुचित कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्युत्पत्ति भी स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है। रस के माध्यम से सम्प्रेषित व्युत्पत्ति को ग्रहण करने के लिए व्यक्ति बाध्य हो जाता है। इसलिए वेदपुराणादि से अधिक प्रभावशाली कान्तासम्मितत्व रूप काव्य द्वारा व्युत्पत्ति मध्वावेष्ठित कटु औषधि के समान ही हृद्य हो जाती है। अतः प्रीति प्रधान हो जाती है और व्युत्पत्ति गौड़। इसी प्रकार कवि के लिए कीर्ति भी एक प्रयोजन है परन्तु उसका पर्यवसान भी प्रीति में ही होता है। जैसा कि कहा जाता है कि कीर्ति का फल स्वर्ग प्राप्ति ही है और स्वर्ग आनन्दमय अधिष्ठान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार प्रीति

१. काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थ प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात् ।१।१।५ का०सू०वृ०
२. चतुर्वर्ग फलास्वादमप्यति क्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ १।५ वक्रोक्तिजीवतम् ।
३. अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वनकीर्ति प्रीतिं च विन्दति ॥१।२ स० क०
४. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मित तयोपदेशयुजे ॥१।२ काव्यप्रकाश ।

ही एक मात्र प्रधान प्रयोजन सिद्ध होती है। अभिनव गुप्त का कथन है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्वर्ग के ज्ञान का भी अन्तिम मुख्य फल आनन्द ही है। अपने इस आनन्द की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं दुखों से छुटकारा तथा सुख की उपलब्धि ही इस आनन्द की आत्मा है और चमत्कार इसका पर्याय है।

अभिनवगुप्त की काव्य प्रयोजन विवेचना का वैशिष्ट्य यह भी है कि उन्होंने कवि और श्रोता दोनों की दृष्टियों से प्रयोजनों पर विचार किया है। यों तो समस्त आचार्यों के काव्य प्रयोजनों को विवेचक सहृदय और कवि की दृष्टि से वर्गीकृत कर देते है परन्तु अभिनव के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख द्वारा कविगत प्रयोजन और श्रोतागत प्रयोजन पर विचार नहीं किया था। अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदयगत काव्य प्रयोजन है—व्युत्पत्ति और प्रीति तथा कविगत काव्य प्रयोजन है कीर्ति और प्रीति। परन्तु कवि और सहृदय दोनों की ही दृष्टियों से प्रीति ही प्रधान है।

अपने काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मत का व्याख्यान करते हुए अभिनव गुप्त लिखते हैं—

'तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—'कीर्तिस्वर्ग फलमाहुः इत्यादि। श्रोतृणां च व्युत्पत्ति प्रीती यद्यपि स्तः यथोक्तम्

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यंकलासु च

करोति कीर्ति प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेषणम् ॥ इति ॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभु सम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विषेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुवर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।

अर्थात् काव्य के जितने भी प्रयोजन बताये गये हैं उनमें आनन्द साधना ही सर्व प्रमुख प्रयोजन है कवि के लिए कीर्ति भी एक अतिरिक्त प्रयोजन है किन्तु कीर्ति का भी प्रमुख प्रयोजन प्रीति या आनन्द का सम्पादन करना ही है। कहा भी है कि 'कीर्ति स्वर्ग फलमाहुः' इत्यादि। श्रोताओं के लिए भी यद्यपि काव्य से दो फल प्राप्त होते हैं—व्युत्पत्ति और कीर्ति। यही बात इस प्रकार कही गयी है—अच्छे काव्य का सेवन धर्म, अर्थ काम और मोक्ष में तथा कलाओं में निपुणता कीर्ति और प्रीति को सम्पादित करता है। फिर भी इन सब में प्रीति ही प्रधान है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो व्युत्पत्ति में हेतु तो वेदादि सत् शास्त्र भी माने गये है जिन्हें प्रभु सम्मित उपदेश की कोटि में रखा गया है। उन वेदादिको से काव्य की विशेषता ही क्या रह जाये जबकि काव्य का प्रयोजन भी व्युत्पत्ति मात्र हो। इसके प्रतिकूल जाया

१. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ४०।

सम्मितत्त्व विशेषता बताई गई है, अतः काव्य का प्रधान प्रयोजन आनन्द साधन ही है। धर्म अर्थ इत्यादि चारों वर्गों के ज्ञान हो जाने काभी अंतिम मुख्य फल आनन्द ही है।[१]

काव्य कारण :

काव्यत्व स्वयं स्फूर्त तत्व है। कवि का निर्माण नहीं किया जा सकता क्योंकि कवित्व जन्मजात प्रतिभा है, ईश्वरीय वरदान। काव्य शास्त्रादि का अध्येता तो गुरूपदेश से कोई भी हो सकता है परन्तु कवि कोई प्रतिभावान व्यक्ति ही बनता है।[२] कहा भी गया है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥[३]

इस निरूपण से इतना तो स्पष्ट ही है कवि में कोई शक्ति होती है जिसके फलस्वरूप वह सृजन में सक्षम होता है। यह अन्तर्हित शक्ति जिसे आचार्यों ने प्रतिभा भी कहा है मूल रूप में काव्य हेतु कही जा सकती है। विभिन्न आचार्यों ने इस मूल तत्व के साथ व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि सहकारी तत्वों की विवेचना भी काव्य हेतु के रूप में की है।

आचार्य भामह काव्य हेतुओं पर विचार करते हुए सर्वप्रथम प्रतिभा के महत्व की स्थापना करते हैं। वे उसे जन्मजात एवं ईश्वर प्रदत्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दार्थ ज्ञान, मनन चिन्तन युक्त विशिष्ट विद्वानों एवं काव्यकृतियों के अध्ययन और अभ्यास को भी वे गौण रूप से काव्य निर्माण के लिए आवश्यक मानते हैं।[४] आचार्य दण्डी ने काव्य के तीन हेतुओं का उल्लेख किया है-निसर्गजात प्रनिभा, निर्भ्रान्त लोक शास्त्र ज्ञान; और अमन्द अभियोग ये तीनों तत्व काव्य निर्माण की सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं।[५]

१. तत्रापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभु सम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितैभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्त्व लक्षणो विशेष इति प्रधान्येनानन्द एवोक्तः।
चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।
— लोचन प्र० उ०, पृ० ६६।

२ गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत् ॥ (काव्यालंकार १।५)।

३ —अग्निपुराण ३३७।३।

४ —शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वातद्विदुपासनम्!
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्य क्रियादरः ॥ (काव्यालंकार २।५)।

५ -नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभि योगो स्याः कारणं काव्य सम्पदः ॥ (काव्यादर्श १।१०३)।

आचार्य दण्डी भामह की तुलना में अधिक उदार प्रतीत होते हैं क्योंकि उनका कहना है कि जन्म जात प्रतिभा के अभाव में भी परिश्रमी अभ्यास निरत व्यक्ति गोष्ठी में विचरण करने में समर्थ हो सकता है क्योंकि पठन-पाठन एवं अध्ययन द्वारा उपासिता सरस्वती किसी किसी पर अनुग्रह करती ही है।[१] आचार्य रूद्रट ने भी शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही काव्य कारण माना है उनका कथन है कि—काव्य में असार वस्तु को दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारुता लाने के कारण के रूप में शक्ति व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्थान पाते हैं।[२] आठवीं शताब्दी के आचार्य वामन ने काव्य कारणों का विस्तृत विवेचन किया है। उनका मत है कि लोक विद्या और प्रकीर्ण काव्यांग होते है।[३] लोक का अर्थ है लोक व्यवहार।[४] विद्या के अन्तर्गत वे शब्दशास्त्र अभिधान कोश छन्दशास्त्र, कला दण्डनीति[५] आदि का ग्रहण करते हैं। प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्यतत्व अभियोग, वृद्धसेवा, प्रतिभा और अवधान का परिगणन किया गया है।[६] यद्यपि आचार्य वामन ने कवित्व बीजं प्रतिभानम्[७] कहकर काव्यत्व के लिए प्रतिभा को बीज रूप माना है और प्रतिभा विहीन सृजन को उपहास्य कहा है फिर भी उनका सम्पूर्ण विवेचन काव्य कारणों के भेदोपभेद में ही उलझ कर रह गया है परिणाम स्वरूप प्रतिभा को उसका वांछित गौरव स्थान प्राप्त नहीं हो सका है।

आचार्य आनन्दवर्धन कवित्व का प्रधान कारण शक्ति को मानते हैं उन्होंने व्युत्पत्ति से प्रतिभा को श्रेष्ठ स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि व्युत्पत्ति के अभाव में काव्य दोषों की शक्ति के द्वारा अन्तर्हित किया जा सकता है, किन्तु शक्ति के

---

१. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना, गुणानुबन्धि प्रतिभावनमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशेशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीषते॥
—काव्यादर्श १।१०४–५)।

२. तस्यासार निरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्यप्रियते शक्ति व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ (काव्यालंकार १।१४)।

३. लोको विधा प्रकीर्णन्च काव्याङ्गानि। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।३।१।

४. लोक वृत्तं लोकः। १।३।२ का० सू० वृ०।

५. शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र दण्डनीति पूर्वा विद्याः।
(१।३।३, का० सू० वृ०)।

६. लक्ष्यज्ञत्वमभियोगोवृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्चप्रकीर्णम्।
(१।३।११ का० सू० वृ०)।

७. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति (१।३।१६)

अभाव में कृत काव्य दोष शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं।[1] समन्वयवादी आचार्य मम्मट ने इन समस्त काव्य हेतुओं की सम्यक समायोजना की और कहा कि शक्ति, निपुणता (लोक शास्त्रादि के पर्यवेक्षणजन्य) और अभ्यास सम्मिलित रूप से काव्य हेतु है। वस्तुतः मम्मट का यह निष्कर्ष यथार्थवादी और अक्षरशः सत्य है क्योंकि अभ्यास और निपुणता से किया गया सृजन बुद्धि को चमत्कृत करने में भले ही समर्थ हो जाये हृदय ग्राह्य नहीं होता, उसी प्रकार यद्यपि प्रतिभा कवित्व बीज है फिर भी व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में मात्र प्रतिभा से उत्कृष्ट सृजन सम्भव नहीं है। इसलिए प्रतिभा के साथ अभ्यास और निपुणता का सहकार ही कालजयी सृजन की सृष्टि कर सकता है। इस दृष्टि से प्रतिभा को मूल कारण और व्युत्पत्ति और अभ्यास को सहकारी कारण अथवा गौड़ कारण कहा जा सकता है।

आचार्य अभिनवगुप्त और काव्य हेतु :—

जहाँ तक आचार्य अभिनव का सम्बन्ध है वे प्रतिभा को ही काव्य हेतु कहते है। उन्होंने काव्य रचना में दो तत्त्वों को महत्त्व दिया है प्रथमतः प्रख्या (कवि प्रतिभा) दूसरी उपाख्या (वर्णना शक्ति) लोचन के प्रथम मंगलचरण श्लोक में ही वे कहते हैं —'क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं' अर्थात् अनुभूति और अभिव्यक्ति के क्रम से निसृत सरस्वती तत्व काव्यजगत् को मनोरम बना देता है।

वस्तुतः काव्य सृजन कवि का विशिष्ट व्यापार है जो चिन्तना से प्रारम्भ होकर वर्णना में समाप्त होता है। कहा भी गया है —

'नोऽदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना'

तथा —

दर्शनात्वर्णनाच्च रूढालोके कवि श्रुतिः'

अतः स्पष्टतः काव्यत्व की संज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रतिभा की, चिन्तना की अभिव्यक्ति उतनी ही अनिवार्य है जितनी श्रेष्ठ काव्य सृजन में प्रतिभा की उपस्थिति। प्रतिभा की व्याख्या करते हुए लोचन में अभिनवगुप्त ने लिखा है कि —'प्रतिभा का अर्थ है अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम बुद्धि। उसका वैशिष्ट्य है रस के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त निर्मलता द्वारा सौन्दर्य मय काव्य निर्माण करने की शक्ति।[2]

इस प्रतिभा की कार्य प्रणाली का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य अभिनव कहते है कि यह सृजनात्मिका शक्ति लौकिक बोधावस्था का त्याग कर उन्मीलित

१. अव्युत्पत्ति कृतोदोषः शक्तया संव्रियते कवेः !
यस्त्वशक्ति कृतस्तस्य झटित्येवभासते !। —ध्वन्यालोक ३।३।६ वृ० पृ० ३१३।

२. अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा। तस्या विशेषो रसवेश वैशद्य सौन्दर्य काव्य निर्माण क्षमत्वम्। —लोचन—प्र०उ०, पृ० ११७।

होती है[1] तथा विभावादि की संयोजना मे रसादिनिष्पत्ति पर्यन्त समस्त कार्य व्यापार से युक्त रहती है। साथ ही क्षण-क्षण नये-नये वैविध्यों के साथ संचरण करती है एवं उनका आंकलन करती है।[2]

अभिनवगुप्त का कथन है कि प्रतिभा गुण ही काव्य की अनन्तता का सम्पादक है। यदि प्रतिमा का गुण विद्यमान हो तो ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य के विभिन्न प्रकारों का आश्रय लेने से उस प्रतिभाशाली कवि के समक्ष नये-नये अर्थ आते जाते हैं।[3] अतः नवीन अर्थों के स्फुरण के लिए प्रतिभा का होना अनिवार्य है। कवि के लिए यही एक शर्त है।

आचार्य अभिनवगुप्त के उपर्युक्त मन्तव्यों से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वे काव्य हेतु के रूप में प्रतिभा को ही विशेष महत्व देते हैं। प्रतिभा भी वही जो नवनवोन्मेष कहलाता है। प्रकृति ने शब्द ध्वनि रंग रेखा, पत्थर, लकड़ी आदि अनेक द्रव्य प्रदान किये हैं जिनकी आध्यात्मिकता प्रगट नहीं होती। प्रतिभा इन द्रव्यों को अपनी अनुभूति का माध्यम बनाती है जिससे इन पदार्थों में दया, प्रेम, लज्जा, ओज शालीनता उल्लास ही नहीं वरन् इनसे भी अधिक गम्भीर अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष हो उठती हैं। इस प्रकार सौन्दर्य के क्षेत्र में प्रतिभा आदि से 'इति' तक कई क्रियायें सम्पन्न करती है।

---

१. सृजनात्मक क्षण में हमारी चेतना अपने उसी अनुभव का साक्षात्कार करती है जिसे उसने लोक भूमि आरूढ़ हो इन्द्रिय मन बुद्धि (करण शक्तियों) द्वारा वाह्य पदार्थ के सम्पर्क से पाया था। अतः सृजन के क्षण में व्यक्ति अपने अंगीकृत अनुभवों का ही साक्षात्कार करता है वाह्य पदार्थों का नहीं। प्रकृति से एकाकार होकर चेतना वाह्य प्रकृति के पदार्थों का जो अनुभव करती है वही सृजन स्तर पर उसका स्वानुभव कहा जाता है एवं उसका बोध स्वसम्वेदन कहलाता है। इसीलिए काव्यगत वस्तु स्वता प्रमाण कही जाती है द्रष्टा या श्रोता जिस चित्तवृत्ति द्वारा उसे ग्रहण करता है उसे आस्वादन चर्वणा या रसना कहते है।

२. निष्पादन प्राणो हि रस इत्युक्तर्। तत्र विभावादियोजनात्मिका वर्णना, ततः प्रभृति बटना पर्यन्ता क्रिया व्यापारः तेन सततयुक्ता रसानिति। रस्यमानतासारान् स्थायिभावान् रसयितुं रस्यमानतापतियोग्यान् कर्तुम्। कचिदिति। लोकवार्ता पतितबोधावस्था त्यागेनोन्मीलन्ति। अतएव ते कवयः वर्णनायोगात् तेषान्। नवेति। क्षणे-क्षणे नूतनैर्नूतनेर्वैचित्र्यंजंगन्त्यासूत्रयन्ती। दृष्टिरिति प्रतिभा रूप। – लोचन—तृ० उ०, पृ० १२६६।

३. विद्यमानो ह्यसौ प्रतिभागुण उक्तरीत्या भूयान् भवति, नात्वन्यन्तासन्नेवेत्यर्थः। तस्मिन्निति। अनन्ती भूतं प्रतिभागुणे किन्चिदेवेति। सर्व हि पुराण कविनैव स्पृष्टमिति किमिदानीं वर्ण्य यत्र कवेर्वर्णनाव्यापारः स्यात्। ननु यद्यपि वर्ण्यमपूर्व नास्ति, तथाप्युक्तिपरिपाकगुम्फघटनाद्यापरपर्यायबन्धच्छाया नवनवा भविष्यति। —लोचन - तृ० उ० पृ० १३६५।

तृतीय अध्याय

काव्यशास्त्रीय उपादानों का समीक्षात्मक मूल्यांकन

१. शब्द शक्ति
२. ध्वनि
३. रस
४. गुण
५. अलङ्कार
६. संघटना
७. दोष

शब्द शक्ति

संसार का साधारण नियम है कि जो जितना अधिक समीप होता है अन्तरंग और अभिन्न होता है उसकी व्याख्या उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन होती है। जिन आँखों से सर्वभूत जगत् को हम देखते हैं स्वयं उन्हीं आंखों को देख पाना असम्भव है। काव्य लालित्यमयी शब्द संरचना है। शब्दों का आश्रय लेकर भावुक की अमूर्त कल्पनायें मूर्त हो सहृदय सम्वेद्य बनती हैं। शब्द अपने व्यापक रूप में भाषा का वाचक हैं। साधन बने हुए इस शब्द का साध्य रूप में निरपेक्ष मूल्यांकन असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है–"येनोच्चरितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययोभवति स शब्दः तथा अथवा प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। महर्षि की इन दो परिभाषाओं से शब्द का जो स्वरूप उद्भासित होता है वह है उसका उच्चरित होना तथा अर्थावबोधन की क्षमता से युक्त होना। दूसरे शब्दों में ज्ञापकत्व ही शब्द का स्वरूप है और उस शब्द विशेष से प्रतीत होने वाला अर्थ तत्व है ज्ञाप्य। "सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे की धारणा से स्पष्ट ही है कि वैयाकरण शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य मानते हैं वस्तुतः शब्द और अर्थ जल और उर्मि के तुल्य है जो भिन्न न होते हुए भी भिन्न होता है। शब्द और अर्थ के मध्यवर्ती व्यापार को आचार्यों ने शक्ति का नाम दिया है। अतः शब्द शक्ति को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि शब्दों में निहित अर्थ अवबोधन की क्षमता प्रक्रिया को शक्ति व्यापार या वृत्ति के नाम से अभिहित किया गया है।

काव्य में प्रयुक्त शब्दों में सन्निहित अर्थ का बोध जिसके द्वारा होता है उसे ही शब्द शक्ति कहते हैं। इस प्रकार उच्चारणाश्रित होकर ध्वनि, शब्द बनता है और पदार्थ के प्रत्यायन व्यापार से वाचक कहलाता है। साहित्य में शब्द मात्र का महत्व नहीं होता अर्थ के साथ शब्द का इसी अपरिहार्य सम्बन्ध की ओर ही 'साहित्य' शब्द का संकेत है। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में बोध्य या ज्ञाप्य अर्थ को ध्यान में में रखकर शब्दों का वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक के रूप में त्रिधा विभाजन किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे इस सिद्धान्त में शब्द के साथ जहां अर्थ का नित्य सम्बन्ध स्वीकारा गया है वहाँ नित्य सम्पृक्त अर्थ को समझाने में

१–उच्चरिते सति अर्थ ज्ञापकत्वम्–उच्चारण > शब्द > ज्ञापन > अर्थ = ज्ञाप्य।

व्यापार की पृथक गणना क्यों? सम्बन्ध की नित्यता के कारण अर्थावबोधन के बिना तो शब्द की शब्दता ही नहीं रहेगी। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है उच्चारण और बोधन दो व्यापार है–उच्चारण के विरत होने पर शब्द आया और वह व्यापार समाप्त हो गया 'शब्दबुद्धिकर्मणाँ विरम्य व्यापाराभावः' इस न्याय से शब्द एक द्वितीय व्यापार की सहायता से पूर्व निर्दिष्ट अर्थ को ज्ञापित करता है। शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध नित्य है वह पूर्वनिर्दिष्ट अर्थ मात्र से है–तदतिरिक्त अर्थ से नहीं, अतः अर्थ के अनन्त विलास जो साहित्य का प्राण है, के लिए अभिधा के अतिरिक्त अन्य व्यापारों की कल्पना अनिवार्य है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि अर्थ के परिप्रेक्ष्य में शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं–वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन तीन प्रकार के शब्दों में निहित अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाली तीन शक्तियां हैं–वाचक शब्द की अर्थबोधक वृत्ति अभिधा कहलाती है। लक्षक की लक्षणा तथा व्यंजक शब्दों का अर्थावबोध व्यंजना शक्ति के माध्यम से होता है। इनमें से प्रथम दो शक्तियां तो निर्विवाद रूप से नैयायिक मीमांसक वेदान्ती सभी के द्वारा स्वीकार कर ली गयी हैं। परन्तु व्यंजना शक्ति की स्थापना का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को दिया जाता है।

यद्यपि व्यंजना शब्द का प्रयोग भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है परन्तु व्यंजना के मूल तत्त्व को पहचान कर उसे काव्य की अनिवार्यता के रूप में प्रतिष्ठित करने का महत् कार्य आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा ही सम्पन्न हुआ। अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक की रचना ही उन्होंने व्यंजना के स्वरूप को प्रकाशित कर काव्य में उसके ही सर्वातिशायी महत्व का प्रतिपादन करने के लिए किया है। व्यंजना की स्थापना के सन्दर्भ में ही पूर्व प्रचलित अभिधा तथा लक्षणा शक्ति को व्यंजना के भवन की भूमिका के रूप में ग्रहण किया है।[१] वस्तुतः अभिधा और लक्षणा की विवेचना पिष्टपेषण ही होता है, अतः आचार्य ने व्यंजना के सन्दर्भ में ही इन पूर्वोक्त शक्तियों को ग्रहण कर विवेचन किया है। अतः अभिधा एवं लक्षणा इन दो शब्द शक्तियों का जितना विस्तृत विवेचन अन्य ग्रन्थों में है उतना ध्वन्यालोक में नहीं मिलता।

शब्दशक्ति का विचार और उसकी परम्परा :

परमतत्व के रूप में शब्द ब्रह्म की स्थापना करते हुए वैयाकरण सम्प्रदाय ने समग्र जगत प्रपन्च को उसी अक्षर शब्द तत्व का अर्थ के रूप में विवर्तन माना है। अतः यदि यह कहा जाय कि शब्द शक्तियों की चर्चा दर्शन के क्षेत्र का प्रमुख विषय

१––यथा अपूर्व निर्माणे चिकीर्षिते पूर्व भूमिर्विरच्यते तथा ध्वनि स्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्ध वाच्याभिधानं भूमिः।
–लोचन प्र० उ० ६६।

रहा है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भारतीय षड् दर्शनों में मुख्यतः न्याय और मीमांसा दर्शन में शब्द अर्थ और उसकी शक्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

शक्ति ही वह तत्व है जिससे सम्पूर्ण विश्व संचालित है। जिस प्रकार अग्नि में दाहकता होती है और जल में शामकता उसी प्रकार शब्द में बोधकता रूप शक्ति होती है जिसके कारण वह अर्थ अवबोधन में सक्षम होता है। कुछ आचार्य शब्द की एक ही शक्ति स्वीकार करते हैं वह है अभिधा शक्ति, परन्तु मीमांसक दो शक्तियों को स्वीकार करते हैं—अभिधा और लक्षणा। वस्तुतः शब्द के दो प्रकार के व्यापार स्वीकार किये गये हैं—(१) मुख्य व्यापार (२) अमुख्य व्यापार। इसमें से मुख्य व्यापार को मानने में तो किसी को आपत्ति नहीं है किन्तु अमुख्य व्यापारों की मान्यता के विषय में मतभेद है।

आचार्य भट्टलोल्लट के अनुयायी—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः की मान्यता के आधार पर केवल अभिधा को ही स्वीकार करना चाहते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार चलाया हुआ एक ही बाण शत्रु के कवच का भेदन करता है, मर्मस्थान को विदीर्ण करता है और प्राण हरण भी करता है, उसी प्रकार महाकवि द्वारा प्रयुक्त शब्द भी अभिधा व्यापार के द्वारा ही पदार्थोपस्थिति तात्पर्यबोध और व्यंग्यार्थबोध करा देता है। परन्तु अभिनवगुप्त ने मीमांसकों के इस मत का खण्डन उन्हीं की युक्तियों के आधार पर किया है। उनका कहना है कि यदि शब्द का दीर्घदीर्घ तर व्यापार होता जाता है तो सब व्यापारों को एक ही व्यापार कैसे कह सकते हैं क्योंकि समस्त व्यापारों में उनके विषय बदलते जाते हैं। अतः विभिन्न व्यापारों को असजातीय मानना होगा। यदि विभिन्न व्यापारों को सजातीय मानें तो पदार्थविदों के द्वारा स्वीकृत शब्द बुद्धि और कर्म के विरम्य व्यापाराभाव के सिद्धान्त को जलांजलि देनी पड़ेगी। अतः व्यापारों की असजातीयता स्वीकार कर शब्द की पृथक् शक्तियों का सिद्धान्त ही स्थिर रहता है।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि स्थापना के लिए आनन्दवर्धन की ही सूत्र रूप से कही गई उक्त-अभिधा व्यंजना के लिए भूमिका रूप है--का पूर्णाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया। मुख्य और गौण या अमुख्य के रूप में दो प्रकार की शक्तियों को मानने का तर्क संगत परिणाम यही है कि व्यंग्य अर्थ के लिए अतिरिक्त व्यापार माना जाय।

१--योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घ दीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तेदकोसाविति-कुतः ? भिन्नविषयत्वात् अथानेकोऽसो, तद्विपयसहकारिभेदादसजातीय एवयुक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्धयादीनां पदार्थ विद्भिः निषिद्धः। असजातीयं चास्मन्नय एव। —लोचन, पृ० १०२।

मीमांसकों में अभिहितान्वयवादी तो तात्पर्य-वृत्ति भी मानते हैं, अतः उनकी दृष्टि से व्यंजना न मानने में प्रबल युक्तियां नहीं हैं। इसके विपरीत जो अन्विताभिधानवादी तात्पर्यवृत्ति नहीं मानते उनकी युक्तियों का भी आचार्य ने युक्ति संगत खण्डन प्रस्तुत किया है। अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा-इन तीन वृत्तियों के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त के विचार ही परवर्ती समीक्षकों के शब्द शक्ति विवेचन का आधार है।

अभिधा :

आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में संकेत की अपेक्षा करते हुए अर्थावगमन की शक्ति अभिधा कही जाती है।[१] इसे ही मुख्य वृत्ति के नाम से सम्बोधित किया गया है। किसी अर्थ के लिए शब्द का नियत होना उस अर्थ में उस शब्द का संकेत कहलाता है। यह संकेत परम्परागत रूप से उपलब्ध होता है। आचार्य नागेश भट्ट ने अपनी 'परमलघुमंजूषा' में लिखा है—

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

तात्पर्य यह है कि सकेतग्रह निम्नांकित आठ प्रकार से होता है (१) व्याकरण, (२) उपमान (३) कोश (४) व्यवहार (५) वाक्य विशेष (६) आप्तवाक्य (७) विवृत्ति और (८) सिद्ध पद सान्निध्य।

यह संकेतित अर्थ जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप चार प्रकार का होता है। मीमांसक शब्द का मुख्यार्थ एकविध ही मानते हैं और उसे वे जाति रूप व्यापार कहते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार अभिधा पदार्थोपस्थापन में ही प्रक्षीण हो जाती है। पदार्थों के अन्वय की उपपत्ति के लिए वे तात्पर्या शक्ति को स्वीकार करना चाहते हैं।[२] कारण यह है कि अभिधा का व्यापार रुक रुक कर सम्भव नहीं है। यदि अभिधा विशेषण में उपक्षीण हो चुकी हो तो वह विशेष्य को प्राप्त नहीं होती।[३] यदि उसे विशेष्य को प्राप्त कराने की चेष्टा की जायगी तो आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष की सम्भावना बढ़ जायेगी।

तात्पर्य यह है कि जब आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि का ध्यान रखते हुए कुछ सार्थक शब्द समूह का चयन किया जाता है तो वह शब्द समूह वाक्य कहलाता है।

---

१. समयापेक्षावाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। —लोचन प्र० उ०, पृ० ८७
२. प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधा शक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्युपक्षीणाया विरम्य व्यापाराभावात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वय प्रतिपत्तिः। —लोचन प्र० उ० पृ० ९०
३. विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्–इत्यादिनाभिधा व्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्। —लोचन प्र० उ० पृ० ८५

इस वाक्य में दो प्रकार का अर्थ होता है-(१) पदार्थ (२) वाक्यार्थ। अभिनवगुप्त का कथन है कि पदार्थ की उपस्थिति अभिधा वृत्ति के द्वारा होती है तथा वाक्यार्थ का बोध तात्पर्याशक्ति से होता है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है संकेत की अपेक्षा करते हुए वाच्य की अवगमन शक्ति अभिधा कहलाती है। संकेत ग्रहण समस्त वाक्यों में नहीं हो सकता क्योंकि वाक्य अनन्त होते हैं। वाक्य में शक्ति मानने पर अनन्त शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः स्पष्ट है कि अभिधावृत्ति से वाक्यार्थ बोध नहीं हो सकता क्योंकि उससे आनन्त्य दोष होगा। यदि एक वाक्य में संकेत ग्रह से शक्ति मानी जाय एवं अन्य वाक्यार्थों का बोध उसी आधार पर किया जाय तो नियमातिक्रमण होने से व्यभिचार दोष हो जायेगा। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अभिधा से मात्र पदार्थ बोध होता है यही आचार्य अभिनवगुप्त की सम्मति है।

लक्षणा :

शब्द की दूसरी शक्ति का नाम लक्षणा है। जब अभिधा शक्ति अपने अभिधेय के द्वारा वाक्यार्थ के अन्वित निरूपण में असमर्थ हो जाती है तो इस शक्ति का उपयोग होता है। यह शक्ति अभिधा से भिन्न होती हुई भी अभिन्न है क्योंकि लक्षणा में जहां एक ओर मुख्यार्थ का बाध होता है वहीं दूसरी ओर तद्योग अर्थात् मुख्यार्थ सम्बद्धता की अपेक्षा भी होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने लक्षणा के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है - मुख्यार्थ के बाध में ही लक्षणा की प्रक्लृप्ति होती है। इसी सन्दर्भ में 'बाध' का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है विरोध की प्रतीति का होना ही बाध है। यह विरोध दो प्रकार से हो सकता है, पदार्थों का आत्मगत विरोध अथवा अन्वयगत विरोध। अभिनवगुप्त का मत है कि पदार्थों का अपनी आत्मा में विरोध नहीं होता, अतः जब विरोध के प्रतीति हो तो उसे अन्वय जन्य ही समझना चाहिए। अन्वय की प्रतीति अभिधा शक्ति से नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थं प्रतिपत्ति में उपक्षीण उस अभिधा का पुनः व्यापार नहीं हो सकता, अतः तात्पर्याशक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति होती है।[1] परन्तु जब इस तात्पर्याशक्ति द्वारा उपस्थिति अन्वय में विरोध प्रतीति गोचर होने लगना है तो उस व्यवधान को दूर करने में निपुण, अभिधा तथा तात्पर्या

१--मुख्यार्थ बाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोध प्रतीतिरेव नचात्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इतिचेत्-सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। नचाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोध प्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थ प्रत्युपक्षीणाया विरम्याव्यापाराद् इति तात्पर्यशक्त्येवान्वयप्रतिपत्तिः।
--लोचन प्र० उ०, पृ० ९०।

से व्यतिरिक्त लक्षणा नाम की तृतीय शक्ति सम्मुल्लसित हो जाती है।[१] उदाहरण के लिये 'गङ्गायांघोषः' इत्यादि स्थलों पर अभिधा से पदार्थ बोध हो जाता है परन्तु जब तात्पर्या वृत्ति से इसके अन्वय की चेष्टा की जाती है तो योग्यता के अभाव में वह प्रतिहत हो जाती है अतः अब इसके अर्थावबोधन के लिए जो शक्ति प्रस्तुत होती है वह लक्षणा ही है।

अभिनवगुप्त के विचार के अनुसार लक्षणा का लक्षण इस प्रकार संयोजित किया जा सकता है–'मुख्यार्थ बाध इत्यादि (अर्थात् मुख्यार्थ बाध तद् योग रूढ़ि य प्रय जन) सहकारियों की अपेक्षा करते हुए अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति लक्षणा शक्ति होती है।[२] मुख्यार्थ बाध इस लक्षणा का जीवन है।[३] मुख्यार्थ के कारण संकेत ग्रह भी होता है, इसलिए लक्षणा अभिधा की पुच्छभूता है।[४]

लक्षणा के द्वितीय सहकारी तद्योग पर विचार करते हुए उसे आचार्यों ने पांच प्रकार का कहा है––(१) सामीप्य (२) सारुप्य, (३) समवाय (४) वैपरीत्य तथा (५) क्रिया योग।[५]

वस्तुतः लक्षणा एक प्राचीन शब्द शक्ति है अतः विभिन्न आचार्यों ने अपने अपने ढंग से इसके स्वरूप एवं भेदोंपवेदों पर विचार किया है[६] यही कारण है कि कहीं इसे भक्ति कहा गया है तो कहीं गुणवृत्ति। किसी ने इसे उपचार कहा है तो किसी ने लक्षणा। आचार्य अभिनवगुप्त ने लक्षणा के प्रचलित समस्त शब्दों की व्याख्या कर इनकी एकरूपता के स्पष्टीकरण का प्रयास किया है।

सर्वप्रथम भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति दिखाते हुए इस एक शब्द में ही लक्षणा के तीनों सहकारियों का निर्देश कर दिया है। उसका कहना है कि––

---

१. सिंहो माणवाकः इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्ति समर्पितान्वयबोधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुण लक्षणाभिधाना समुल्लसति। –लोचन प्र० उ०, पृ० ६१।

२. मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थ प्रतिभासन शक्तिलक्षणा शक्तिः।
–लोचन प्र० उ०, पृ० ६८।

३. मुख्यार्थ बाधो लक्षणाया जीवितमिति। –लो० प्र० उ०, पृ० ३१७।

४. तथैव चामुख्यतया सङ्केतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधापुच्छ भूतैव सा।
––लोचन प्र० उ०, पृ० ३०६।

५. अभिधेयेन सामीप्यात्सारुप्यात्समवायतः
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पन्चधामताः ॥
––लोचन, पृ० ५३।

६. मीमांसक लक्षणा और गुणवृत्ति को दो अलग शक्तियां स्वीकार करते हैं कुछ लोग गुणवृत्ति को गौणी के नाम से लक्षणा का ही एक भेद कहते हैं।

(१) मुख्यार्थ का भङ्ग अर्थात् बाघ भक्ति है (भनज आमर्दन)
(२) गुणसमुदायवृत्ति वाले शब्द का तैंक्षण्य इत्यादि अर्थ भाग भक्ति कहलाता है। (भज विभाग)
(३) सामीप्य तैंक्षण्य इत्यादि प्रतिपाद्य अर्थ में श्रद्धातिशय भक्ति है।[१] (भज् सेवायाम्)

इनके द्वारा बाघ, निमित और प्रयोजन परक व्युत्पत्तियां दिखाकर एक भक्ति में गुणवृत्ति, लक्षणा और उपचार इन तीनों का ही सद्भाव दिखा दिया है। भक्ति को वे लक्षणा व्यापार कहते हैं।[२] गुणवृत्ति की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनव कहते हैं कि —

(१) गुणतया वृत्ति व्यापारों गुणवृत्तिः। गुण अर्थात् साधारण धर्म, उसके आधार पर अन्य अर्थ में अन्य शब्द का व्यवहार अर्थात् वृत्ति ही गुण वृत्ति है।
(२) गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः अर्थात् अमुख्य अर्थ में शब्द का प्रयोग गुण-वृत्ति।

परवर्ती आचार्यों ने इस गुण वृत्ति को गौंणी लक्षणा नाम से लक्षणा का एक भेद कहा है। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन मुख्यतः गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं और उनके अनुसार उसका स्वरूप निम्नांकित है :

गुणवृत्ति

(उपचार) अभेदोपचाररूपा (सादृश्य)	लक्षणारूपा (सोपादाना) (सादृश्येतर)
१—वाच्यधर्माश्रय (तीक्ष्णत्वादग्निंमाणवकः)	(मन्चाः क्रोशन्तिः)
२—व्यङ्ग्यधर्माश्रय (प्रियजनोनास्तिपुनरुक्तम्)	
३—निरूढाश्रय–लावण्याद्याः	

आचार्य अभिनवगुप्त सर्वत्र लक्षणा शब्द का प्रयोग करते दीख पड़ते हैं और वे

१—मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिः।
गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्य अर्थभागः वैक्ष्यादिः भक्तिः
भक्तिः प्रतिपाद्येसामीप्य वैक्ष्यादो श्रद्धातिशयः ॥
—लोचन प्र० उ०, पृ० ५३।

२—भक्तिर्हि लक्षणा–व्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी।
— प्र० उ० लोचन, पृ० ६३।

अभेदोपचार रूपा लक्षणा को गौणी लक्षणा कहते हैं। लोचन में उद्भासित लक्षणा के स्वरूप के आधार पर कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त ने लक्षणा के दो प्रमुख भेद बताये हैं :

(१) निरूढ़ा लक्षणा (२) प्रयोजनवती लक्षणा।

निरूढ़ा लक्षणा :

जहाँ मूलतः लाक्षणिक शब्द प्रयोग का कोई प्रयोजन नहीं होता वह निरूढ़ा का क्षेत्र होता है। उदाहरणार्थ लावण्यादि शब्दों को लिया जा सकता है। ये शब्द अपने स्वार्थ से भिन्न अन्य अर्थ में स्वभावतः रूढ़ हैं अतः इनमें लक्षणा के तीनों सहकारियों में से किसी की अपेक्षा नहीं रहती। अतः लावण्य शब्द अपने अर्थ लवणता से भिन्न वृद्यत्व रूप अर्थ में रूढ़ हो चुका है और इसी रूढ़ सामर्थ्य के कारण यह अभिधा के तुल्य ही अर्थबोध कराता है।[२] प्रयोग सामर्थ्य के कारण प्रयोजन जहाँ लुप्त हो जाता है और अन्यार्थ में शब्द के प्रयोग की परम्परा चल पड़ती है ऐसे ही शब्द रूढ़ कहे जाते हैं। इस सन्दर्भ में अभिनव गुप्त ने आनुलोम्य, प्रातिकूल्य, सब्रह्मचारी आदि शब्दों का उल्लेख किया है। सम्भवतः लोमों के अनुकूल मर्दन से ही इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा परन्तु विश्रान्ति 'अनुकूल' अर्थ में हुई है इसी प्रकार कूल के प्रतिपक्ष रूप में स्थित स्रोत को प्रतिकूल कहा होगा परन्तु अब इसका प्रयोग 'विपरीत' अर्थ में रूढ़ है। सब्रह्मचारी का भी मुख्य अर्थ तुल्यगुरु वाला है परन्तु प्रयोग सामर्थ्य के वशीभूत होकर यह शब्द मुख्यार्थ को विस्मृत कर चुका है और सादृश्यरूपी अमुख्य अर्थ में रूढ़ होकर अभिधा के समान ही अर्थ बोध कराता है।

प्रयोजनवती लक्षणा :

आचार्यों ने इसके दो भेद बताये हैं सादृश्य सम्बन्ध से गौणी[४] तथा सादृश्येतर

१—लावण्याधा ये शब्द स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थां दन्यत्र हृद्यत्वादी रूढ़ाः रूढ़त्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यधानशून्याः।

—लोचन प्र० उ०, पृ० २६६।

२—निरूढ़ा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादमिधानवत्। इति। ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति, न तत्र ध्वनि व्यवहारः।—लोचन पृ० ३०१।

३—आदिग्रहणेनानुलोम्यं प्रातिकूल्यं, सब्रह्मचारीत्येवमादय शब्दाः लाक्षणिकाः गृहन्ते। लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम् कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्। तुल्य गुरुः स ब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः। अन्य पुनरुपचरित एव।

—लोचन, प्र० उ०, पृ० ३०१।

४—मीमांसक गुणवृत्ति और लक्षणा को पृथक मानते हैं परन्तु अलंकारिक इन्हें पृथक शक्ति न मानकर लक्षणा का ही एक भेद कहते है उनका कहना है कि बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग लक्षणा का बीज है और वह गुणवृत्ति में भी होता ही है।

सम्बन्ध से शुद्धा। सिंहो माणवकः गौणी लक्षणा का उदाहरण है क्योंकि यह प्रयोग धर्म सादृश्य के आधार पर किया गया है।

सादृश्येतर सम्बन्ध से लक्षणा पाँच प्रकार की कही गयी है—अभिधेय के साथ (१) संयोग, (२) सामीप्य, (३) समवाय, (४) वैपरीत्य एवं (५) क्रिया योग। आचार्य अभिनवगुप्त ने उदाहरणों द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि अभिधेय के साथ संयोग का उदाहरण है--द्विरेफ इसमें बहुव्रीहि समास है अतः इसकी व्युत्पत्ति है 'दो हैं रेफ जिसमें' इससे इसका अभिधेयार्थ सिद्ध हुआ 'भ्रमर'। भ्रमर शब्द का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है षट्पद से, अतः द्विरेफ शब्द से षट्पद रूप लक्ष्यार्थ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से ले लिया जाता है। इस लक्ष्यार्थ ग्रहण में अभिधेय सम्बन्ध ही निमित्त है।

(२) सामीप्य का उदाहरण 'गङ्गाया घोषः' दिया है।

(३) समवाय सम्बन्ध का उदाहरण है यष्टीः प्रवेशय (क्योंकि यष्टियाँ स्वयं प्रवेश में असमर्थ हैं अतः पुरुषों की कल्पना अनिवार्य है।)

(४) वैपरीत्यसम्बन्ध से लक्षणा जैसे कोई शत्रु से कहे 'किमिवोपकृतं नतेन मम' (यहाँ वैपरीत्य सम्बन्ध से अपकार में लक्षणा हो जाती है)

(५) क्रियायोग अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध यथा अन्न अपहारी के विषय में 'प्राणानयंहरति' का प्रयोग (अन्न प्राण का कारण है अतः कार्यकारण सम्बन्ध से अन्न का प्रयोग प्राण अर्थ में कर दिया है।[१]

आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि उपर्युक्त पाँच भेदों वाली लक्षणा से समस्त विश्व व्याप्त है।[२]

कुछ आचार्य दूसरे प्रकार से लक्षणा के पाँच भेद बताते हैं--

'तात्स्थ्यात् तथेव ताद्धर्मात् तत्सामीप्यात् तथैव च
तत्साहचर्यात् तादार्थ्यात् ज्ञेया वै लक्षणा बुधेः ः।

१--अभिधेयेन संयोगात, द्विरेक शब्दस्य हि योऽमिधेयो भ्रमर शब्दः द्वौरेफौ यस्येतिकृत्वा तेन भ्रमरा शब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थोद्विरेफ शब्देन लक्ष्यते। अभिधेय सम्बन्धव्याख्यातरुपं निमित्तीकृत्य। सामीप्यात् गड्गायांघोषः। समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थः, यष्टीः प्रवेशय इति यथा। वैपरीत्याद् तथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चिदब्रवीति–किमि–वोपकृतं न तेन मम इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभाबादित्यर्थः यजा अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। — लोचन, पृ० ३१५।

२--एवमनया लक्षणया पन्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्।--लोचन, पृ० ३१५।

अर्थात् लक्षणा इन पाँच सम्बन्धों से होती है--

१—तात्स्थ्य-मन्चा क्रोशन्ति, ग्रामः पलायितः

२--तत्सामीप्य-गङ्गायां घोषः

(३) तत्साहचर्य--कुन्ताः प्र वशन्ति यष्टीः प्रवेशय

(४) तादर्थ्य-इन्द्रार्था स्थूला

(५) ताद्धर्म्य-सिहो माणवकः

इसमें ताद्धर्म्य सम्बन्ध से की गई लक्षणा को गौणी तथा अन्य सभी सम्बन्धों से की गई लक्षणा को शुद्ध कह सकते हैं।

वस्तुतः साहित्यजगत में शब्द शक्तियों के स्पष्ट विचार का सूत्रपात आनन्द-वर्धन से प्रारम्भ होता है और आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश में इसका सम्पूर्ण स्वरूप अपनी सूक्ष्मता के साथ उपस्थित हुआ है आचार्य मम्मट द्वारा विवेचित स्वरूप ही आज साहित्य जगत में मान्य है उनका विवेचन इस प्रकार है—

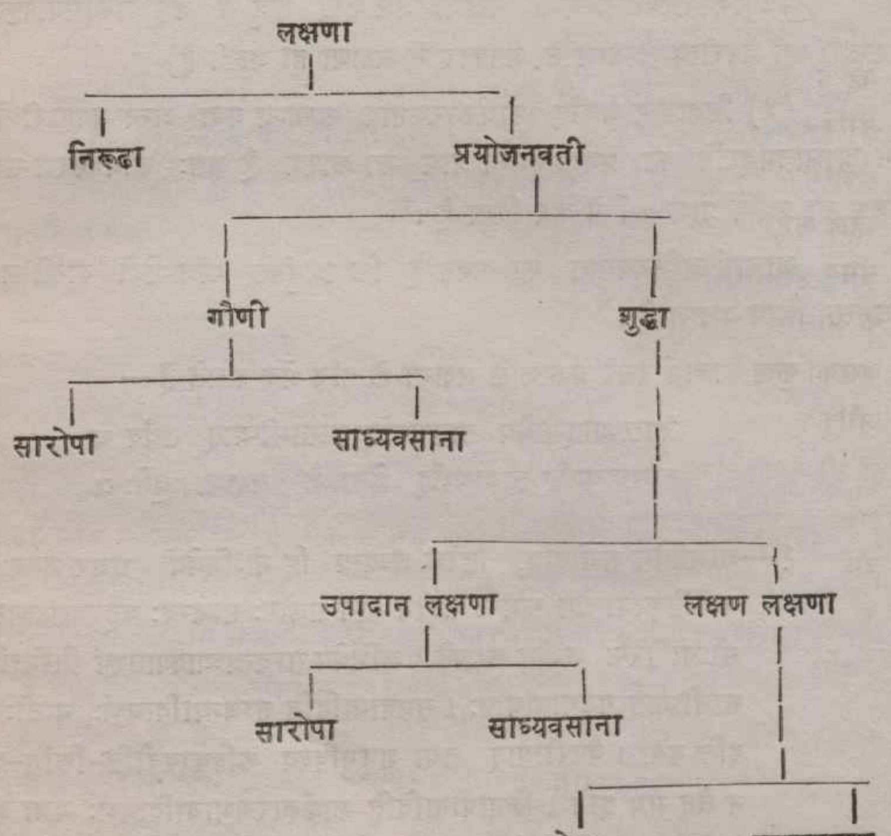

व्यंजना :

वि उपसर्ग पूर्वक अम्जू प्रकाशने धातु से निष्पन्न यह व्यंजना अद्भुत काव्य सरणी है। साहित्यशास्त्र की आधारशिला इसी वृत्ति पर आधृत है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इस शब्द का अर्थ है विशेषार्थ का प्रकाशन यह व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा के अप्रकटित काव्य सौन्दर्य को प्रकाशित करने वाली है।

कवि अपने अन्तर्गत भाव को (वर्णनीय वस्तु को) उसकी उस समग्रता में प्रस्तुत नहीं कर पाता जिस रूप में वह स्वयं उसकी प्रतीति करता है। अपनी उस विशिष्टानुभूति के प्रकाशन में कुछ सीमा तक तो वह संकेत करता है तदनन्तर मौन हो जाने के लिए विवश होता है। इस स्थिति में उसकी विराट सृजन शक्ति उन संकेतों में ऐसी सामर्थ्य भर देती है कि वे उस मौन को प्रक्षिप्त करने में सक्षम सिद्ध हो जाते हैं। इसी सामर्थ्य को शब्द का व्यंजना व्यापार या ध्वनन व्यापार कहा गया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसी व्यंग्यार्थ को प्रतीयमान अर्थ कहा है और उसकी तुलना ललना के लावण्य से करते हुए कहा है कि जिस प्रकार प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त लावण्य[1] होता है उसी प्रकार अभिधा अथवा लक्षणा के पृष्ठ पर परिस्फुरित होने वाला तत्व प्रतीयमान अथवा व्यंग्यार्थ होता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रतीयमान की व्याख्या करते हुए बताया है कि यह दो प्रकार का होता है—(१) लौकिक तथा (२) काव्यमात्रगोचर। इसमें से जो लौकिक अर्थ है वह कभी स्ववाच्यता में भी विश्रान्त होता है और विधि निषेध रूपात्मक वह अर्थ वस्तु शब्द से कहा जाता है यह भी द्विविध होता है—(१) जिसने पहले कभी वाक्यार्थ में उपमादि रूप अलंकार भाव का अनुभव किया था किन्तु इस समय दूसरे के प्रति गौण होने के कारण अनलंकार रूप ही है फिर भी पूर्व प्रत्यभिज्ञा के आधार पर ब्राह्मण श्रमण न्याय से अलंकार ध्वनि कहा जाता है। (२) जो कभी अलंकार रूपता को प्राप्त न हुआ हो वह वस्तु मात्र ध्वनि कहलाता है। यह तो हुआ लौकिक प्रतीयमान। इसके अतिरिक्त जो काव्यमात्र गोचर प्रतीयमान है वह स्वप्न में भी स्वशब्द वाच्य नहीं होता और न लौकिक व्यवहार के अन्तर्गत आता है किन्तु शब्द के द्वारा समर्पित किये जाने वाले तथा हृदय से संवाद के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाले विभाव एवं अनुभाव के योग्य हृदय में पहले से ही विनिविष्ट रति इत्यादि के संस्कार के उद्बोधन द्वारा सुकुमार स्वसंवित् के आनन्दमय चर्वणा व्यापार द्वारा जिसके स्वरूप का आस्वादन होता है वह आस्वादनीय रस होता है। केवल काव्यमात्र

१—प्रतीयमानं पुनरन्येदेववस्त्वति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥
—ध्वन्यालोक।

गोचर उसे रस ध्वनि कहा जाता है।[1] संक्षेप में उसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

- प्रतीयमान
  - लौकिक
    - अलंकार
    - वस्तु
  - काव्यमात्रगोचर
    - रस

प्रतीयमान के इन तीनों भेदों में वा च्यसामथ्र्यक्षिप्रत्व सामान्य लक्षण है।[2] यह प्रतीयमानता ही ध्वनि का स्वरूप है और यह शब्दार्थ शासन ज्ञान से सुलभ नहीं होता वरन् काव्यतत्वज्ञ ही इसके रसास्वादन से समर्थ हाता है।[3] अभिनवगुप्त क कथन है प्रतीयमान की प्रतीति सहृदयों की ही विशेषता है[4]। आचार्य मम्मट का विभाजन इस दृष्टि से सहज है —

व्यंजना के भद :

व्यंजना शब्द और अर्थ दोनों के माध्यम से सम्भव है। अतः आचार्यों ने

---

१ तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरस्थेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते। स च विधिनिषेधायनेक प्रकारो वस्तु शब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभाव-मुपमादिरूपतामान्वभूत, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणी भावात् स पूर्वं प्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मण श्रमण न्यायेन। तद्रूपता भावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्र ग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिक व्यवहारपतितः किन्तु शब्द समर्प्यमाण हृदयसंवादसुन्दर विभावानुभाव समुचित प्राग्विनिविष्ट रत्यादिवासनानुरागसुकुमार स्वसंविदानन्दचर्वणा-व्यापार रसनीय रूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रस ध्वनिरिति।

— लोचन प्र० उ०, पृ० ८१।

२—वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमति भेदत्रयव्यापकं सामान्य लक्षणम्।

—लोचन प्र० उ०, पृ० ८३।

३—शब्दार्थशासमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वैज्ञरेव केवलम् ॥७॥ ध्वन्यालोक।

४—सहृदयानामेवतह्र्ययं महिमास्तु। — लोचन प्र० अ०, पृ० १८५।

इसके दो भेद किये हैं शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना। जैसा कि नाम ही से स्पष्ट है कि शाब्दी व्यंजना में शब्दों का प्राधान्य एवं महत्व होता है तथा आर्थी व्यंजना में अर्थ का।

अभिधा मूला व्यंजना :जहाँ अनेकार्थक शब्दों के संयोगादि के कारण एक अर्थ में नियंत्रित हो जाने पर तद्भिन्न अन्य अर्थ प्रकाशित होते हैं वहाँ अभिधामूला व्यंजना का क्षेत्र होता है। इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं जहाँ पर एक अर्थ में अभिधा के नियमन का हेतु प्रकरण इत्यादि विद्यमान है उससे द्वितीय अर्थ में अभिधा संक्रान्त नहीं होती वहाँ पर यह द्वितीय अर्थ आक्षिप्त कहा जाता है।[१] इसी तथ्य का प्रकाशन आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में इस प्रकार किया है–

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते
संयोगाधेरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ (का० प्र० २।१९))

अनेकार्थक शब्दों के नियंत्रण के सन्दर्भ में वाक्यपदीय की निम्नांकित कारिकायें ही आधार है —

संयोग विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमाचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः ॥

इस प्रकार तात्पर्य यह है कि जब अभिधा शक्ति द्वारा प्रकरणादि के वशीभूत अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ का निर्णय हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, उसे अभिधा मूला व्यंजन कहते हैं। उदाहरण के लिए हर्षचरित की ये पंक्ति द्रष्टव्य है–

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्तपृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिका धवलाट्टहासो महाकालः।

यहाँ पर युग अट्टहास, महाकाल शब्दों के दो दो अर्थ हैं एक ग्रीष्मपरक दूसरा शिव परक। यहाँ प्रकरण ऋतु वर्ण का है अतः ग्रीष्म के अर्थ में अभिधा उचित नियन्त्रित हो जाती है यद्यपि रूढ़ि द्वारा शिव परक अर्थ प्राप्त है फिर भी प्रकरण के कारण ये शब्द ग्रीष्म परक अर्थ कह कर ही कृतकृत्य हो जाते हैं और शिव

१––यत्राप्यभिधाया एकत्र नियम हेतुः प्रकरणादिर्विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा संक्रामति, तत्र द्वितीयो र्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते।

— लोचन, द्वि० उ०; पृ० ५३१।

परक अर्थ की प्रतीति शब्द शक्ति मूल ध्वनन व्यापार से ही होती है।' इसी प्रकार निम्नांकित श्लोक भी शाब्दी व्यंजना का उत्कृष्ट उदाहरण है–

दत्रानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्ट सृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्ने विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमन्त्यहि संहारभाजः
दीप्तांशो दीर्घदुः खप्रभवमयोदन्वदुत्तारनावो,
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयिन्तु ॥

यहाँ 'पयोभिः' 'संहारो' तथा 'गावो' शब्द द्वि अर्थक हैं।[२] अतः यहाँ सहज ही सूर्य परक तथा गोपरक अर्थ स्फुरित होते हैं परन्तु यहाँ प्रकरण सूर्य स्तुति का है अतः अभिधा का नियमन उसी अर्थ में हो जाता है, अतः गोपरक अर्थ की प्रतीति शाब्दी व्यंजना के कारण होती है।

आर्थी व्यंजना :

जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से ही, शब्द व्यापार के बिना ही, अर्थान्तर को अभिव्यक्त कर देता है वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। जैसे–

एवं वादिनी देवर्षो पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीला कमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

यहाँ लीला कमलपत्रों की गणना लज्जा रूप अर्थान्तर को प्रगट कर रहा है। इसी प्रकार निम्नांकित उदाहरण में भी आर्थी व्यंजना का सौन्दर्य है--

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्ध्या।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निर्मीलितम् ॥

यहां लीला पद्मनिमीलन से प्रदोष समय रूपी अर्थान्तर की प्रतीति हो रही है यद्यपि प्रदोष काल किसी भी शब्द का अर्थ नहीं है।[३] फिर भी बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से लीला कमल द्वारा रजनी मुख व्यंग्यार्थ निकल आता है। इस प्रकार एक अर्थ से दूसरे अर्थ की व्यंजना के कारण यह आर्थी व्यंजना का क्षेत्र है।

१–अत्रऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अतएव अवयव प्रसिद्धेः समुदाय प्रसिद्धिर्बलीयसी इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतयः शब्द एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।
--लोचन- द्वि० उ०, पृ० ४३७।

२–पयोभिरिति पार्नीयैः क्षीरेश्च। संहारो ध्वंसः एकत्र ठौकनं न।
गावो रश्मयः सुरम्यश्च। -लोचन द्वि० उ०, पृ० ५४८।

३ –प्रदोष समयं प्रतीति शेषः। - -यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिदभिधा शक्तिः पदस्येति व्यंजकत्वं न विघटितम्, तथापि शब्देनवोक्तम यमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यंजकइति।
--लोचन -- द्वि० उ०, पृ० ५६५।

आचार्य मम्मट ने इस आर्थी व्यंजना का व्यवस्थित निरूपण अपने काव्य प्रकाश में किया है और अर्थ वैशिष्ट्य के निम्नांकित दस प्रकार बताए है–

वक्तृबोद्धव्य काकूनां वाक्यवाच्यान्यन्निधैः ।
प्रस्तावदेशकालोदेर्वैशिष्ट्यात प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव वा ॥
--काव्यप्रकाश ३।२१–२२) ।

आचार्य अभिनवगुप्त अथवा आनन्दवर्धन ने यद्यपि इस तरह का कोई स्पष्ट वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया है फिर भी आर्थी व्यंजना के सन्दर्भ में दिये गये उदाहरणों में आचार्य मम्मट की कल्पना का बीज खोजा जा सकता है। ध्वन्यालोक में प्राप्त वक्तृवैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना का उदाहरण द्रष्टव्य है —

अम्ब शेतेऽत्र वृद्धा परिणत वयसामग्रणी रत्रतातो
निश्शेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र ।
अस्मिन् पापहमेका कतिपय दिवसप्रोषित प्राणनाथा
पान्थायेत्यं तरूण्या कथितभवसख्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥

शाब्दी और आर्थी व्यंजना के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने इस तथ्य पर भी विशेष बल दिया है कि शाब्दी व्यंजना में अर्थ का तथा आर्थी व्यंजना में शब्द का सहकार अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है। आचार्य अभिनवगुप्त के ही शब्दों में -यद्यपि अविवक्षित वाच्य में शब्द ही व्यंजक होता है तथापि अर्थ की भी सहकारिता टूटती नहीं, नहीं तो न जाने हुए अर्थ वाला शब्द भी उसका व्यंजक हो जाये। और विवक्षितान्यपरवाच्य में शब्द की भी सहकारिता होती ही है क्योंकि विशिष्ट शब्द के द्वारा अभिधेयता के अभाव में उस अर्थ में भी व्यंजकता नहीं होती।[१]

दार्शनिक सम्प्रदाय और व्यंजना :

साहित्य शास्त्रीय आचार्यों के अतिरिक्त दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी व्यंजना का जम कर विरोध किया जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। शब्दार्थ विचार का उत्स दर्शन ही है अतः मीमांसक नैय्यायिक वेदान्ती सभी आचार्यों ने इस पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

---

१ —यद्यपि अविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यंजकः तथाऽप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् । विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि भवत्येव विशिष्ट शब्दाभिधेय तया विना तस्यार्थस्माव्यन्जकत्वादिति सर्वत्रशब्दार्थ योरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः ।

--लोचन प्र० उ०, पृ० १८६ ।

मीमांसक और व्यंजना :

मीमांसकों के दो वर्ग हैं--कुमारिल के अनुयायी अभिहितान्ववादी कहलाते है और प्रभाकर के अनुयायी अन्विताभिधानवादी। इनका मत है कि काव्यार्थ बोध अभिधा और लक्षणा के माध्यम से हो ही जाता है यदि काव्यस्वाद का कोई अंश निःशेष रह भी जाता है तो तात्पर्या शक्ति उसके लिए पर्याप्त है, अतः व्यंजना के स्वीकार की आवश्यकता नहीं।

अभिधा में व्यंजना के समावेश के सन्दर्भ में मीमांसको की कतिपय सूक्तियां उद्धृत की जाती है :–

(१) सोऽयमिषोरिव दीर्घ तरो व्यापार:

इसके आधार पर आचार्य गण व्यंग्यार्थ पर्यन्त अर्थ अभिधा से ही लेना चाहते हैं किन्तु इस मत के समर्थन में कठिनाई यह है कि अभिधा सांकेतित अर्थ का ही बोध करा सकती है असंकेतित अर्थ में उसकी गति नहीं है। साथ ही जब सम्बद्ध अर्थ लेने के लिए भीं लक्षणा वृत्ति मानी जाती है तब सर्वथा असम्बद्ध असंकेतित व्यंग्यार्थ अभिधा के बल पर आ सकता है, यह सर्वथा कल्पनातीत है।

(२) यत्परः शब्दः स शब्दार्थः

के आधार पर आचार्यों का कहना है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिसके लिए शब्द प्रयुक्त हुआ हो अतः व्यंगार्थ को भी अभिधा में ही समाविष्ट किया जा सकता है। इसका प्रत्युत्तर देते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है जहाँ व्यंग्यार्थ का प्राधान्य हो उस स्थल पर तो एक बार आप वाच्यार्थ को ही व्यंग्यार्थ कह सकते हैं किन्तु उस स्थल पर तो व्यंजना माननी ही होगी, जहाँ व्यंग्य अप्रधान हो। जहाँ व्यंग्य गुणीभूत होता है वहाँ दो अर्थ होते हैं एक को हम वाच्यार्थ मान लेते हैं तो प्रतीत होने वाले दूसरे अर्थ के लिए हमें एक अन्य व्यापार मानना ही होगा।[२]

(३) नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते :

इसका तात्पर्य यह है कि यह मान लिया जाता है कि यदि व्यंग्यार्थ शब्द से निकलता है तो शब्द में उस अर्थ को कहने की शक्ति विद्यमान है। उनका कहना है

१– यो-प्यन्विताभिधानवादी यत्परः शब्द स शब्दार्थ हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घ दीर्घमिच्छतितस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोसाविति कुतः ? भिन्न विषयत्वात्।
—लोचन प्र० उ०, पृ० १०२।

२– ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये वाच्यत्वमेव न्याय्यम् तद्यप्रधाने किं युक्तं व्यङ्गयत्वमिति चेत्सिद्धो नः पक्षः।
—लोचन तृ० उ०, पृ० १०४६।

कि वाक्य को सुनते ही उसका अन्तिम अर्थ (व्यंग्यार्थ) प्रतीत हो जाता है। उस व्यग्यार्थ के निमित्त भूत शक्यार्थ का बोध विशेष रूप से ध्यान देने पर हो जाता है और व्यग्यार्थ के निमित्त शक्यार्थ में संकेत ग्रहण होता ही है, अतः व्यंग्यार्थ में संकेत ग्रहण की आवश्यकता नहीं होती। इसका प्रत्युत्तर देते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं कि—नूनं मीमासकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।[१] क्योंकि इनके अनुसार कार्य पहले होता है और कारण बाद में।[१]

अतः स्पष्टतः व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि ये दो पृथक् शक्तियाँ हैं और इनका अपना अलग-अलग क्षेत्र और अलग-अलग कार्य हैं। घट और प्रदीप के समान ही एक की उपस्थिति से दूसरे का अस्तित्व विनष्ट नहीं होता।

नैय्यायिकों का अनुमितिवाद और व्यंजना :

नैय्यायिक व्यंग्यार्थ को अनुमान प्रक्रियालब्ध अर्थ बताते हैं। व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट का कथन है कि व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ का कोई न कोई संबन्ध अवश्य होता है अतः वाच्य को हेतु मानकर व्यंग्यार्थ रूप साध्य की सिद्धि की जा सकतीहै। ध्वनि के प्रसिद्ध उदाहरण से ही उन्होंने अपने मत का स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार 'भ्रम धार्मिक' में निशेध परक अर्थ इस प्रकार आ सकता है—

(१) प्रतिज्ञा —गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यम्।
(२) हेतु—भयकारण सिंहोपलब्धेः।
(३) व्याप्ति उदाहरण—यद्यत् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् यथा गृहम्।
(४) उपनय—न चेदं तीरं यथा भयकारणाभाववत् भयकारणसिंहो पलब्धेः।
(५) निगमन—तस्मात भीरु भ्रमणायोग्यम्।

इसी प्रकार रस ध्वनि को भी ये अनुमान जन्य बताते हैं परन्तु काव्य प्रकाश में आचार्य मम्मट ने इनके मत का अच्छी तरह खण्डन करते हुए इनके हेतु को हेत्वाभास सिद्ध किया है। एक तो आवश्यक नहीं कि कुत्ते से डरने वाला सिंह से भी डरे, दूसरे सिंहोपलब्धिरूप हेतु भी सिद्ध नहीं है क्योंकि वह पुंश्चली का कथन है अनुमान द्वारा व्यंग्यार्थ गतार्थ नही किया जा सकता।

१—तत्र संङ्केताकरणात्कथं साक्षात् प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु सङ्केतः नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत्—पश्यत श्रोत्रियस्य उक्ति कौशलम्। योह्यसौ पर्यन्त कक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथ भवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थाविगमाः निमित्तभावंगच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।
— लोचन प्र० उ०, पृ० १०३

वेदान्तियों का अखण्डार्थतावाद और व्यंजना :

वेदान्ती सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किन्चन इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अखण्ड ब्रह्म की सत्ता स्वीकार कर बाह्य जगत को असत्य मानते हैं अतः इनके अनुसार पद पदार्थ विभाग रहित अखण्ड महावाक्य ही अखण्ड ब्रह्म का बोधक है। वेदान्तानुसार धर्म धर्मिभावक्रिया कारक भावादि सब मिथ्या है अतः वाक्य गम्य व्यंग्यार्थ में भी ये वाक्य की ही शक्ति मानते हैं। 'त्वमसि' सोऽयं देवदत्तः आदि वेदान्तियों के ऐसे ही अखण्डवाक्य हैं। परन्तु यह इनकी पारमार्थिक दृष्टि है। व्यवहार में ये वस्तु सत्ता मानते ही हैं अविद्यावश सांसारिक पदार्थों का भान होता है जिससे व्यवहार चलता है।[1] व्यावहारिक दृष्टि से ये अभिधा और लक्षणा भी मानते हैं। तत्वमसि महावाक्य की अर्थ प्रतीति के लिए ये वेदान्ती लक्षणा के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ही नहीं जहदजहल्लक्षणा' भी मानते हैं अतः इन्हें पद पदार्थ और अर्थ के विभिन्न रूप भी मानने चाहिए, अतः निषेधपरक वाक्यों से विध्यार्थ की प्रतीति भी व्यवहारजगत में मानना ही होगा और यह प्रतीति के लिए व्यंजना मानना अनिवार्य है। अविद्या के मार्ग का परित्याग कर देने पर सब कुछ ब्रह्म है। इसमें तो किसी को आपत्ति नहीं है।[2]

व्यंजना और अभिधा :

आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन के प्रथम और तृतीय दोनों ही उद्योतों में व्यंजना के वाच्यार्थ से भेद की विवेचना की है और उनके विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) निमित्त और नैमित्तिक :

वाच्यार्थ निमित्त होता है एवं व्यंग्यार्थ नैमित्तिक, अतः जिस प्रकार कार्य और कारण को एक नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अभेद भी नहीं कहा जा सकता।

(२) स्वरूप भेद :

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का स्वरूप सामान्यतः भिन्न होता है क्योंकि वाच्य कहीं विधि परक होता है तो व्यंग्य निषेध परक। इसी प्रकार कहीं वाच्यार्थ निषेध-

---

१—अनवयमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालोकपदवर्णविभागमस्यालिङ्गम्।

२—येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न विदितं तत्वालोकं ग्रन्थं विरचयते व्यास्ताम्। —लोचन प्र० उ०, पृ० १२२।

निषेध परक होता है व्यंग्यार्थ विधि परक।[1] कहीं कहीं व्यंग्यार्थ अनुभयपरक भी होता है।[2]

(३) काल भद :

वाच्यार्थ पहले प्रतीत होता है और व्यंग्यार्थ बाद में।

(४) आश्रयभंद :

वाच्यार्थ का ज्ञान पदार्थ अथवा वाक्यार्थ पर ही आधृत है। व्यंग्यार्थ पदांश वर्ण और यहाँ तक की चेष्टा इत्यादि से भी द्योतित होता है। जहाँ वाचकत्व नहीं होता वहाँ भी व्यंजना व्यापार हो सकता है और इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि वहाँ व्यंजना हो वहाँ अभिधा भी हो।[3] यथा गीत नृत्य इत्यादि शब्दों में अभिधा व्यापार नहीं होता फिर भी रसादि रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है इतना ही नहीं मात्र चेष्टायें भी अर्थ की व्यंजक हो सकती है। यथा—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरुणाम्।
बद्घोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहारिणी हारिनेत्र त्रिभागः॥[4]

१—श्वश्रूरत्रशेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः।
—लोचन प्र० उ०, पृ० १३०।

२ व्रज ममैवैकस्या भवत्तुनिःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तथा बिना दाक्षिण्य हस्य जनिषत्॥
—लोचन प्र० उ०, पृ० १३४।

३—यदेव वाचकत्वं तदेव गमकत्वं यदिस्यादवाचकस्यगमकत्वमपि न स्यात्, गमकत्वेनैव वाचकत्वमापि न स्यात न चैतदुभयमपि गीतशब्दे शब्द व्यतिरिक्ते चाघोवक्त्रत्वकुचकम्पनवाष्पावेशादौ तुस्या वाचकस्याप्यवगमकारित्वदर्शनादवगमकारिणोऽप्यवाचकत्वेन प्रसिद्ध त्वादिति तात्पर्यम्।
—लोचन तृ० उ०, पृ० १०३४।

४—त्रिभाग शब्द इति। गुरुजनभवधीर्यापि सा मां यथा तथापि साभिलाषमन्युदैन्यगर्वमन्थरंविलोकितवतीत्येनं स्मरणेन परस्पर हेंतुकत्वप्राणप्रवास विप्रलम्भोद्दीपन त्रिभागशब्दसन्निधौ स्फुट भवति।
—लोचन तृ० उ०, पृ० ७०६।

यहाँ त्रिभाग से ही अभिलाषा मन्यु दीनता गर्व की व्यंजना हुई।

निमित्तभद :

वाच्यार्थ का ज्ञान शब्दार्थ शासन कोश एवं संकेत इत्यादि से सम्भव है परन्तु व्यंग्यार्थ बोध के लिये वक्तृ बोधव्य आदि प्रकरण ज्ञान के साथ प्रतिभा का अनिवार्य सहकार अपेक्षित है।

कार्य भेद :

वाच्यार्थ की विश्रान्ति अर्थ बोध में ही है जबकि व्यंग्यार्थ का कार्य सहृदयानन्द में समाप्त होता है।

विषय भद :

वाच्यार्थ का विषय केवल एक होता है किन्तु व्यंग्यार्थ के विषय अनेक प्रकार के हो सकते हैं यथा—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारित वामे सहस्वेदानीम्॥

इसमें वाच्यार्थ का विषय तो एक ही नायिका है किन्तु इसका व्यंग्यार्थ विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न प्रकार का होगा।[1] यहाँ पति, उपपति, प्रतिवेशी सपत्नी सबके प्रति व्यंग्यार्थ भिन्न है जबकि वाच्यार्थ सबके प्रति एक है।

संख्या भेद :

वाच्यार्थ केवल एक होता है कि वक्तृबोधव्य काकु प्रस्ताव देशकालादि के वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ असख्य हो सकता है यथा गतोस्तमर्क में वाच्यार्थ तो मात्र इतना ही है कि सूर्य डूब गया किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण के अनुसार अनेक हो सकते हैं।

१—अत्रायं भावः काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा निश्चित तन्सविधसन्निधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कथाम्चिद्विदग्धसख्यातद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते सहस्वदानीमिति वाच्यभविनयवती विषयन् ।भर्तृ विषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्गयम् । सहस्वेत्याप च तद्विषयं व्यङ्गयम् । तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्य मानायां तदलीकशङ्कित प्रातिवेशिकलोक विषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायन व्यंङ्गयन् । तत् सपत्न्यां च तदुपालम्मतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियायां इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यंग्यम् । सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तम् प्रत्युतायं बहुमानः सहस्व शोमस्वेदानीमिति सखी विषयं सौभाग्य प्रख्यायनं व्यङ्गयम् । —लोचन प्र० उ०, पृ० ।

व्यंजना और लक्षणा :

लक्षणा और व्यंजना के वाह्य साम्य को देखते हुए कुछ आचार्यों का मत है कि लक्षणा को व्यंजना में अन्तर्भूत किया जा सकता है। उनका कथन है कि (१) लक्षणा भी प्रकरणादि के अनुसार अनेक अर्थ प्रगट कर सकती है। यथा 'रामोऽस्मि सर्व सहे' अथवा रामेण प्रिय जीवितेन नु कृतं प्रम्णः प्रियेनोचितम् इत्यादि स्थलों में एक राम शब्द के ही अनेक अर्थ हो गये। (२) व्यंजना के समान ही लक्षणा शब्द और अर्थ दोनों के अधीन है क्योंकि मुख्यार्थ भी मुख्यार्थ बाध में निमित्त होता ही है। (३) लक्षणा व्यंजना के समान ही अभिधा की अनुवर्तिनी होती है। अतः लक्षणा से ही व्यंजना का कार्य सिद्ध हो सकता है एक नयी वृत्ति मानना आवश्यक नहीं है, किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है क्योंकि लक्षणा में प्राप्त होने वाला यह साम्य बहुत सतही है। यह सत्य है कि लक्ष्यार्थ अनेक हो सकते हैं परन्तु लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ सम्बद्धता की शर्त उसकी अनेकार्थता को सीमित कर देती हैं। इसके विपरीत व्यंग्यार्थ असीमित होता है क्योंकि उसे शक्यार्थ सम्बद्धता की आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त व्यंग्यार्थ में व्यक्तिशः परिवर्तित होने की भी सामर्थ्य है जो लक्ष्यार्थ में नहीं हैं। 'गङ्गायां घोषः' का अर्थ गंगा तटे घोषः ही हो सकता है परन्तु गतोस्तमर्कः के अर्थों की इयत्ता नहीं है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि लक्ष्यार्थ मात्र एक बार निकलता है जबकि व्यंग्यार्थ अनेक बार निकल सकता है। तात्पर्य यह है कि जैसे वाच्यार्थ से एक व्यंग्यार्थ निकला उस व्यंग्यार्थ में दूसरा व्यंग्यार्थ दूसरे से तीसरा व्यंग्यार्थ इस प्रकार व्यंग्यार्थ परम्परा सी बन सकती है जो लक्ष्यार्थ के साथ सम्भव नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रयोजनवती लक्षणा की पूर्ति बिना व्यंजना के सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त व्यंग्यार्थ चेष्टा और निरर्थक वर्णों से भी उपलब्ध हो जाता है जबकि ऐसे स्थलों पर लक्षणा की कल्पना भी सम्भव नहीं। सारांश यह है कि लक्षणा भिन्न है व्यंजना भिन्न। इनके अन्तर को मोटे तौर से इस प्रकार संयोजित किया जा सकता है—

व्यंजना और लक्षणा :

(१) व्यंजना के अर्थ असीमित हो सकते हैं किन्तु लक्षणा जन्य अर्थ सीमित होते हैं।

(२) लक्ष्यार्थ सर्वदा मुख्यार्थ सम्बद्ध ही होता है जबकि व्यंग्यार्थ के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है।

(३) लक्षणा में मुख्यार्थबाध अनिवार्य अपेक्षा है परन्तु व्यंजना में मुख्यार्थबाध हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है।

(४) प्रयोजनवती लक्षणा में व्यंजना लक्षणा के पीछे रहती है।

(५) व्यंजना का जितना विस्तार है उतना लक्षणा का नहीं है क्योंकि व्यंजना लक्षणा में भी होती है अभिधा में भी वर्णमात्र में भी होती है संकेत मात्र में भी।

व्यंजना और तात्पर्या वृत्ति :

आचार्य धनंजय एवं धनिक ने तात्पर्यावृत्ति में व्यंजना के अन्तर्भाव की असफल चेष्टा की है उनका मत है कि वक्ता वाक्य का प्रयोग किसी मन्तव्य विशेष से ही करता है और उस मन्तव्य का प्रकटीकरण ही वक्ता का तात्पर्य होता है अतः वाक्यार्थ की पूर्ति तब तक नहीं मानी जा सकती जब तक वक्ता का विवक्षित तात्पयार्थ न निकल आये। आचार्यों का कहना है कि वस्तुतः 'भ्रम धार्मिक' इस वाक्य में श्रोता की आकांक्षा पूर्ति विधि परक अर्थ में हो जाती है। इसीलिये आप निषेध परक अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। इसके विपरीत वक्ता की इच्छा पूर्ति निषेध परक अर्थ में होती है अतः निषेध भी वाक्यार्थ माना जाना चाहिए। परन्तु आचार्य धनंजय एवं धनिक की स्थापना तर्क संगत नहीं है क्योंकि व्यंजना तो उच्चारण विहीन स्थलों में भी सम्भव है ऐसे स्थानों का निर्वाह तात्पर्यावृत्ति से नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मुख्य बात तो यह है कि तात्पर्यावृत्ति अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का पारिभाषिक शब्द है। अतः उसका परम्परागत अर्थ ही लेना चाहिए। जिस अर्थ में धनंजय एव धनिक इसका प्रयोग करते हैं वह व्यंजना के बहुत समीप है, अतः उसे तात्पयार्थ न कहकर व्यंग्यार्थ कहना ही अधिक समीचीन होगा।

आचार्य अभिनवगुप्त और व्यंजना :

आचार्य अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन की व्यंजना सम्बन्धी धारणा का खण्डन मण्डन सहित विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है और अभिनवकृत व्यंजना विवेचन ही परवर्ती समीक्षकों के विवेचन का आधार है। अभिनवगुप्त ने शब्द शक्ति के रूप में चार शक्तियों को मान्यता दी है—

(१) अभिधा, (२) तात्पर्या, (३) लक्षणा और (४) व्यंजना।

अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन वृत्तियां से जिस अर्थ का अवबोधन होता है उसी से एक अन्य अर्थ भी स्फुरित होने लगता है जिसके पुनः-पुनः अनुसन्धान से प्रतिपत्ता की प्रतिभा पवित्र हो जाती है। इस प्रकार प्रतिभा को पवित्र करने में सक्षम वृत्ति ध्वनन या व्यंजना व्यापार है।[1] आचार्य अभिनव की इस परिभाषा से

१— तच्छक्तिप्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृ प्रतिभा साहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः। —लोचन प्र०, उ०, पृ० ९८।

स्पष्ट है कि व्यंजना ऐसी शब्द शक्ति है जो मात्र शब्दाधारित न होकर अपने पूर्ण परिपाक के लिए सहृदय की प्रतिभा के सहकार की अपेक्षा करती है। वस्तुतः यदि व्यजना मात्र शब्द की शक्ति होती तो कोई भी शब्द विद् उसके रसास्वादन में समर्थ होता परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट ही कह दिया है कि यह ध्वनि तत्व पदार्थ शासन ज्ञान मात्र से वेद्य नहीं है। व्यंजना के मात्र शब्दाधारित न होने में दूसरा प्रमाण है इसके अर्थों की अनन्तता। यदि व्यंजना मात्र शब्द की शक्ति होती तो हर सहृदय उससे एक सा अर्थ निकालता परन्तु इसके विपरीत होता यह है कि जो जितना सहृदय होता है प्रतिभा सम्पन्न होता है वह उससे उतने अधिक अर्थ और अर्थ के सूक्ष्मतम अंश का साक्षात्कार कर सकता है।

यों सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि व्यंजना हम वहीं मानते हैं जहाँ हम कथित अर्थ से अधिक और किसी अंश का आभास पाते हैं कहने का तात्पर्य यह है कि व्यंजना द्वारा कवि का विवक्षित अकथित अंश उद्घाटित होता है। कवि की वह अकथित अनुभूति मात्र शब्द सम्वेद्य नहीं होती उसके लिए सहृदय की प्रतिभा की अपेक्षा अनिवार्य रूप से होती है, अतः इतना तो स्पष्ट है कि व्यंजना मात्र शब्द की शक्ति नहीं है साथ ही यह मुख्यतः वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के पृष्ठ पर अभिव्यक्त होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने व्यंजना के नियामक तत्वों के रूप में तीन तत्वों की घोषणा की है —

(१) व्यंग्यार्थ के लिए एक से अधिक अर्थ का होना अनिवार्य है।

(२) व्यंग्यार्थं को सम्बन्धी का सम्बन्धी होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि शब्द का सम्बन्धी वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ होता है और इन दोनों का समबन्धी व्यंग्यार्थं होता है।

(३) संकेत का अनुपयुक्त होना अर्थात् व्यग्यार्थ सांकेतित अर्थ से इतर अर्थ होता है।

इन तीन तत्वों के होने पर ही प्रतीत होने वाला अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है।[1] यह व्यंग्यार्थ ध्वनन, द्योतन, प्रत्यायन अवगमन आदि पर्यायों से भी जाना जाता है।[2]

१——अर्थान्तरत्वं सम्बन्धिसम्बन्धित्वमनुपयुक्तसमयत्कर्मति व्यग्यतायां निबन्धनम्।
लोचन तृ० उ०, पृ० १०४६।

२——तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणा व्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन द्योतन-व्यजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपन्तव्य।
— लोचन प्र० उ०, पृ० ६७।

भट्टनायक का व्यंग्यार्थ बोध और उसका खण्डन :

भ्रम धार्मिक श्लोक के अर्थ बोध पर विचार करते हुए कहा है कि--यहाँ पर दृप्तसिंह इत्यादि शब्द के प्रयोग में तथा धार्मिक इत्यादि शब्द के प्रयोग में भयानक रस के आवेश से उद्भूत निषेध की ही प्रतीति होती है। उसके भीरू यावीर स्वभाव के नियम के बिना जाने हुए एकान्ततः निषेध की अवगति हो ही नहीं सकती, अतएव-केवल अर्थसामर्थ्य ही निषेधावगति में निमित्त नहीं है।

इसकी विवेचना करते हुये आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं कि यह तो हम भी कहते हैं कि ध्वन्यर्थ बोध के लिए वक्ता और बोधा के वैशिष्ट्य ज्ञान के सोथ प्रतिपत्ता के प्रतिभा का सहकार अपरिहार्य है। भट्टनायक जो भयानक रस की बात कहते हैं तो वह भयानकता केवल सम्बोद्ध धार्मिक के हृदय में होगी रस रूपता को वह धारणा नहीं कर सकती क्योंकि भय की रस रुपता तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि सहृदयों को उसका आस्वादन हो। रसास्वादन तभी हो सकता है जब रस अभिव्यक्त हो। रस की स्व शब्दवाच्यता तो भट्टनायक भी नहीं मानते, अतः मानना पड़ेगा कि रस सर्वथा व्यंग्य होता है। अतः ध्वनि का विरोध करते हुए भी वे इसी सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। इसीलिए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि क्रोधोऽपिदेवस्य वरेण तुल्यः।

ध्वनि

ध्वनि संस्कृत काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण तत्व है और इसे यदि क्रान्तिकारी कहा जाय तो अनुचित न होगा। वस्तुतः इस तत्व के वाद के रूप में स्थापित होते ही अनेकानेक विवादों एवं प्रतिवादों ने जन्म लिया क्योंकि ध्वनिवाद का उद्भव ऐसे ही काल में हुआ जब मीमांसा, न्याय और व्याकरण अपने विकास की चरम सीमा पर थे तथा दूसरी ओर साहित्य चिन्तन में रस अलंकार और रीति सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों के साथ प्रकाश में आ चुके थे। अतः दर्शन, व्याकरण एवं साहित्य प्रत्येक दृष्टि से वह युग सम्पन्न था। ऐसे समय में आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्व को इदम प्रथमतया काव्य मात्र के सार तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुये साथ ही उसे समाम्नातपूर्व सिद्ध करने का विलक्षण प्रयास किया है। इसी विलक्षण विचार सूक्ष्मता के कारण आनन्दवर्धनाचार्य के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि, काव्य चिन्तन की पुष्टतम नीव के रूप में उपस्थित हुआ।

ध्वनि की समाम्नातपूर्वता सिद्ध करने के लिए आचार्य आनन्दवर्धन ने व्याकरण से ध्वनि शब्द लेकर उसे अर्थ विस्तार देकर काव्यशास्त्र को एक ठोस आधार दिया और एक सुनिश्चित दिशा प्रदान की। व्यंजना नामक शब्द व्यापार की स्थापना का यशोभागी उन्हीं को माना जाता है। आनन्दवर्धन के उपरान्त आचार्य

अभिनवगुप्त ने ध्वनिवादी काव्यदर्शन को पूर्णता प्रदान की और अपनी कृतियों द्वारा ध्वनि को वह स्थान दिया कि आगे के अनेकानेक विचारक उसी धारा में सोचने के लिए विवश हुए। धनिक, धनजय एवं महिमभट्ट जैसे कुछ ही मनीषी ध्वनि के विरोध में खड़े हुये किन्तु वे अपनी अस्मिता की रक्षा न कर सके और आचार्य मम्मट की अवतारणा के उपरान्त तो ध्वनि के पक्ष में कुछ कहने के लिए शेष ही नहीं रहा।

ध्वनि--एक सामान्य परिचय

ध्वनि को परिभाषित करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है "जहां अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति ध्वन् धातु और इ प्रत्यय के संयोग से हुई है। इस ध्वनि शब्द का व्यावहारिक अर्थ तो वह नाद है जो कानों को सुनाई पड़े किन्तु ध्वनि सम्प्रदाय के पारिभाषिक शब्द के रूप में अभिनव ने ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न किन्तु परस्पर सम्बद्ध पाँच अर्थों में बतायी है–[2]

(१) ध्वनति यः स वाचकः शब्दः ध्वनिः (शब्द)
(२) ध्वनति यः सः व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः (अर्थ)
(३) ध्वन्यते इति ध्वनिः (व्यंग्यार्थ)
(४) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः (व्यंजना शक्ति)
(५) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः (काव्य)

इस प्रकार स्पष्टतः आनन्दवर्धन प्रणीत ध्वनि सिद्धान्त व्यंजना व्यापार पर आधृत है। आनन्दवर्धनाचार्य ने वाच्यार्थ व्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा है परन्तु एक शर्त के साथ कि उसे सहृदय श्लाघ्य होना चाहिये।[3] इस प्रतीयमान व्यंग्यार्थ की सिद्धि व्यंजना द्वारा ही सम्भव है। आनन्दवर्धन प्रणीत व्यंजना और ध्वनि सिद्धान्त की आधार भूमि वैयाकरणों का श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि का व्यवहार ही है। अतः व्यंजना सम्बन्धी धारणा और व्यंजकत्व व्यापार द्वारा प्रतीत व्यंग्यार्थ के सम्यक स्पष्टीकरण के लिए वैयाकरणों के श्रूयमाण वर्ण विषयक सिद्धान्त का किंचित् अवलोकन सहायक सिद्ध होगा।

१--यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ १।१३।

२--पन्चधापि ध्वनिशब्दार्थेयेन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्।--लोचन प्र० उ०, पृ० २८०।

३--योऽर्थ सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥

व्याकरण के सिद्धान्त और ध्वनिः

आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है कि प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।

आनन्दवर्धन द्वारा संकेतिक इस आधार का सूत्रपात आचार्य स्फोटायन ने किया किन्तु वह प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका । पतँजलि ने स्फोट शब्द का प्रयोग कर पूर्व परम्परा का निर्देश किया परन्तु इस सिद्धान्त की सांगोपांग व्याख्या भर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रन्थ में उपलब्ध होती है ।श्रूयमाण वर्ण प्रक्रिया सामान्यतः दो वर्गों में विभक्त है-(१) श्रूयमाण वर्ण की उत्पत्ति (२) उत्पन्न वाक् का श्रोता द्वारा ग्रहण । वाक् की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भर्तृहरि से पूर्व की परम्परा चार स्थितियां मानती रही है —परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ।

परा स्थिति वक्ता की विवक्षा से सम्बद्ध है । इस परा प्रकृति का स्पष्टीकरण करते हुये लिखा गया है–

विकारापगमे सत्यं सुवर्ण कुण्डले यथा ।
विकारापगमे सत्यां तथाहुः प्रकृतिं पराम् ॥ ३।२।१५।
वाच्या सा सर्वशब्दानां, शब्दाश्च न पृथक् ततः ।
अपृथकत्वे च सम्बन्धस्तयोर्नानात्मनोरिव ॥[२] ३।२।१६

अर्थात् जिस प्रकार विशिष्ट आकृति रूपी विकार के हट जाने पर कुण्डल में स्वर्ण रूप सत्य ही शेष रहता है उसी प्रकार इस सृष्टि में नाम रूप के विकार मिट जाने पर अन्तिम सत्य के रूप में परा प्रकृति ही शेष रहती है । वही परा प्रकृति सभी शब्दों की वाच्य है और स्वयं शब्द भी उससे पृथक् नहीं है । क्योंकि शब्द भी प्रकृति की प्रक्रिया के ही एक अंग है इसलिए उनका सम्बन्ध दो भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार इस परा की स्थिति शब्द परमाणु युक्त इच्छा प्रधान तथा चयन प्रक्रिया हीनता की स्थिति है ।

परा स्थिति में उत्पन्न हुई इच्छा का विश्लेषण पश्यन्ती अवस्था में होकर उसका शब्द रूप निश्चित हो जाता है । इसे मनन की अवस्था कहा जा सकता है । इसका कार्य विश्लेषण पूर्ण विनिश्चय. कहा गया है । इसका स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा गया है—

अविभागा तु पश्यन्तीसर्वतः संयतक्रमा ।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायनी ॥

१—ध्वन्यालोक वृत्ति–प्र० उ०, पृ० २६५ ।
२—ध्वन्यालोक वृत्ति, प्र० उ०, पृ० २६५ ।

अर्थात् वाक् की पश्यन्ती अवस्था में उसके अवयव एक दूसरे से अविभाज्य होते हैं और उनमें कोई क्रम नहीं रहता । इस अवस्था में मनुष्य को अपना आन्तरिक ज्योतिर्मय स्वरूप उपलब्ध होता है । भाषा का यह रूप अविनाशी है । अभिनवगुप्ताचार्य ने पश्यन्ती के भेदक सामर्थ्य की ओर संकेत कर इसका स्मरण इस प्रकार किया है—

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्रयते यथा ।
वन्देऽभिनवगुप्तो हं पश्यन्तीं तामिदं जगत् ।।

वाक् की तीसरी अवस्था मध्यमा कहलाती है । इस अवस्था में प्राण और वायु का योग होता है । इसे प्रयत्न की अवस्था कहते हैं । पश्यन्ती अवस्था में निश्चित किये गये शब्दों के अनुसार ही उच्चारण अवयव और प्रश्वास की समस्त प्रक्रियायें इसी अवस्था में सम्पन्न होती हैं । मध्यमा का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा है—

केवलंबुदध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तियतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ।।

अर्थात् मध्यमा वाक् श्वास प्रक्रिया को अतिक्रान्त कर जाती तथा उसकी आन्तरिक ध्वनियों में क्रम रहता है । मध्यमा का ग्रहण केवल बुद्धि से होता है । वाक् का चतुर्थ चरण है वैखरी यह ही पारस्परिक व्यवहार का माध्यम है, इसके स्वरूप को रूपायित करते हुए कहा गया है—

स्थानेषु विधृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृयां प्राणवृत्तिनिबंधना ।।

मुखादि स्थानों में वायु के अवरोध से जो ध्वनि उत्पन्न होती है जिसमें वर्णों की पृथक पृथक सत्ता रहती है और जो वक्ता की श्वास प्रक्रिया से निबद्ध होती है उस वाक् को वैखरी कहते हैं । यही 'वैखरी' वाक् श्रोता तक पहुँचती है । आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे मन में स्पष्ट किये हुए अर्थ वैचित्रय को बाहर प्रसार देने वाली प्रत्यक्षार्थ को दिखलाने वाली कहा है ।

इस प्रकार वाक् के ये चार चरण हैं जिन्हें मेधावी विद्वान ही जान सकते हैं । इन चार चरणों में से तीन मनुष्य के अन्दर निहित रहते हैं । भाषा के चौथे चरण को ही मनुष्य बोलते हैं ।[1] यहीं से प्रारम्भ होता है श्रूयमाण वर्ण प्रक्रिया का द्वितीय चरण —उत्पन्न वाक् का श्रोता द्वारा ग्रहण । आचार्यों ने ग्रहण की इस प्रक्रिया को भी चार चरणों में विभक्त किया है – (१) नाद, (२) स्फोट, (३) ध्वनि और (४) स्वरूप ।

१—चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि बिदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहिता नेऽत्रयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।

श्रोता तक पहुँचने वाली वर्ण की व्यक्त ध्वनियों को नाद कहते हैं। भर्तृहरि ने नाद को क्रम जन्मा कहा है—नादस्य क्रमजन्मत्वात्[१] अतः स्वभावतः प्रश्न उठता है कि जब वर्ण की तरंगे क्रमशः नाद उत्पन्न करेंगी तो शब्द की पूर्णता का ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि प्रथम वर्ण तरंग द्वितीय वर्ण तरंग के आते आते लुप्त होने लगेगी ?[२] इस समस्या का समाधान आचार्यों ने स्फोट सिद्धान्त के रूप में दिया है। स्फोट के अनुग्रह से ही शब्द सुनाई पड़ते हैं। अर्थ का बोध होता है। स्फोट के अन्तर्गत पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द की पूर्णता की प्रतीति के साथ ही अर्थ बोध कराते है। यही पूर्णता की प्रतीति स्फोट है। इस प्रकार सूक्ष्म विश्लेषण करने पर भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाली (व्यक्ति) ध्वनियों में जो एक रूप (जाति) प्रभाव बुद्धि में उत्पन्न होता है उसे स्फोट कहते हैं। स्फोट के विभिन्न (व्यक्ति) उपादानों को ध्वनि कहा जाता है।[४] चतुर्थ तत्व स्वरूप का अर्थ है—श्रोता द्वारा वक्ता की इच्छा के स्वरूप का समझा जाना।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी सिद्धान्त का संक्षेप में संकलन करते हुए कहा है कि---श्रूयमाणेषु इति। श्रोत्रशष्कुली सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति ते च ध्वनि शब्देनोक्ता। यथाह भगवान् भर्तृहरिः

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥

एवं घण्टानिह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽत्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नाद शब्द वाच्या अन्त्यबुद्धि निग्राह्यस्फोटाभिव्यन्जकास्ते ध्वनि शब्देनोक्ताः। यथाहभगवान् स एव—

प्रत्ययैरनुपाख्यायैग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

१—वाक्यपदीय–भर्तृहरि प्रथम खण्ड श्लोक संख्या ४८।

२—नैयायिकों के मतानुसार नाद का स्थायित्व मात्र दो क्षणों का होता है -- शब्दज्ञानकर्मणां द्विक्षणावस्थायित्वम्।

३—पूर्व पूर्व वर्णानुभावहितसंस्कारसचिवेनअन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यज्यते स्फोटः।

४—अनेक व्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।
कैश्चिद् व्यक्तयः ऐवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ॥१-९३।
—वाक्पदीयम्।

तेन व्यंजकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । किंच वर्णेषु तावन् मात्र परिणामेष्वपिसत्सु । यथोक्तम्—

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥इति

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादप्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह स एव —

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहयन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥
— लोचन प्र० उ०, पृ० २७०–७४ ।

ध्वनि के अस्तित्व की सिद्धि एवं उसकी प्राचीनता :

समस्त ध्वनि विरोधी आचार्यों के मतों का निराकरण करते हुए आचार्य अभिनव ने सिद्ध किया है कि अभिधा तात्पर्या और लक्षणा से व्यतिरिक्त व्यंजना व्यापाराश्रित ध्वनि तत्व काव्यात्मा के रूप में सदा से ही अवस्थित रहा है । ध्वनि की काव्यात्मता की प्राचीनता के प्रमाण स्वरूप आदि कवि का एक श्लोक उद्धृत किया गया है —

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत्क्रौन्चमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम् ॥

वस्तुतः लक्षणों का निर्धारण लक्ष्य के आधार पर ही होता है । ध्वनि सिद्धान्त के सन्दर्भ में भी यही तथ्य स्फुरित होता है क्योंकि जिस तथ्य का सैद्धान्तिक प्रतिपादन इन आचार्यों ने किया वह तत्व आदि काल से ही काव्य तत्वों में प्रधानतया वर्तमान रहा है । अतः काव्यात्मा ध्वनि है अपने इस कथन का ऐतिहासिक[१] प्रमाण उपस्थित करते हुए अभिनवगुप्त ने कवि वाल्मीकि का उपर्युक्त श्लोक उद्धृत किया है और बताया है कि यहाँ रस ध्वनि रूप काव्यात्मा का सौष्ठव विद्यमान है । उन्होंने स्पष्ट किया है कि यहाँ यह भ्रम नहीं करना चाहिये । कवि को शोक हुआ क्योंकि शोकभिभूत व्यक्ति न शाप देता है और न श्लोक बनाता है ।[२] यहाँ की वस्तु स्थिति यह है कवि के चित्त में वासना रूप से विद्यमान शोक को मृत क्रौन्च रूपी विभाव

१–अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति ।
—लोचन प्र० उ०, पृ० १५५ :

२–न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति ।
—लोचन प्र० उ०, पृ० १५३ ।

क्रौन्ची का क्रन्दन इत्यादि अनुभाव विषादादि संचारियों का सहकार प्राप्त हुआ। अतः हृदय संवाद के कारण तन्मयीभूत कवि का शोक आस्वाद्यमानता को प्राप्त कर लौकिक शोक से भिन्न करुण रस रूपता को प्राप्त हुआ।[१] यद्यपि इस रचना में कोई शब्द शोक वाचक नहीं है तथापि श्लोक शोक को अभिव्यक्त कर रहा है। अतः ध्वनि की आत्मता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

ध्वनिकारिका और आचार्य अभिनवगुप्त का ध्वनिविवेचन :

काव्यास्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्वः की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि आत्मा का अर्थ है 'तत्व' अर्थात् काव्य में ध्वनि सारभूत पदार्थ है। जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का बाध नहीं होता उसी प्रकार ध्वनि के स्वरूप का भी बाध सम्भव नहीं है। अन्यथा विज्ञ जन इस प्रकार के सारहीन तत्व को प्रकाशित ही नहीं करते।[२] जबकि स्थिति यह है कि इसका उपदेश (बुधैः) एक नहीं अनेकों विद्वानों ने परम्परया किया है।[३] अतः ध्वनि एक ऐसा तत्व है जिसको जानने समझने का प्रयास हर सहृदय व्यक्ति को करना चाहिए परन्तु हुआ इसके विपरीत ही। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि की स्थापना के साथ ही इसका घोर विरोध प्रारम्भ हो गया और विभिन्न आचार्यों ने इस अपूर्व ध्वनि तत्व का समावेश पूर्व प्रचलित काव्यतत्वों एवं उपादानों में ही करने का असफल प्रयास किया जिसका

१–शोक इति क्रौन्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्य ध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावोनिरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भश्रृंगारो चितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयी' भावनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुण रसरुपतां लौकिक शोक व्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाव वाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्ति व्यंजकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचित शब्द छन्दो वृत्तादि नियंत्रित श्लोकरूपतां प्राप्तः।   — लोचन प्र० उ०, पृ० १५६–५७।

२–आत्मशब्दस्य तत्व शब्देनार्थं विवृण्वानः सारतत्वमपरशाब्दवेलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति। ....वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम् अपित्वस्त्येव ध्वनि शब्द वाच्यं प्रत्युत सारभूतम्। नह्यन्यथा बुधास्तादृशमामनेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति। ....'बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधान स्यात्, न तु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्।   — लोचन प्र० उ०, पृ० १८-२२।

३–अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतेदुक्तं विशिष्ट पुस्तक विनियेशनात्।

—लोचन प्र० उ०, पृ० २२।

उल्लेख आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी पाँच विकल्पों के रूप में ध्वन्यालोक में किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचनटीका में ध्वनि विरोधियों का युक्ति युक्त खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि आत्मा के रूप में व्यवस्थित ध्वनि एक प्राचीन तत्व है अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

ध्वनिविरोधीमत तथा अभिनवकृत उनकी विवेचना :

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है–

(१) अभाववादी
(२) भाक्तवादी
(३) अलक्षणीयतावादी

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका में इन मतों की विशद् विवेचना प्रस्तुत की है। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ में मात्र इन सिद्धान्तों का खण्डन ही नहीं किया प्रत्युत् आचार्य अभिनव के खण्डन की महती विशेषता इस बात में निहित है कि उन्होंने खण्डन के प्रसंग में विवेच्य मत के सिद्धान्तों को ही आधार रूप में स्वीकार करते हुए उनके निष्कर्षों का निस्सारता, अपनी तार्किक युक्तियों के आधार पर सिद्ध की है तथा स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि को किसी भी प्रकार से अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अभाववादी मत :

काव्यात्मा के रूप में व्यवस्थित इस ध्वनि का कुछ लोग अभाव बताते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः कहा है कि यद्यपि अभाववादियों के विकल्प उनके द्वारा सुने नहीं गये हैं किन्तु उनकी सम्भावना करके उनकी विवेचना की गयी है।[1] स्मरणीय है कि सम्भव की ही सम्भावना उचित है[2] अन्यथा सम्भावनाओं और दूषणों का निराकरण सम्भव ही नहीं होगा। अभाववादी सम्भावना के उत्स के रूप में मनोरथ कवि का श्लोक उद्धृत किया जा सकता है जो इसी आशय ने सम्बद्ध है।[3]

१–न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पा : श्रुता : किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम्।............ .... –लोचन प्र० उ०, पृ० २३।

२–सम्भावनापि नेयमसम्भवतोयुक्ता, अपितु सम्भवत एव।
—लोचन प्र० उ०, पृ० २४।

३–यस्मिन्नोस्ति न वस्तु किन्चन मनः प्रह्लादिसालङ्०कृति।
व्युत्पन्नैररचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्ति शून्यं च यत्॥
काव्य तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसन्जडो।
नो विद्मो मिदधाति किं सुकृतिना पृष्ठः स्वरुप ध्वनेः॥ – ध्वा० वृत्ति, पृ० ४७।

इस अभाववादी विकल्प के भी तीन प्रकार बताये गये हैं—

प्रथम पक्ष का कथन है कि लोकशास्त्रातिरिक्त शब्दार्थ ही काव्य का स्वरूप है और इन शब्दार्थ की शोभा गुण और अलंकार से होती है इनके अतिरिक्त शोभाधायक कोई अन्य धर्म है ही नहीं जिनकी गणना हम न कर चुके हों। शब्दार्थरूपता के अभाव के कारण तथा गुणालंकारव्यतिरिक्तता के कारण ध्वनि कोई तत्व नहीं है।

ध्वन्यभाववादी द्वितीय पक्ष का कहना है कि जिसका अब तक विचार ही नहीं किया गया हो वह धर्म शोभा धायक हो ही नहीं सकता।[२] फिर भी उसे यदि चारुत्व हेतुओं से पृथक् मान भी लिया जाय तो भी उसे काव्यात्मा नहीं कहा जा सकता, कवनीय ही काव्य कहलाता है अतः जिस प्रकार नृत्य गीत कवनीय नहीं होते उसी प्रकार ध्वनि भी काव्य का विषय नहीं हो सकता उसे सहृदयह्लादकारी तत्व कहकर ध्वनि ध्वनि रटना तो वैसी ही हठधर्मिता है जैसे कि कोई खड्क लक्षण के निरूपण का निश्चय कर वस्त्र लक्षण करने लगे और दूसरों द्वारा आक्षेप किये जाने पर कि इस प्रकार का तो वस्त्र होता है खड्ग नहीं कहे कि मेरा अभिमत तो इसी प्रकार का खड्ग है वस्तुतः लक्ष्य कभी कल्पित नहीं होता है वह सर्वदा प्रसिद्ध ही होता है। कुछ लोगों के मान लेने पर ही ध्वनि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती अपितु ऐसे लोगों की उन्मत्तता ही प्रगट होती है।

अभाववादी तृतीय पक्ष का तर्क है कि ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सम्भव ही नहीं है क्योंकि ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करती अतः उक्त रमणीयता हेतुओं में ही उसे अन्तर्मुक्त करना चाहिए। वाणी के अनन्त वाग्विकल्पों के कारण सम्भवतः यदि कोई सूक्ष्म भेद अकथित रह भी गया हो तो इसमें ध्वनि ध्वनि कहकर दर्प करने जैसा कुछ नहीं है।[३]

१–तत्राभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः – शब्दार्थगुणालङ्कारणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दर शब्दार्थरूपस्य काव्यस्य न शोभा हेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्नगणित इत्येकः प्रकारः।

— लोचन प्र० उ०, पृ० २८।

२–यो वा न गणितः स शोभाकार्यव न भवतीति द्वितीय :।

लोचन प्र० उ०, पृ० २८।

३–यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः।

—लोचन प्र० उ०, पृ० ४७।

आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्वपक्ष के इस अभाव वादी विकल्प की सूत्र रूप में समायोजना करते हुए लिखा है कि ध्वनि क्योंकि शोभा हेतु होने पर गुणों और अलंकारों से व्यतिरिक्त नहीं है और क्यों कि व्यतिरिक्त होने पर शोभा हेतु नहीं है तथा शोभा हेतु होने पर भी आदरास्पद नहीं है अतः इसमें कुछ वैशिष्ट्य नहीं। ध्वनि प्रवाद मात्र है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में इन अभाववादियों के मत का खण्डन करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि महाविषय वाली होती है, सर्वत्र सत्ता के कारण व्यापक होती है तथा समस्त प्रतिष्ठा का स्थान होने के कारण अंगी होती है।[1] ध्वनि गुणालंकार से इसलिए भी भिन्न है क्योंकि गुणालंकार का प्राण वाच्य वाचक भाव है जबकि ध्वनि का व्यंग्य व्यंजक भाव।[2] इतना ही नहीं ध्वनि स्वामिस्थानीय है और अलंकार भृत्य स्थानीय। अतः गुणालंकार में अङ्गी ध्वनि का समावेश कथमपि सम्भव नहीं है।

जो लोग प्रसिद्ध प्रस्थानातिरेक के कारण ध्वनि का अभाव कहते हैं उनके मत का निराकरण तो इस ध्वनि के काव्यों में ध्वनि की सर्वत्र व्याप्ति को सिद्ध कर देने से ही हो जाता है। जो आचार्य इसे अपूर्व तत्व नहीं मानते उनमें भी कोई हानि नहीं क्योंकि यह कह कर तो उन्होंने ध्वनि का समर्थन किया है। अभिनवगुप्त का कथन है कि अपूर्व उन्मीलन न हो पूर्वोन्मीलित को ही हमने ठीक रीति से व्यवस्थित किया है।

इस प्रकार अभाववादी तीनों विकल्पों के निराकरण से सिद्ध हो जाता है कि 'अस्तिध्वनिः।'

१–ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्त प्रतिष्ठा स्थानत्वाच्चाङ्गी
— लोचन प्र० उ०, पृ० २२८।

२–गुणालङ्काराणां वाच्यवाचक भाव प्राणत्वात्। अस्य च तदन्य व्यङ्०गणव्यंजकभावसारत्वात्रास्यतेष्वन्तर्भाव।
—लोचन प्र० उ०, पृ० १२२।

३–न केवलमन्योन्यविरुद्ध वाच्यवाचकभावव्यङ्गयव्यन्जकभाव समाश्रयत्वान्न-तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्चा याव स्वाभिभृत्यवत् अङ्गिरूपाङ्रुपयो-विरोधादित्यर्थः।
— लोचन प्र० उ०, पृ० २६३।

४–माभूद्व पूर्णोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ् निरूपितं तथापि को दोष।
—लोचन प्र० उ०, पृ० ३३१।

भक्तिवादी मत :

कतिपय विद्वान ऐसे भी हैं जो ध्वनि के वैशिष्टय का अनुभव तो करते हैं परन्तु उसे ध्वनि नाम न देकर लक्षणा में ही उसका अन्तर्भाव करना चाहते हैं। इस पक्ष के उत्थान में तीन विकल्पों की कल्पना की गई है—

(१) लक्षणा ध्वनि का स्वरूप हो सकती है।

(२) लक्षणा ध्वनि का लक्षण हो सकती है।

(३) लक्षणा ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है।[१]

आचार्य अभिनवगुप्त ने लक्षणावादी विचार धारा पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि भाक्तवाद पुस्तकों में अविछिन्न रूप से प्राप्त है।[२] भामह ने अभिधान शब्द के द्वारा, भट्टोद्भट ने गुणवृत्ति शब्द के द्वारा और वामन ने लक्षणा शब्द के द्वारा उस ध्वनि मार्ग का किन्चित स्पर्श अवश्य किया था परन्तु स्वरूप विवेक में असमर्थ लोगों ने इस अनुकूल स्थिति में भी ध्वनिवादियों को ही उपालम्भ दिया है जैसे कोई व्यक्ति नारियल की कठोरता को ही उसकी वास्तविकता समझ कर त्याग दे उसके अन्तस्तल की वास्तविकता जानने की चेष्टा न करे वैसा ही कार्य इन व्याख्याताओं ने किया है।[३]

आचार्य अभिनवगुप्त ने भाक्तवादी तीनों विकल्पों की विवेचना करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि लक्षणा ध्वनि का स्वरूप नहीं है क्योंकि (१) लक्षणा के

१–अयं भाव :—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम् ? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम् ? उत काक इव देवदत्त गृहस्य भम्भावमात्रादुपलक्षणम् ?

—लोचन प्र० उ०, पृ० २८८।

२–भाक्तवादस्तु अविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति नित्य प्रवत्त-वर्तमानापेक्षयभिधानम्।

—लोचन प्र० उ०, पृ० ४६।

३–भामहेनोक्तं—शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः इति अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टावभट्ट बभाषे-शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति। वामनो-पि सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्तिः इति मनाक्स्पृष्ट इति तैस्तावद् ध्वनिदिमुन्मीलिता, यथालिखितपाठकैः तु स्वरूप विवेकं कर्तुमशक्नुवद्भि तत् स्वरूप विवेको न कृतः प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्नारिकेलवद् यथाश्रुत तद्ग्रन्थोदग्रहणमात्रोणेति।

—लोचन प्र० उ०, पृ० ५७।

अभाव में भी ध्वनि होती है और ध्वनि के अभाव में भी लक्षणा सम्भव है।[1] प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी ध्वन्यार्थ की अपेक्षा होती है। अतः स्वरूप भेद होने के कारण ध्वनि और भक्ति एक नहीं है।

अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण लक्षणा को ध्वनि का लक्षण भी नहीं कहा जा सकता। ध्वनि के असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य भेद में भक्ति का स्पर्श भी नहीं होता, अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं कही जा सकती।

ध्वनि का क्षेत्र व्यापक होता है क्योंकि लक्षणा युक्त स्थानों में भी ध्वनि हो सकती है और इतर स्थानों में भी अतः इसे लक्षणा में समाविष्ट तो नहीं किया जा सकता, हां यदि कुछ न कुछ सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक ही हो तो इसे ध्वनि का उपलक्षण कहा जा सकता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि इस तथ्य को स्वीकार करने से न हमारा कुछ बिगड़ेगा न पूर्वपक्षियों का कुछ बनेगा।

अशक्यवक्तव्यतावादी मत :

ध्वनि विरोधियों का तृतीय पक्ष अलक्षणीयतावादी है। उनकी बुद्धि लक्षण निर्माण में इतनी सुकुमार है कि वे कहते हैं कि ध्वनि का लक्षण नहीं बन सकता, वह मात्र सहृदय हृदय सम्वेद्य है। इनके इस मत का निराकरण तो ध्वनि का सामान्य तथा विशेष रूप सर्वाङ्ग विवेचन किया गया है, अतः अलक्षणीयता का तो प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। हां यदि वे अतिशयोक्ति के रूप में ध्वनि को अलक्षणीय कहते हैं तब तो युक्ति युक्त है।

ध्वनि विरोधी इन तीनों मतों पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि इनमें विपर्यास, सन्देह एवं अज्ञान की प्रधानता है। अतः ये तीनों उत्तरोत्तर भव्य बुद्धि वाले हैं।[2]

आचार्य भट्टनायक का ध्वन्यार्थ बोध और आचार्य अभिनवगुप्त :

आचार्य अभिनवगुप्त ध्वनि के तीन भेद वस्तु अलंकार और रस का निरूपण करते हुए भी रस ध्वनि को ही मुख्य बताते हैं और उन्होंने रस ध्वनि में ही वस्तु और अलंकार ध्वनि का पर्यवसान घोषित किया है। ध्वनि की आत्मभूतत्व के सन्दर्भ में आचार्य भट्टनायक का कहना है कि —

१–क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम्।

— लोचन प्र० उ०, पृ० ५९।

२–एतं च त्रयः उत्तरोत्तरं भव्य बुद्धयः।

—लोचन प्र० उ०, पृ० ५९।

ध्वनिर्नामपरो योऽपि व्यापारो व्यन्जनात्रयः ।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्ये शत्वं न रूपता ॥

भट्टनायक ने काव्य के तीन अंश माने हैं—अभिधा भावना और भोगः ध्वनि । उनका कथन है कि ध्वनि व्यजनात्मक व्यापार है और अभिधा एवं भावना से भिन्न है तथापि उसे काव्य में 'अंशत्व' ही प्राप्त है 'रूपता' नहीं । तात्पर्य यह है कि काव्य में ध्वनि अंशी या आत्मा की स्थिति में आने के योग्य नहीं प्रत्युत् वह भी अभिधा और भावना की तरह शब्द का व्यापार है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने आचार्यभट्टनायक के इस तर्क का निराकरण उनके ही सिद्धान्त के आधार पर ही कर दिया है । अभिनव कहते हैं अभिधा, भावना और रसात्मा वाले तीन अंशों से युक्त काव्य में रस चर्वणा जीवितभूत हैं इस विषय में तो आपको (भट्टनायक) भी विवाद नही है क्योंकि आपने ही लिखा है कि काव्य में सभी रस लेने वाले होते हैं न ज्ञानार्जन करने वाले और न नियुक्त होने वाले । अतः यदि आप वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि के अभिप्राय से ध्वनि का अंशत्व कहते हैं तो यह तो सिद्ध साधन है क्योंकि हमारा मत भी यही है परन्तु यदि रसध्वनि के अभिप्राय से भी आप ध्वनि का अंशत्व मानते हैं तो यह आपके स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध तो है ही प्रसिद्धि तथा सहृदय के स्वसंवेदन के भी विरुद्ध है ।[2]

ध्वनि भद :

आचार्य अभिनवगुप्त ने दो स्थानों पर ध्वनिभेदों की चर्चा की है । प्रथमतः द्वितीय उद्योत में जहां ध्वनि के ३५ भेदा की चर्चा करते हुये कहा है कि—

१—तथाहि अभिधा भावना रसचर्वणात्मवो पि भ्र यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति । यथोक्तं त्वर्थैव—

काव्ये रसयिता सर्वे न बोद्धा न नियोग भाक् इति

—लोचन-प्र० उ०, पृ० ६५ ।

२—तदस्त्वलङ्कारध्वन्य भिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्ध साधनम् ।
रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाम्युपगमप्रसिद्धिसंवेदन विरुद्धमिति ।

यदूचे भट्टनायकेन–'अंशत्व न रूपता' इति तद्वस्त्वलङ्कार ध्वन्योरेव यदि नामोपालम्भः, रसध्वनितस्तु तेनैवात्मयाङ्गोकृतः रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनां सद्रयोक्षीर्ण त्वेन निर्णयात् । वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेति ।

—लोचन-प्र० उ०, पृ० ८३ ।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं। अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्य परवाच्य। प्रथम के दो भेद हैं अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य और अर्थान्तर संक्रमित वाच्य। द्वितीय के भी दो भद हैं अलक्ष्यक्रम और अनुरणन रूप। प्रथम के अनन्त भेद हैं द्वितीय दो प्रकार का होता है—शब्दशक्ति मूल और अर्थशक्तिमल। अन्तिम तीन प्रकार का होता है कवि प्रोढोक्तिनिष्पन्नशरीर, कविनिबधवक्तृप्रोदोक्तिनिष्पन्नशरीर और स्वतः सम्भवी। वे प्रत्येक व्यंग्य और व्यंजक के उक्त भेदों की नीति से चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार १२ प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है। प्रारम्भ के चार भेद इस प्रकार १६ मुख्य भेद होते हैं। वे पद और वाक्य के रूप में प्रत्येक दो प्रकार के संघटना और प्रबन्ध प्रकाश्य होने से ३५ भेद होते हैं।[३]

अभिनवगुप्त कृत इस विवेचन को संलग्न तालिका द्वारा सुविधा पूर्वक समझा जा सकता है।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में भी ध्वनि भेदों की अनन्त प्रदर्शित करते हुये भी ध्वनि गणना की है, परन्तु यह गणना त्रुटिपूर्ण है। उन्होंने लिखा है जो ३५ ध्वनि भेद बताये गये हैं वे गुणीभूत व्यंग्य के भी माने जाने चाहिये ३५-३५ एक प्रकार अलंकार अर्थात् ७१ उसमें तीन प्रकार की संकर और एक प्रकार की संसृष्टि से गुणा करने पर ७१४-२८४ हो जाते हैं। यहां तक तो ठीक है परन्तु इसके बाद अभिनव गुप्त लिखते हैं कि उतने से ३५ मुख्य भेदों के गुणा करने पर ७४२० हो जाते है। अलंकारों के अनन्त होने से तो असख्यता आ जाती है।

इसमें अन्तिम गणना का योग त्रुटिपूर्ण है क्योंकि २८४ ३५-९९४० होता है ७४२० नहीं।

३—अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वां मूल भेदी। आधस्यद्वौ भेदी—अत्यन्तरितस्कृत वाच्यो र्थन्तर संक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदी-अलक्ष्य-क्रमोऽनुरणनरूश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः- शब्दशक्ति मूलोऽर्थशक्ति-मूलश्च पश्चिमस्त्रिविधः - कविप्रोढोक्ति कृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिक्त शरीर, स्वतः सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्गयव्यन्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्थेति द्वादशविधोऽर्थशक्ति-मूलः। आद्याश्चत्वारोभेदाइति षोडश मुख्य भेदाः। ते च पद वाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येक द्विविधावक्ष्यते। अलक्ष्य क्रमस्य तु वर्णपदवाक्य संघटना प्रकाशत्वेन पंचत्रिशद्-भेदाः।

—लोचन द्वि० उ०, पृ० ६४१।

लोचन के अनुसार ध्वनि

अविवक्षित वाच्यध्वनि विवक्षितान्य पर वाच्य

अर्थान्तर संक्रमित अत्यन्ततिरस्कृत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि

पद प्रकाश्य वाक्यप्रकाश्य पद प्रकाश्य वाक्य प्रकाश्य
१ २ ३ ४

पदप्रकाश्य वर्णथोन्य वाक्य संघटना प्रबन्ध
५ ६ ७ ८ ९

शब्दशक्तिमूल संलक्ष्य० अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्य०

पदद्योत्य वाक्यद्योत स्वतः सम्भवी कविप्रौढोक्तिसिद्ध कविनिबद्धवक्त प्रोढोक्तिसिद्धि
३४ ३५

वस्तु से वस्तु व्यंग्य वस्तु से अलंकार व्यंग्य अलंकार से अलंकार व्यं० अलंकार से वस्तु व्यंग्य

पदप्र० वा०प्रकाश्य प०प्र० वा०प्र० प०प्र० वा०प्र० प०प्र० वा०प्र०
१० ११ १२ १३ १४ १५ १३ १७

वस्तु से वस्तु व्यं० वस्तु से अलंकार व्यं० अलकार से अलकार व्यं० अलंकार से वस्तु व्यग्य
प०प्र० वा०प्र० प०प्र० वा०प्र० प०प्र० वा०प्र० प०प्र० वा०प्र०
१८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५

वस्तु से वस्तु वस्तु से अलंकार अलंकार से अलंकार अलंकार से वस्तु

प्र०प्र० वा०प्र० प०प्र० वा०प्र० प०प्र० वा० प्र० प०प्र० वा०प्र०
२६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३

ध्वनि के विभिन्न रूप एवं उनका वर्गीकरण :

कवि के अन्तःकरण की सुख दुखात्मक, सर्वभूत्यात्मक अनुभूति अभिव्यक्त हो कर काव्य संज्ञा से भूषित होती है। आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में गुण और अलंकार के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होने वाले शब्द अर्थ रूप शरीर के ध्वनन नामक आत्मतत्व के होने पर ही काव्यरूपता का व्यवहार होता है। आचार्य की इस परिभाषा से स्पष्ट ही है कि ध्वनन नामक आत्मतत्व के अभाव शब्द और अर्थ काव्य नहीं कहे जा सकते। आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व काव्य भेद आकृतिमूलक वर्गीकरण पर आश्रित थे जिसे इन्होंने आस्वादमूलक वर्गीकरण की ओर मोड़ दिया क्योंकि ध्वनन तत्व को ही ये आचार्य काव्य का मूल स्वीकार करते हैं। जहां पर ध्वनि सर्वातिशायी रूप से स्थिर रहती है उसे व्यञ्जकत्व के प्राधान्य के कारण वे उत्तम काव्य कहते हैं तथा जहां ध्वनि या व्यंजना वाच्यातिशायी नहीं होती अथवा व्यंग्य सौन्दर्य वाच्य सौन्दर्य से कम रहता है उसे वे गुणीभूत काव्य कहते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन मूलतः काव्य के दो ही भेद स्वीकार करते हैं किन्तु अभ्यासार्थी कवियों की प्रवृत्ति शब्दार्थ रचना में ही अधिक रमती है अतः विवशता वश आचार्य चित्र काव्य नामक एक भेद और स्वीकार करते हैं किन्तु उसे ये अकाव्य कहना ही अधिक उचित समझते हैं। इस प्रकार जहां तक काव्य भेदों का सम्बन्ध है ध्वनिवादी आचार्य व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य को ध्वनि या उत्तम काव्य कहते हैं। व्यंग्यार्थ की अप्रधानता में गुणीभूत व्यंग्य काव्य की संज्ञा देते हैं तथा स्फुट व्यंग्य रहित काव्य को चित्र नाम से अभिहित करते हैं।[२]

यों तो परवर्ती आचार्यों ने काव्य का उत्तम, मध्यम और अधम रूप से त्रिविध विभाजन प्रस्तुत किया है परन्तु ध्वन्यालोक में प्राप्त विवेचन व्यंग्य के प्राधान्य अप्राधान्य पर आधृत होते हुए भी उत्कर्षगत तारतम्य का निर्धारण करने वाला नहीं है। फिर भी उपलब्ध तथ्यों के आधार पर काव्य का त्रिविध वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) ध्वनि काव्य, (२) गुणीभूत व्यंग्य (३) चित्र काव्य।

ध्वनिकाव्य :

जहां वाच्य की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त होता है उसे आचार्य ध्वनि काव्य कहते हैं। ध्वनि मुख्यतः तीन प्रकार की होती है।[३] (१) वस्तु (२) अलंकार (३) रस

१–गुणालङ्कारोचित्य सुन्दर शब्दार्थ शरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपता व्यवहारः। — प्र० उ०, पृ० ९३ लोचन।

२–गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥ ३।४३। ध्व०।

३–स त्रिविधस्य ध्वनेः काव्यमार्गो विषय इति। —लोचन उ०, पृ० १२३६।

वस्तु ध्वनि—जहा व्यंग्यार्थ किसी वस्तु के रूप में प्रतीत होता है वहां वस्तु ध्वनि मानी जाती है। यथा —

भ्रम धार्मिकविस्रब्धः स शुनकोऽद्य मरितस्तेन।
गोदानदीकच्छ कुन्जवासिना दृप्तसिहेन ॥

यहां व्यंग्य वस्तु वाच्य से अत्यन्त रूप से भिन्न है। इस श्लोक का वाच्यार्थ विधिपरक हैं परन्तु वक्ता और बोद्धा के वैशिष्ट्य से वह निषेध परक अर्थ का बोध स्पष्ट रूप से कराता है।

अलङ्कार ध्वनि—यद्यपि ध्वनित होंने पर अलंकार अलंकार्य हो जाता है फिर भी ब्राह्मण श्रमण न्याय से इस प्रकार का प्रयोग होता हैं। जहां व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है, वहां अलंकार ध्वनि होती है। यथा—

प्राप्तश्रीरेषकस्मात्पुनरपिमयितं मन्थरवेदंविदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसोनैव संभावयामि।
से तुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः
त्वय्यायातेवितर्कानितिदधतइवाभातिकम्पः पयोधे ॥

यहा सन्देह और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभावसंकर वाच्य है। इससे व्यंजना निकलती है कि विवेच्य राजा विष्णुरूप हैं। कवि ने अपने इस प्रतिपाद्य के लिये सन्देह और उत्प्रेक्षा का अभिधान किया है। इस प्रकार यहां वाच्यालंकार व्यंग्य परक है अतः यहां रूपक ध्वनि है।

रस ध्वनि--जहां व्यंग्यार्थ विभाव अनुभाव और संचारी भाव के संयोग पर आधृत होता है वहां रस ध्वनि मानी जाती है।[1] यथा—

कृच्छ्रेणोरुयुगंव्यतीत्य सुचिरंभ्रान्त्वानितम्बस्थले।
मध्येऽस्यासिवलीतरङ्ग गविषमे निष्पन्दताभागता ॥
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्यतुङ्गौ स्तनौ।
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥

यहां रति स्थायि भाव विभावानुभाव संचारी भाव के संयोग से श्रृंगार रस रूपता को प्राप्त हुआ है।

१—रस ध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारि संयोजनोचित स्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंश चर्वणा प्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः।
— लोचन द्वि उ०, पृ० ३७७।

गुणीभूत व्यङ्ग्य

गुणीभूत व्यङ्ग्य का परिचय देते हुये आचार्य आनन्द वर्धन लिखते हैं कि काव्य का दूसरा प्रकार गुणीभूत व्यंग्य नामक दिखाई देता है जहां व्यंग्य से सम्बन्वित होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्ष युक्त हो जाता है।[१] ध्वनिवादी आचार्य काव्य के वर्ग के निर्धारण का निकष व्यंग्यार्थ अथवा व्यंजना को मानते हैं। यह तो सिद्ध ही है कि व्यंजना वाच्य की पृष्ठपातिनी है यथा प्रकाश की प्राप्ति के लिए वर्तिका दीपादि का आश्रय लिया जाता है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की उपलब्धि भी वाच्य वाचक के द्वारा हीं होती है यद्यपि कभी-कभी प्रत्यक्षतः वांच्य और व्यंग्य की सम्बद्धता दिखाई नहीं पड़ती क्योंकि वाच्य विधि होने पर व्यंग्य निषेध रूप भी हो जाता है फिर भी परोक्ष रूप में ही सही वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के लिए एक आधार प्रस्तुत करता ही है। जहां वाच्यार्थ का अतिक्रमण कर व्यंग्यार्थ सौन्दर्य सृष्टि करता है वहां आचार्य ध्वनि काव्य मानते हैं। परन्तु जहां व्यंङ्ग्यार्थ से सम्पुष्ट वाच्य सौन्दर्याधान करता है वहां वह गुणीभूत व्यंग्य कहलाता है यद्यपि गणना इसकी भी ध्वनि काव्य में ही होती है। आनन्दवर्धन के अनुसार यह गुणीभूत व्यंङ्ग्य नाम का प्रकार भी पुनः रसादि तात्पर्य की पर्यालोचना करने पर ध्वनि रूपता को ही धारण करता है।[२] क्योंकि गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंङ्ग्य की सामर्थ्य के कारण ही वाच्यार्थ सुन्दर प्रतीत होता है व्यंग्य निरपेक्ष वाच्य तो अभिधा का क्षेत्र हो जायेगा और ध्वनि क्षेत्र की परिधि में उसका प्रवेश ही सम्भव नहीं होगा क्योंकि ध्वनि तो व्यंजना पर आश्रित है व्यंजना यदि सर्वातिशायी हुई तो वह ध्वनि काव्य कहलाता है। और यदि व्यंजना वाच्य के सौन्दर्याधान में ही समाप्त हो गई तो उसे गुणीभूत व्यंग्य कहा जाता है।

स्मरणीय है कि यद्यपि परवर्ती अन्य आचार्यों ने इस गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम कोटि का काव्य कहा है परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त में इस प्रकार के विभाजन का कोई सूत्र दृष्टिगत नहीं होता। यदि अभिनव एवं आनन्दवर्धन की दृष्टि से काव्य भेद करना हो तो उसे इस प्रकार रुपायित किया जा सकता है।

१-प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्॥ ३।३४॥ ध्वन्यालोक।

२-प्रकारोऽयं गुणीभूत व्यङ्ग्योऽपि ध्वनि रूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥ ३।४०। ध्वन्यालोक।

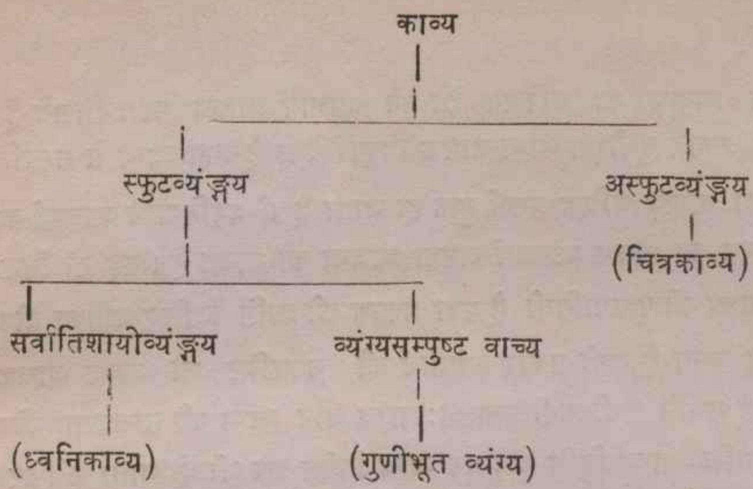

आचार्य अभिनव गुप्त ने गुणीभूत व्यंग्य की व्याख्या करते हुये लिखा है—अमुख्य व्यापार गुणवृत्ति कहलाता है।[१] इसका स्पष्टीकरण करते हुये उन्होंने कहा है कि यद्यपि रस प्रतीति के अवसर पर प्राधान्य एवं अप्राधान्य प्रकाशित नहीं होता क्योंकि 'बुद्धौ तत्वावभासिन्यां' के अनुसार अखण्ड चर्वणा में ही विश्रान्ति होती है तथापि विवेचकों द्वारा जीवित का अन्वेषण किये जाने पर जब व्यंग्य अर्थ वाच्य का ही अनुप्राणन कर रहा होता है तब उसके उपकरण होने के कारण ही उसका अलंकारत्व सिद्ध होता है। तब उससे उपस्कृत हुये वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। यद्यपि पर्यन्त में ध्वनि होती है तथापि मध्य कक्ष्या में निविष्ट यह व्यंग्य अर्थ स्वयं में रसोन्मुख नहीं होता अपितु वाच्य अर्थ का ही संस्कार करने के लिये दौड़ता है। इस प्रकार इसकी गुणीभूतता कही गई है।[२] सारांश यह है कि गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्य समूह को नियंत्रित कर वाच्य ही अपनी आत्मा को ऊपर उठा कर सुन्दर रूप में अवभासित होता है।[३] उदाहरण के लिए यह श्लोक लिया जा सकता है—

१--गुणतया वृत्तिर्व्यापारो गुण वृतिः। —लोचन तृ०उ०, पृ० १०६६।

२—प्राधान्यञ्च यद्यपि ज्ञप्तो न चकास्ति' बुद्धौतत्वावभासिन्यां इति नयेनाखण्ड-चर्वणा विश्रान्ते, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्गयोऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणय त्रास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कार लाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरास्ति तथापि मध्यवाक्षानिविष्टोऽसौव्यंङ्योऽर्थों न रसोन्मुखी भवति स्वातन्त्रयोणापितु वाच्यमेवार्थ संस्कतुं धावतीति गुणींभूत व्यङ्गतोक्ता।
—लोचन प्र०उ०, पृ० १६६।

३–वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्गयजातस्य सुन्दरत्वेनावभानात्।
--लोचन तृ० उ०, पृ० ११२६।

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिनासहसंप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

यहां पर मुख कटाक्ष इत्यादि के सौन्दर्य की जो प्रतीति होती है वह अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य व्यंजना पर आधारित है। 'अपरैव हि केयं' जो वाच्यांश है व्यंग्यार्थ उसी में काव्य चारुता की प्रतीति में हेतु भूत शोभा का आधान करता है। कुवलय इत्यादि वस्तु समूह सौन्दर्य में समस्त लोक का सार रूप है उनका एक साथ में समागम सर्वथा असम्भावित है किन्तु अत्यन्त मनोरम (स्त्रीरूप) अधिकरण को प्राप्त कर उसमें विश्रान्त होने के कारण वह समुच्चय रूप में स्थित हो गया है। इसमें पहले तो उसको विस्मय की विभाव रूपता प्राप्त हो जाती है, जिससे उसमें सुन्दरता आ जाती है। तात्पर्य यह है कि यहां वाच्य की प्रधानषा इतने ही अंश में है कि वाच्य विस्मय का विभाव बन कर और व्यंग्य से उपस्कृत होकर अभिलाषा का विभाव बन जाता है। इसके बाद जो नायक की रति अभिव्यक्त होकर श्रृंगार रस के रूप में ध्वनित होती है उसके प्रति तो वाच्य गौण बन जाता है रस ध्वनि ही प्रधान हो जाती है।[१]

आचार्य अभिनवगुप्त का विचार है कि जहां कहीं गुणीभूत व्यंग्य होता है वहां सर्वत्र यही दशा होती है कि पहले एक व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा गौण होता है फिर वह वाच्यार्थ रसादि ध्वनि में आत्म समर्पण कर देता है और पर्यवसान रस ध्वनि में ही होता है।

गुणीभूत व्यंग्य का महत्व :

गुणीभूत व्यंग्य का अन्यन्त महत्वपूर्ण भेद है। इसकी प्रशंसा करते हुये आनन्दवर्धन औंर अभिनव गुप्त थकते नहीं हैं। इसका महत्व निरूपित करते हुये कहा गया है कि काव्य की इस विधा का उपयोग तो उच्चकोटि के काव्यों में भी किया जा सकता है—

१-–तत्र चैषां स्वार्थस्य सर्वथानुपपत्तेरन्धशब्दोक्तेन न्यायेन तिरस्कृतवाच्यत्वं । स च प्रतीयमानोऽप्यर्थविशेषः 'अपरैव हि केयं' इत्युक्ति गर्भी कृते वाच्येऽशे चारुत्वच्छायां विधते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभानात् । सुन्दरत्वं चास्यासम्भाव्यमानसभागमसकल लोकसारभूत कुवलयादि भाववर्गस्य अति सुभगेकाधिकरणविश्रान्ति लब्धसमुच्चय रूपतया विस्मय विभावताप्राप्तिपुरस्कारेण व्यंग्यार्थोपस्कृतस्य तथा विचित्रस्यैववाच्यरूपोन्मज्जनेनाभिलाषादिविभावत्वात् । अतएवयति यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं तथापि रसध्वनो तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्गस्य प्रकारे मन्तव्यम् ।
—लोचन तृ० उ०, पृ० ११२६-२७ ।

प्रसन्न गम्भीरपदाः काव्यवन्धाः सुखावहाः ।
य च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसाः । ३-३५।

इस कारिका का आशय यह है कि प्रसादगुण से परिपूर्ण गम्भीर पद वाले जो सुखावह अर्थात् चारुत्व हेतु काव्य बन्ध है उनमें बुद्धिमान व्यक्ति को इसी गुणीभूत व्यंग्य की योजना करनी चाहिये । कारिका में प्रयुक्त 'सुमेधसा' की व्याख्या करते हुये आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि जो कवि इस गुणीभूत व्यंग्य की योजना करने में असमर्थ है वह सहृदय समाज में 'मिथ्या सहृदयत्व की भावना से मुकलित नेत्रवाला' इस उक्ति से अपहसनीय हो जायेगा ।[१] इन आचार्यों ने गुणीभूत व्यंग्य को ध्वनि का निष्यन्दभूत कहा है और यहां तक कहा है कि जहां चारुत्व प्रतीति गुणीभूत व्यंग्य में हो रही हो सहृदय व्यक्तियों को वहीं ध्वनियोजना नहीं करनी चाहिये—

प्रभेदस्यास्य विषयोयश्च युक्तया प्रतीयते ।
विधातव्या न सहृदयेस्तत्र ध्वनि योजना ।।३।३६।

गुणीभूत व्यंग्य का क्षेत्र :

इस गुणीभूत व्यंग्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि व्यंग्य के जितने भी प्रकार हो सकते हैं उन सबका गुणीभाव भी हो सकता है । दूसरी बात यह है कि भावात्मक सौन्दर्य का आधान ध्वनि के माध्यम से होता है तो कलात्मक सौन्दर्य का सृजन गुणीभूत व्यंग्य द्वारा सम्पन्न होता है, अतः कलात्मक कोटि में आने वाले समस्त तत्व –अलंकार, रीति, वक्रोक्ति वृत्ति, औचित्य- गुणीभूत व्यंग्य में अन्तर्मुक्त हो जाते हैं ।

स्थूल रूप से गुणीभूत व्यंग्य को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है--

(१) वस्तु व्यंञ्जक गुणीभूत व्यंग्य ।
(२) अलंकार व्यंजक गुणीभूत व्यंग्य
(३) रस व्यंजक गुणीभूत व्यंग्य

वस्तु व्यंजक गुणीभूत व्यंग्य : जहां वाच्यार्थ व्यंग्य सम्पुष्ट होता है वहां ही इसका क्षेत्र है । जैसे

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः । ।
अहो दैवगतिः कीहक्तथापि न समागमः ॥

१–एवं प्रकारत्रयस्यापि गुणभावं प्रदर्श्यबहुतरलक्ष्यव्यापकतास्येति दर्शयितुमाह- तथैति । प्रसन्नानिप्रसाद्गुणयोगाद्गमी राणि च व्यंङ्ग्यार्थ अपेक्षक वा पदानि येषु । सुखावहाः इति चारु व हेतुः । तत्राऽयमेव प्रकार इति भावः । सुमेधसेति । यस वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीक-सहृदयभावनामुकलित- लोचनौक्थोपहसनीयः स्यादिति भावः । — लोचन तृ० उ०, पृ० ११३३ ।

यहां वाच्यार्थ संध्या और दिवस का बोध कराता है परन्तु साथ ही नायक नायिका रूप व्यंग्यार्थ के चारुत्व से पुष्ट है। इसके अतिरिक्त वस्तु की गुणीभूत व्यंग्यता उस अवस्था में भी हो जाती है जहां व्यंग्यार्थ उक्ति द्वारा प्रकाशित कर दिया गया हो। यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

अभिनव गुप्त ने इसकी टीका में लिखा है कि यहां ध्वनि का जो गोप्यमानता के साथ प्रकट हुआ चारुत्व रूप प्राण होता है वह समेट लिया गया है अतः यहां व्यंग्य की गुणीभूतता कही गयी।

अलंङ्कार व्यंजक गुणीभूत व्यंङ्ग्य : यों तो अभिनवगुप्त द्वारा गुणीभूत व्यंङ्ग्य को अलंकारों का सामान्य लक्षण कहा गया है, अतः समस्त अलंकार इसी ही समाहित हो जाते हैं फिर भी एक अलंकार में दूसरे अलंकार की व्यंजकता और उसके गुणी-भाव के स्पष्टीकरण के लिये एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुल बालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्ते मृतानाम्॥

यहां पर वाच्य अलंकार तो दीपक है किन्तु कुल बालिकाओं के स्तन कृपणों के धन, सर्पों की मणि तथा सिंह के केसर के तुल्य, स्पर्श में अशक्य है' से उपमा अलंकार की व्यंजना होती ही है। परन्तु यहां चमत्कार सादृश्य में न होकर अप्रस्तुतों के उपादान में है अतः व्यंग्य उपमा यहां गौण हो गई और वाच्य दीपक प्रधान। इस प्रकार यह अलंङ्कार व्यंजक गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है।

रस व्यञ्जक गुणीभूत व्यंग्य :

यों तो रस काव्य जीवन है और सर्वत्र प्रधान रूप में ही व्यवस्थित होता है किन्तु कतिपय स्थलों पर जब यह वाच्यार्थ का अंग बन जाता है तो इसकी गुणीभूतता कही जाती है। इसका उल्लेख करते हुये लिखा गया है–

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गतु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रसंग में अपनी सम्मति देते हुये कहा है-चन्द्र इत्यादि वस्तु के द्वाराजिस प्रकार दूसरी वस्तु अलंकृत की जाती है क्योंकि उसके द्वारा उपमित होने के कारण चारुता का अवभास होने लगता है उसी प्रकार रस के द्वारा

वस्तु या दूसरा रस उपस्कृत होकर सुन्दर रूप में शोभित होने लगता है। इस प्रकार रस का भी वस्तु के समान अलंकार होने में क्या विरोध ?[1] इसी प्रसङ्ग में एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

किं हास्येन न मे प्रयास्यसिपुनः प्राप्तश्चिरादूर्शनं
केयं निष्करुणप्रवास रुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्धवारोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजन ॥

यहां करुण रस की गुणीभूत व्यंग्यता है क्योंकि राजा का प्रभाव इस करुण रस के माध्यम से ही अधिक शोभित होता है। अभिनवगुप्त ने लिखा है कि इस श्लोक का आशय तो यही है कि तुम्हारे द्वारा शत्रु मार डाले गये किन्तु इस प्रकार अनलंकृत नहीं है अपितु यहां वाच्यार्थ अधिक सुन्दर हो गया है और यह सौन्दर्य करुण रस-जनित ही है। अतः यहां रस की गुणीभूत व्यंग्यता है।[2]

काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंङ्गय :

यह भी गुणीभूत व्यंग्य का एक प्रकार है और इसमें कंठ की चेष्टा से आने वाला व्यंग्यार्थ वाच्योपस्कारक हो जाता है। इसका परिचय देते हुये कहा गया है—

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चेषां परिदृश्यते।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारभिममाश्रिता ॥

अर्थात् काकु के द्वारा जो यह अर्थान्तर प्रतीति देखी जाती है वह व्यंग्य के गुणीभूत होने से इसी गुणीभूत व्यंग्य का आश्रय लेती है। यथा–

लाक्षागृहानलविषन्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्रनिचयेषु च नः प्रहृत्य:।

१--चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्त्वन्तरं वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारुतया-वभासात्। तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं भाति इति रसस्यापि वस्तुत एवालङ्कारत्वे को विरोधः।

--लोचन द्वि० उ०, पृ० ४११।

२--अत्र शोक स्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपति प्रभावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः। नहित्वयारिपवो हता इति यादृगनलंकृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपि तु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाच्यार्थः। सौन्दर्य च करुण रस कृतमेवेति।

—लोचन द्वि० उ०, पृ० ४१०-११।

आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्तु मयि जीवीत धार्तराष्ट्राः ॥[१]

यहां यह व्यंजना निकलती है कि यह सर्वथा असम्भव है कि मेरे जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ होकर बैठे रहें। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि यहां 'स्वस्थाः भवन्तु मयिजीवति और धार्तराष्ट्राः के उच्चारण में आकांक्षा युक्त दीप्त और गद्गद के साथ तार प्रशमन और उद्दीपन के द्वारा विचित्र बनाई हुई काकु ध्वनि यह अर्थ असम्भाव्य है और अत्यन्त अनुचित है। इस व्यंग्य अर्थ का स्पर्श करते हुये उसी के द्वारा उपकृत होकर व्यंग्य से उपस्कृत वाच्य की ही क्रोधानु भावरूपता को कहती है।[२]

आचार्य मम्मट ने इस गुणीभूत व्यङ्गय को मध्यम काव्य कहा है और इसके आठ प्रकार बताये हैं :

अतादृशी गुणीभूत व्यङ्गयं व्यङ्गये तु मध्यमम्।
अगूढ़मपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम।

१–आचार्य अभिनवगुप्त ने काकु की विवेचना करते हुये इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई है (१) 'कक् लील्यौ', इस धातु का काकु शब्द बनता है। उसमें साकांक्ष और निराकांक्ष इत्यादि क्रम से पठित यह शब्द प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त (दूसरा अर्थ) भी चाहता है अतः इसका लौल्य कहा जाता है। २) ईषद् अर्थ में कु शब्द है जिसको का आदेश हो जाता है। इससे हृदयस्थ वस्तु की थोड़ी प्रतीति कराई जाती है और उस काकु से जो व्यंङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है वह भी इसी गुणीभूत व्यंग्य का आश्रय लेता है।

ककलौल्ये इत्यस्य धातोः काकुशब्दः। तत्र हि साकांक्ष निराकांक्षादि क्रमेण पद्ममानोऽसौ शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीतिलौल्यभस्याभिधीयते। यदि वा ईषदर्थे कु शब्दस्तस्य का देशः। तेन हृदयस्य वस्तु प्रतीतेरीषद्भूमिः काकुः तया यर्थान्तरगतिः स काव्य विशेष इमं गुणीभूतव्यङ्गयप्रकार-माश्रितः। तत्र हेतुव्यङ्गयस्य तत्र गुणीभाव एव भवति।

—लोचन तृ० उ०, पृ० ११७१।

२–स्वस्था इति, भवन्ति इति, मयिजीवति इति, धार्तराष्ट्राः इति च साकांक्ष-दीप्तगद्गदतारप्रशमोद्दीपनचित्रिताकाकु रसम्भाव्योऽयमर्थो त्यर्थमनुचितश्चेत्यमुं व्यङ्गयमर्थं स्पृशन्ती तेनैवोपकृता सती क्रोधानुभावरूपतां व्यङ्गयोपस्कृतस्य वाच्यस्यैवाभिधत्ते।

लोचन तृ० उ०, पृ० ११७३।

सन्दिग्धतुल्य प्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि आनन्दवर्धन या अभिनवगुप्त किसी ने भी इसे मध्यम कोटि का काव्य नहीं कहा है प्रत्युत् सहृदयों को इस प्रकार के काव्यबन्ध का आश्रय लेने का सुझाव ही दिया है क्योंकि ध्वनि काव्य में तो एक व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य होता है जबकि गुणीभूत में दो व्यंग्यार्थों का क्योंकि एक व्यंग्य तो वाच्य का सौन्दर्यसम्वर्धन करता है तथा पर्यवसान में रस व्यंजना तो होती ही है क्योंकि कहा ही है

प्रकारोऽयं गुणीभूत व्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादि तात्पर्य पर्यालोचनया पुनः ।

इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य में पर्यवसान में सहृदयहलादकारक रस व्यंजना तो होती ही है साथ ही मध्यवर्ती एक व्यंजना और होती है जो वाच्यार्थ के सौन्दर्य को सम्पुष्ट करती है । इसीलिए आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त दोनों ने ही मुक्त कंठ से कहा है कि उच्चकोटि की रचनाओं में इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये । जहां तक गुणीभूत व्यंग्य के भेदों का प्रश्न है ऐसा कोई विभाजन ध्वन्यालोक में उपलब्ध नहीं हैं यों इन भेदों के संकेत सूत्र ढूँढ़े जा सकते हैं । क्योंकि प्रथम उद्योत में ही अभिनव लिखते हैं कि व्यंग्य के होने पर भी अप्रधान्य होने पर, मलिन प्रतीति में वाच्य के साथ समान प्रधानता होने पर और प्राधान्य के स्फुट न होने पर ध्वनि का व्यवहार नहीं होता है ।[१]

चित्रकाव्य :

ध्वनि तथा रसवादी आचार्य व्यंग्यार्थ की भूमि पर ही काव्य कोटि का निर्धारण करते हैं अतः जहां व्यंग्य वाच्यातिशायी होता है उसे वे उत्तम काव्य कहते हैं व्यंग्य के वाच्य से गौण होने पर उसकी गुणीभूत व्यंग्य संज्ञा होती है और वह मध्यम काव्य माना जाता है। इन दोनों भेदों से व्यतिरिक्त जहां स्फुट व्यंग्य न हो उस काव्य भेद को आचार्य चित्र काव्य कहते हैं । आचार्यआनन्दवर्धन केशब्दों में चित्रकाव्य उसे कहते हैं जो रसभावादि तात्पर्य रहित तथा व्यंग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य हो । चित्र काव्य केवल वाच्य वाचक अर्थात् अर्थ और शब्द के वैचित्र्य के

१–तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनि व्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्गस्य अप्रधान्ये मिलष्ट प्रतीतौ वाच्येन सम प्राधान्येऽस्फुट प्राधान्ये च ।
—लोचन प्र० उ०, पृ० २६१ ।

आधार पर निर्मित एक प्रति कृति मात्र है।[1] वह मुख्य काव्य नहीं होता। उसे वस्तुतः काव्य का अनुकरण कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। यह चित्र काव्य दो प्रकार का होता है – (१) शब्द चित्र यथा दुष्कर यमक इत्यादि तथा (२) अर्थचित्र यथा व्यंग्यार्थ संस्पर्श से रहित और रसादि तात्पर्य से रहित वाक्यार्थ के रूप में स्थित उत्प्रेक्षा।[2] इस प्रकार व्यंग्यार्थरहितता अथवा व्यंग्यार्थ अस्फुटता चित्र काव्य का प्रधान लक्षण है ऐसा सिद्ध होता है परन्तु यहां एक शंका यह उपस्थित होती है कि संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो काव्य में वर्णित होने पर निमित्त नैमित्तिक पद्धति के अनुसार अन्ततोगत्वा विभाव रूप से रस या भाव का अंग न बन जाती हो अतः चित्र काव्य को वस्तु व्यंग्य और अलंकार व्यंग्य से रहित तो कहा जा सकता है परन्तु उसे रस व्यंग्य रहित नहीं कह सकते क्योंकि रस तो विशेष चित्तवृत्ति ही है और ऐसी कोई वस्तु संसार में होती ही नहीं जो किसी न किसी विशेष प्रकार की चित्र वृत्ति को उत्पन्न न करे। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुये आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि सचमुच ही रसादि प्रतीति से रहित कोई भी काव्य सम्पन्न नहीं हो सकता परन्तु यह सब कवि विवक्षा पर आधृत है। जब कवि रसभावादि की विवक्षा से रहित होकर शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार की रचना करता है तब उस रचना में रसादि के किसी न किसी रूप में होने पर भी रसादि शून्यता की कल्पना की जाती है। ऐसी अवस्था में जो रसादि प्रतीति होती भी है वह अत्यन्त दुर्बल होती है, अतः संक्षेप में चित्र काव्य वह अलंकार निबन्ध है जहां रसभावादि के किसी न किसी रूप में विद्यमान रहने पर भी कवि की विवक्षा इन पर नहीं रहती।

आनन्दवर्धन के इसी प्रसंग को आचार्य अभिनवगुप्त ने दो दृष्टान्तों से स्पष्ट किया है जैसे मांस पकाना एक कुशल रसोइये का काम है अब यदि कोई अकुशल

१-रसभावादि तात्पर्य रहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशन शक्ति शून्यं च काव्यं केवल वाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणो पनिबद्ध मालेख्यप्राख्यं यदा भासते तच्चित्रम्।

–ध्व० वृत्ति, तृ० उ०, पृ०

२–न तन्मुख्यं काव्यं काव्यानुकारो ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छब्द चित्रं यथा दुष्कर-यमकादि। वाच्यचित्रततः शब्दचित्रादन्य द्वयङ्गयार्थ संस्पर्श रहितं प्रधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि।

ध्व० वृत्ति तृ०उ०, पृ० १२१८।

३–रसभावादि विषय विवक्षा विरहे सति।

अलङ्कारनिबधोयः स चित्र विषयो मतः ॥३।४३ ध्वन्यालोक

रसोइया मांस पकाकर रख देता है तो उसमें मांस का स्वाद नहीं आता उसमें अनुचित परिणाम में डाले हुये मिर्च मसाले का ही स्वाद आ जाता है। इसी प्रकार 'काव्य का लक्ष्य रस निष्पत्ति करना ही है। यदि कोई अकुशल कवि रस निष्पत्ति के लिये प्रयत्नशील होकर उसमें असफल हो जाता है तब उसमें रस की अनुभूति नहीं होती अपितु अलंकारों की प्रतीति मात्र होती है इसे ही चित्र काव्य कहते हैं। यदि यहां यह प्रश्न उठाया जाय कि अकुशल रसोइया भी किसी वस्तु को बनाता है तो भी उसमें जो पदार्थ डाले जाते हैं उनका तो स्वाद आ ही जाता है यथा अकुशल रसोइये की बनायी शिखरिणी में दधिगुडमिर्चं का स्वाद तो आयेगा ही तब यह कैसे कह सकते हैं कि अकुशल कवि की रस निष्पत्ति हेतु की गई रचना में रस आयेगा ही नहीं इसका समाधान प्रस्तुत करते हुये आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं निश्चय ही कुछ न कुछ रसास्वाद तो होगा परन्तु उसकी प्रतिक्रिया आनन्द रूप न होकर यह होगी कि इसमें रस निष्पत्ति की सामग्री बेमेल रूप में मिलाई गई है।[१] अतः सिद्ध हो जाता है कि चित्र काव्य नीरस ही होता है। इसलिए अभिनवगुप्त इस चित्र काव्य को अकाव्य की संज्ञा देते हैं क्योंकि वह विस्मयकारक वृत्त इत्यादि के कारण सहृदयों के द्वारा अभिलषणीय चमत्कारसार रस के निष्पन्द से युक्त नहीं होता।[२]

चित्रकाव्य बुद्धि को भले ही कुछ क्षणों के लिये विस्मित कर देता है परन्तु हृदयग्राही तत्व उसमें नहीं होता। काव्य के इस भेद का नामकरण चित्र काव्य इसलिए किया गया है क्योंकि जिस प्रकार किसी वस्तु का कोई चित्र बनाया जाय तो उसमें मुख्य वस्तु के समस्त अवयव और वाह्याकृति दृष्टिगत होगी किन्तु उसमें आत्मा रूप जीवन शक्ति नहीं होगी उसी प्रकार चित्र काव्य में भी होता है क्योंकि उसमें काव्य के सारे तत्व शब्द, अर्थ उनका वैचित्र्य इत्यादि तो विद्यमान होते हैं किन्तु

१–नैव तत्र रस प्रतीतिरस्ति यथा पाकर्नाभज्ञसूद विरचिते मांस पाक विशेषे। ननु वस्तु सौन्दर्यादवश्यं भवति कदाचित्तथास्वादोऽकुशलकृतायामपि शिखरिण्यामिवेत्यःशङ्कयाह-वाच्येत्यादि। अनेनापीति। पूर्व सर्वथा तच्छुन्यत्वमुक्तमधुना तु दौर्बल्यमित्यपिशब्दस्यार्थः। अज्ञकृतायां च शिखरिण्यामहोशिखरिणीति न तज्ज्ञानाच्चमत्कार अपितु दधिगुडमरिचं चैत्तदसमञ्जसंयोजितमित्तिवक्तारो भवन्ति।

— लोचन तृ० उ०, पृ० १२२४।

२–चित्रमति-विस्मयकृदवृत्तादिवशात्, न तु सहृदया भिलषणीय चमत्कारसार रसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः। काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कलामात्रत्वाद्वा।

— लोचन प्र० उ०, पृ० १६४।

काव्यजीवन रसादि विद्यमान नहीं होता। अतः काव्य का अनुकरण अथवा प्रतिकृति होने के कारण ही इसे चित्रकाव्य कहा जाता है।

स्मरणीय है कि यदि कवि का विवक्षित तात्पर्यार्थ रसादि हो तो वह सब काव्य ध्वनि क्षेत्र में आ जाता है परन्तु जहां प्राधान्य अलंकारों का हो वहां प्राधान्येन व्पदेशाभवन्ति के आधार पर चित्र ही मानना होगा उसे ध्वनि सीमा में नहीं खींचा जा सकता। यद्यपि ध्वनि व्यतिरिक्त अन्य काव्य को काव्य अभिनव और आनन्द-वर्धन नहीं मानना चाहते हैं फिर भी विश्रृंखलवाणी वाले कवियों की रसादि तात्पर्य की बिना अपेक्षा किये हुये काव्य में प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है इसलिए इस काव्य भेद की कल्पना करनी पड़ी है।[१]

रस

काव्यशास्त्र में प्रयुक्त रस एक पारिभाषिक शब्द है जिसका तात्पर्य, काव्या स्वादन के क्षण में सहृदय के हृदय को प्राप्त आनन्दानुभूति से है। यह रस काव्य का असाधारण एवं प्राणभूत तत्व है। अभिनवगुप्त ने इसे परिभाषित करते हुये कहा है कि सर्वथा रसनात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।[२] आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्रवृत्ति विशेषाःहि रसादयः कहकर रस को एक विशेष चित्रवृत्ति कहा है।

रसानुभूति वस्तुतः एक मानस व्यापार है जिसमें आस्वाद्य एवं सहृदय के हृदय का संवाद अपेक्षित होता है। इस प्रक्रिया में सहृदय के हृदय पटल पर काव्य के भावों की प्रतिच्छवि परिव्याप्त हो जाती है (यही कारण है कि आचार्य अभिनवगुप्त सहृदय के हृदय की तुलना मुकुर से करते हैं) तथा सामाजिक की वासना समुचित विषय में नियंत्रित होकर उसे कथ्यात्मक शब्द से भी अधिक व्यंग्यात्मक अर्थ की

१–एतच्चचित्रं कवीयां विश्रृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्ति दर्शनाद स्माभिः परिकल्पितम्।

—ध्व०वृत्ति, तृ० उ०, १२२६।

२--सर्वथा रसनात्मक वीतं विघ्न प्रतीति ग्राह्यो भाव एव रसः।

—अ० भा० पृ० ४७३।

यहां भाव का अर्थ स्थायी भाव नहीं है परन् अनुभूति से है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कह दिया है कि स्थायी भाव से विलक्षण रस होता है। स्थायि विलक्षण एव रसः— अ० भा० पृ० ४८३।

प्रतीति कराती है।[1] यहां समुचित विषय नियन्त्रण का तात्पर्य यह है कि रसास्वाद संस्कारानुबन्धों से प्रतिबाधित हो जाता है। अभिनवगुप्त का विश्वास है कि स्थायी भाव के रूप में वासनायें मनुष्य के हृदय में संस्कार रूप से रहती ही है तथा विभावादि की सम्यक् योजना से परिपुष्ट हो वे चमत्कार उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिए यदि यति में रति का संस्कार न हो तो सुन्दर से सुन्दर काव्य बन्ध उसे नीरस जान पड़ेगा। अतः रसास्वादन के लिये आवश्यक है कि आस्वादन कर्ता के संस्कार आस्वाद्य के साथ समंजस्य रखते हो।

रस का समग्र विवेचन प्रथमतः नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है जहां नाट्य के सन्दर्भ में ही इसकी सांगोपांग विवेचना की गई है। परन्तु अभिनव भारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दिया है कि केवल नाटक में ही रस नहीं होता अपितु नाटक के समान काव्य में भी रस होता है। इस सन्दर्भ में अपने गुरु भट्टतौत के मत का उल्लेख करते हुये स्पष्ट कर दिया है कि वर्णन शैली के विस्तार एवं प्रौढ़त्व के कारण काव्यार्थ प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं तथा अधिकारी को प्रत्यक्ष कला ज्ञान के उत्पन्न होने पर रस की प्रतीति होती है।[2]

रस को परिभाषा के बन्धन में बांधना उतना ही कठिन है जितना ब्रह्मत्व को और हो भी क्यों न, रस भी ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाता है अतः इसके स्वरूप का ज्ञान भी उसी 'नेति-नेति' प्रक्रिया द्वारा ही हो सकता है। फिर भी रस को यदि परिभाषित करना ही हो तो कहा जा सकता है कि—

भावों की सम्यक् संयोजना से व्यंञ्जित स्व सम्वेदन गोचर काव्यार्थ का आस्वादनात्मक अनुभव ही रस है।

रस के संयोजक तत्व :

आस्वाद्य के रूप में रस अखण्ड होता है[3] इसीलिए अभिनवगुप्त इसे

१–तथापि काव्यात्मकादपि शब्दाधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।
—अ० भा०, पृ० ४७०।

२–न नाट्य एव च रसः काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः काव्यार्थ विषये हि प्रत्यक्षकल्पसम्वेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः यदाहु काव्य कौतुके
प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोग-प्रौढोक्तया सम्यगर्पिताः।
उद्यान कान्ता चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटः॥ —अ०भा०, पृ० ५०४।

३–एक एव तावत्परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूप के प्रतिभाति तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः सोऽपि च न तदेकमुखप्रेक्षिता मतिवर्तते।
अ०भा०, पृ० ४४२।

'महारस' की संज्ञा देते हैं। उनका कथन है कि विभावादिभेद से रस भेद पाये जाते हैं।

लौकिक जीवन के कारण, कार्य तथा सहकारी काव्य नाट्य के अन्तर्गत क्रमशः विभाव अनुभाव तथा संचारी के नाम से पुकारे जाते हैं क्योंकि काव्य के अन्तर्गत वे व्यक्तिगत सीमा का त्याग कर सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक रूप धारण कर लेते हैं। रस के साथ इन तीनों का ही बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होता है क्योंकि इनके अभाव में रस, रस नहीं रह सकता। यही कारण है कि रस विभावादि जीवितावधिः कहलाता है। रसास्वाद की प्रक्रिया में ये विभावादि पानक रस न्याय से स्थित होते हैं। अब जहां तक रस के संयोजक तत्वों का प्रश्न है वे इस प्रकार हैं—

(१) स्थायिभाव (२) विभाव (३) अनुभाव (४) व्यभिचारीभाव।

स्थायिभाव :

सहृदय के हृदय में वसना रूप में सदा से ही वर्तमान रहने वाले भाव स्थायिभाव कहलाते हैं। इन्हें अविरुद्ध या विरुद्ध कोई भी भाव नष्ट नहीं कर सकता। हां इतना अवश्य है कि कोई अनुकूल भाव योजना किसी एक स्थायी में उद्रेक उत्पन्न कर देती है। तात्पर्य यह है कि स्थायीभाव रस का मूल बीज है क्योंकि अनुकूल भावों की योजना से उत्पन्न उद्रेक ही अन्ततः रस संज्ञा प्राप्त करता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा है कि—ये स्थायी भाव सहृदय के अन्तःकरण में उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार मिट्टी में गन्ध। जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रगट हो जाती है उसी प्रकार स्थायिभाव भी विभावादि के संयोग से व्यक्त हो रस की संज्ञा प्राप्त करता है।

स्थायिभावों की संख्या सामान्यतः ९ मानी जाती है यद्यपि नाट्यशास्त्र में आठ स्थायि भावों का ही उल्लेख है[१] परन्तु आचार्य अभिनव गुप्त निर्वेद को स्थायिभाव मानकर ९ संख्या का ही समर्थन करते हैं।

विभाव :

इसका शाब्दिक अर्थ है कारण अथवा हेतु काव्यशास्त्र में आश्रय के हृदय में सुप्त स्थायी भावों के उद्बोधक कारणों को विभाव कहा गया है। तात्पर्य यह है कि रत्यादि के उद्बोधक भाव ही काव्यशास्त्रीय विभाव हैं। इनके दो भेद किये जाते हैं—(१) आलम्बन विभाव तथा (२) उद्दीपन विभाव।

१—रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साही भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाप्रकीर्तिता॥ ६-१७।

बिन भावों का आश्रय लेकर रत्यादि भाव उद्‌बुद्ध होते हैं उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं तथा जिनका आश्रय लेकर उद्‌बुद्ध भाव उद्दीप्त होते हैं वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं यथा श्रृंगार रस के प्रसंग में नायक या नायिका आलम्बन विभाव होते हैं तथा उद्यान, एकान्त चांदनी रात आदि उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं ।[१]

अनुभाव :

अनुभूत भावों की अभिव्यंजना ही अनुभाव है । अर्थात् वाणी अंग एवं सत्व द्वारा प्रगटित कार्यों का अनुभव कराने वाला होने के कारण ही ये अनुभाव कहे जाते हैं ।[२] ये अनुभाव मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किये जाते हैं—

(१) आंगिक (२) वाचिक (३) सात्विक ।

जब अनुभूत भाव कटाक्ष भुजनिक्षेप इत्यादि के द्वारा प्रगट होते हैं तो वे आंगिक अनुभाव कहलाते हैं । वाचिक अनुभाव के अन्तर्गत नायक नायिका के संलाप, विलाप प्रलाप निर्देश आदि की गणना होती है । सात्विक भाव हृदय का वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म काव्य है जिसकी सम्वेदनात्मक अनुभूति कराने में 'वागङ्ग' दोनों ही असमर्थ होते हैं परन्तु अनुभूति की अभिव्यक्ति तो स्वयं ही अपना मार्ग बना प्रगट हो जाती तो जिस रूप में वह प्रगट होती है वही सात्विक भाव है । नाट्य शास्त्र में मन से उत्पन्न होने वाले भाव को सत्व कहा गया है और इनकी संख्या ८ बतायी गयी है –

(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमान्च, (४) स्वर भेद, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य (७) अश्रु एवं (८) प्रलय ।

१–अथ विभाव इति कस्मात् । उच्यते-विभावो विज्ञानार्थः । विभावः करणं निमितं हेतुरिति पर्यार्याः । विभाव्यतेऽनेन वागाङ्गसत्वाभिनया इत्यतो विभावः ।

(बड़ौदा सं०) ना० शा० अध्याय ७, पृ० ३४६ ।

२–अनुभाव इति कस्मात् । उच्यते-अनुभाव्यते नेनवागङ्गसत्वकृतोऽभिनय इति अत्र श्लोकः—

वागाङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थो-नु भाव्यते ।
शाखाङ्कोपाङ्ग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ७-५ ॥

३–इह हि सत्वं नाम मनः प्रभवम् ।.........तइमे......

स्तम्भः स्वेदोऽथरोमाञ्चः स्वरभेदाऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्र प्रलय इत्यष्टौ सात्विका मताः ॥ ७-९५ ॥

इसके अतिरिक्त नाट्य के संदर्भ में अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण माध्यम और भी है जिसकी गणना अनुभाव के अन्तर्गत ही होती है वह है आहार्य ! इसके अन्तर्गत वेष भूषा, मुखराग देशकालनुकूल सम्बोधन आदि की गणना होती है।

व्यभिचारी भाव :

स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले वे भाव जो जल-उर्मियों की तरह उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। नाट्यशास्त्र में व्यभिचारी के स्वरूप निर्देश के प्रसंग में कहा गया है कि वि तथा अभि पूर्वक चर गत्यर्थक धातु से इसकी निष्पत्ति होती हैं। रसों में जो नाना प्रकार से अभिमुख होकर संचार करते हैं वे संचारी कहलाते हैं।[1] ध्वन्यालोक में व्यभिचारी का वैशिष्ट्य बताते हुये अभिनव गुप्त ने लिखा है कि—ये उदय स्थिति और अपाय इन तीन धर्मों वाले होंते हैं। जैसा कि कहा गया है कि – जो विविध रूप में (रस के) अभिमुख होकर विचरण करते हैं उन्हें व्यभिचारी कहते हैं।[2]

नाट्यशास्त्र में इनकी संख्या ३३ बताई गई है जो इस प्रकार है—(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जड़ता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) विबोध, (२५) अमर्ष, (२६) आयहित्था, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेचित विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी काव्य सम्बन्धी रस की अभिव्यक्ति के हेतु हैं इनके साथ सहृदय के हृदय का सम्वाद होने पर रस निष्पन्न होते हैं।[3]

१–अत्राह व्यभिचारिण इति कस्मात्। उच्यते-वि अभिइत्येतावपुसर्गौ चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधमा भिमुक्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्ग सत्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः।

—सप्तमोऽध्याय ना०शा० बड़ौदा सं०, पृ० ३५५।

२–व्यभिचारिण उदयस्थितयपायत्रिधर्मकाः। यदाह-विविध माभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिण इति।

—ध्व० लो० द्वि० उ०, पृ०० ३७१।

३–एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपन्चाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एम्यश्च सामान्यगुण योगेन रसानिष्पद्यन्ते।

— बड़ौदा-ना० श० सप्तमोध्याय, पृ० ३४८।

यहां यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि जगत् के कारण कार्य और सहकारी ही काव्य के विभाव अनुभाव व्यभिचारी हैं परन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है क्योंकि कारण कार्य जहां लौकिक है वहीं विभावानुभाव अलौकिक। लौकिक कारणों का प्रयोजन चित्तवृत्ति को उत्पन्न करना होता है तो विभाव एवं अनुभाव का प्रयोजन काव्यगत चित्तवृत्ति रूप अर्थ को रसिक के अनुभव की दशा तक पहुँचाना है। यद्यपि लौकिक व्यवहार में जिन बातों का हम अनुभव करते हैं उन्हीं का काव्य में वर्णन किया जाता है फिर भी वे एक नहीं है क्योंकि लौकिक अनुभव सुखदुखात्मक होते हैं परन्तु काव्यानुभाव मात्र आनन्दकारक होता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः कहा है – नाट्ये एवं रसः, न तु लोके अर्थात काव्यनाट्यादि में ही रस होता है लोके में नहीं।

रस प्रक्रिया :

आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्ति वाद एवं अन्य आचार्य—

भरत मुनि कृत नाट्य शास्त्र में रस प्रक्रिया का परिचय देते हुये कहा गया है कि 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' भरत मुनि ने अपने इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है फलस्वरूप विभिन्न आचार्यों ने रस प्रक्रिया की ऐतिहासिक विचारणा में अपना-अपना मौलिक योगदान दिया है साथ ही अपने-अपने ढंग से उस सूत्र की सिद्धि का प्रयास किया है। इस रस सूत्र की व्याख्या करने वालों में चार आचार्यों का नाम विशेष उल्लेखनीय है–(१) भट्टलोल्लट, (२) शंकुक, (३) भट्टनायक (४) अभिनवगुप्त।

आचार्य भट्टलोल्लट का मत साहित्य शास्त्र में उत्पत्तिवाद के नाम से विख्यात है। इनका कथन है कि रस की उत्पत्ति होती है तथा वह रस मुख्यतः अनुकार्य रामादि में तथा गौण रूप से अनुकर्त्ता नट में होता है। आचार्य दण्डी का भी यही मत है।[१]

१—तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये अनुकर्त्तरि अपि च नटे रामादि रूपतानुसन्धानबलादिति। चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिनास्वालंकारलक्षणेऽभ्यधादि—रतिः श्रृङ्गारतां गता रूप बाहुल्ययोगेन इति। अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः।

—बड़ौदा सं० ना०शा०अ०भा० अध्याय ६' पृ० २७२।

ध्वन्यालोक लोचन एवं काव्य प्रकाश में प्राप्त भट्टलोल्लट के विचार—

(अ) तथाहि पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्त परिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमान त्वान्नाट्य रस इति केचित्।

—ध्वन्यालोक लोचन,

(आ) विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृत व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारीभिरुपचितो मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः' इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः।

—काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास।

परन्तु यह मत त्रुटिपूर्ण है। यों तो शास्त्रीय मीमांसा की दृष्टि से आचार्य शंकुक ने इसमें आठ दोषों का प्रतिपादन किया है परन्तु इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि अनुकार्य और अनुकर्त्ता में ही रस निष्पत्ति सम्पन्न हो जाती है काव्यानुभूत्रि के नाम पर सामाजिक के हिस्से कुछ भी नहीं आता।

दूसरे व्याख्याकार शंकुक का सिद्धान्त अनुमितिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनका मत है कि अनुक्रियमाण रत्यादि हीं रस है और वह चित्र तुरग न्याय के समान ही सम्यक् मिथ्या साद्रश्य तथा संशयात्मक सभी प्रतीतियों से विलक्षण होता है।[१] तात्पर्य यह है कि शंकुक के अनुसार अनुकार्य के भीतर रहने वाले स्थायी भाव को अभिनेता के भीतर उन विभावादि के बल पर अनुमित किया जाता है जो मूलतः अनुकार्य से सम्बद्ध हैं परन्तु अनुकार्य और अनुकर्त्ता के विलक्षण अभेद के कारण अभिनेता से सम्बद्ध मान लिये जाते हैं और इस प्रकार अनुकर्त्ता के भीतर अनुमान की सिद्धि करते हैं।[२]

परन्तु आचार्य शंकुक का यह अनुमितिवाद भी विद्वानों में समादृत न हो सका क्योंकि कहा गया है 'प्रत्यक्षमैन ज्ञानं चमत्कारजनकनानुमित्यादि' साथ ही अनुमिति भी ऐसी जिसमें सब कुछ कृत्रिम है। यों शास्त्रार्थ की दृष्टि से अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतीत ने शंकुक के मत का पूर्ण तर्क वितर्क के साथ खण्डन किया है।

१— तस्मत्, हेतुभिर्विमवाख्या कार्येरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया वृत्रिमेरपि तद्यानमिमन्यमानेः, अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगवलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यानुकरण रूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।...............किन्तु सम्यङ्०—
मिथ्या संशय सादृश्र प्रतीतिभ्यो विलक्षण चित्रतुरगादि न्यायेन, यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति।
—ब०ना०श–अ०भा०अ० ६, पृ० २७३।

२ – (अ) लोचन एवं काव्य प्रकाश में संकलित शंकुक के विचार—
अन्ये तु अनुकर्त्तरि यः स्थाय्यावभासो...............
(लोचन द्वितीय उद्योत)

(आ) राम एवायं अयमेव राम इति रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामौऽयमिति रामः स्याद्रानवाऽयमिति राम सदृशोऽयमिति च सम्यङ्० मिथ्या संशय सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्या ग्राह्ये नटे............नटेनैव प्रकाशितेः कार्य कारण सहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथा न भिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः। संयोगात् गम्यगमक भाव रूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तु सौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमान् विलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानोरत्यादि-र्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति शंकुकः।
—का०प्र० चतुर्थं उल्लास।

सांख्य मतावलम्बी व्याख्याकार रस को त्रिगुणात्मक कहते हैं उनका कथन है कि विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावादि सामग्री से जन्य आन्तरिक सुख दुःख मोह रूप स्थायिभाव इत्यादि होते हैं।[1] परन्तु यह सर्वथा अनुचित है क्योंकि तब एक ही ज्ञान में तीन विरुद्ध प्रकार की प्रतीतियों का सम्मिश्रण होने लगेगा।

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याता आचार्य भट्टनायक 'भुक्तिवादी' कहे जाते हैं। इनके अनुसार रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है।[2] इन्होंने दो नये व्यापारों की कल्पना करके अपने सिद्धान्त को रूपायित किया है। भट्टनायक के अनुसार अभिधा से जो काव्य का अर्थ उपस्थित होता है उसको शब्द का भावकत्व व्यापार परिष्कृत करके व्यक्ति विशेष के साथ सम्बन्ध को हटाकर साधारणीकरण कर देता है एवं सामाजिक के उपभोग के योग्य बना देता है तब शब्द का भोजकत्व नामक तीसरा व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक भोग करवाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इसके मत का खण्डन करते हुए कहा है कि प्रतीति आदि से भिन्न योग क्या है यह नहीं जानते। भोग प्रतीति रूप ही होता है। साथ ही उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों ही न मानने पर रस को या तो नित्य मानना होगा या असत् जबकि रस न नित्य होता है न असत् इसके अतिरिक्त बिना प्रतीत

१—येन त्वम्यधायि सुखदुखजननशक्तियुक्ता विषय सामग्री बाह्यैव सांख्यदृशा सुखदुख-स्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां दालस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभाव—व्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्याआन्तराः सुख दुख स्वभावा इति।

तेन' स्थायीभावान् रसत्वमुपनेष्यामः इत्यादवुपचार मंगी कुर्वता ग्रन्थ विरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित किमस्योच्यते ! यत्वन्यत् प्रतीतिवैषम्य प्रसङ्गादि तत् कियदत्रोच्यताम्।

—अ०भा० षष्ठोध्याय पृ० २७६।

२—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते।············तस्मात्काव्ये दोषाभाव-गुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपैण निविड निज मोह सङ्कटकारिणाविभावादि साधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादि विलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेगवेचित्र्यबलाद् द्रुति विस्तार विकास लक्षणेन सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति लक्षणेन पर-ब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यतः इति।

—अ०भा० अ० ६, पृ० २७६—७७ ब०सं०।

के कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती।[१] भट्टनायक ने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा यद्यपि सामाजिकगत रसानुभूति के उत्पादन का अच्छा प्रयास किया है पर जो नये व्यापारों की कल्पना की है वह अभिनव सिद्ध नहीं है। सच हो जिस स्थायी का भोग बतलाया है वह राम सीता गत स्थायी भाव है या नटगत या सामाजिक गत इसका भी मुक्तिवाद प्रचलित नहीं हो सका !

भरत सूत्र के सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याता आचार्य अभिनवगुप्त माने गये हैं। इनके द्वारा लिये गये निष्कर्ष साहित्य में प्रायः सर्व स्वीकृत सिद्धान्त समझे जाते हैं !

आचार्य अभिनवगुप्त ने विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई रस सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करने के उपरान्त अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है वह भी इस धारणा के साथ कि उन्होंने पूर्वाचार्यों के मत का शोधन किया है खण्डन नहीं, अभिनवगुप्त का विश्वास है कि पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की भली प्रकार संगति लगा देने में मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना का सा ही फल मिलता है।[२]

रस के स्वरूप विश्लेषण के सन्दर्भ में आचार्य अभिनव का अभूतपूर्व योगदान सर्व प्रथम तो इस प्रस्थापना में निहित है कि रस आस्वादन का विषय न होकर स्वयं आस्वाद्य है तथा रस अनुकार्य गत न होकर कविगत एवं प्रभातृगत है।[३]

१ – प्रतीत्यादिव्यतिरक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत्। सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमुपायवैलक्ष्यण्यान्नामान्तर प्रतिपद्यतां दर्शनानुमितिश्रुत्युपमिति — प्रतिमानादि नामान्तर वत्। निष्पादनाभिव्यक्तिद्रयानम्युपगमे चनित्यो वा असद्वा रस इति न तृतीया गतिरस्याम्। न चा प्रतीतं वनस्पति व्यवहारे योग्यम्।

— अ०भा० अ० ६, पृ० २७७ ब०सं०।

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाधे चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीयकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसविद्विश्रान्ति सतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

— का०प्र० चतुर्थ उल्लास।

२ सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्व प्रतिष्ठापित योजनासु मूल प्रतिष्ठा फलमामनन्ति॥

३ – तदेवं मूल बीजस्थानीयः कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिक तुल्य एव।······ ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादि नटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिक रसास्वादः। तेन रसममेव विश्वम्।

— हि०आ०भा०, अ० ६, पृ० ५१५।

अभिनवगुप्त का मत है कि रति आदि स्थायी भाव संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। वासनारूप में पूर्वावस्थित इन भावों की विभावादि के संयोग के कारण अभिव्यक्ति होती है वह अभिव्यक्ति रसना रूपा होती है, अतः वह स्थायी भाव से सर्वथा भिन्न है। उनका कहना है कि लोक में वनितादि रूप कारण, कटाक्षादि रूप कार्य एवं लज्जादि रूप सहकारियों के द्वारा रत्यादि मनोवेगों का अनुभव करने वाले प्रेक्षक का काव्य नाट्य के विभाव अनुभाव संचारी के साथ मूलतः हृदय संवाद उद्बुद्ध हो जाता है और यह उद्बुद्ध हृदय संवाद प्रमाता की रत्यादि को प्रबुद्ध कर रसन योग्य बना देता है प्रमाता के सुप्त स्थायी भावों की अभिव्यंजना रस रूप में हो जाती है। अभिव्यक्ति प्रक्रिया के प्रारम्भ हो जाने पर जैसे विभावादि व्यक्तिगत सीमा से मुक्त हो साधारण रूप धारण करते हैं वैसे ही सामाजिक की रति भी उसकी व्यक्तिगत परिधि से प्रोच्छलित हो रति सामान्य बन जाती है। इस प्रक्रिया के सक्रिय हो जाने पर प्रेक्षक की परिच्छिन्न प्रमातृता-ममत्व और परत्व भी नष्ट हो जाती है और वह अपरिच्छिन्न प्रमाता बनकर विगलित वेद्यान्तर रह जाता है।

अभिनव विवेचित निष्पत्ति की यह प्रक्रिया न उत्पत्ति रूप है न अनुमिति रूप न स्मृति रूप वह तो स्मृति अनुमान एवं प्रत्यक्ष लौकिक अनुभवों से विलक्षण लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण आस्वाद है।[2]

संक्षेप में रस विषयक अभिनव का विचार इस प्रकार है कि रस काव्य का अर्थ है वह अखण्ड आत्मविश्रान्तिमयी आनन्दानुभूति है और रसास्वाद पानक रस के समान सर्वथा विलक्षण होता है। साथ ही निष्पत्ति रसना की होती है रस की नहीं यह प्रयोग औपचारिक है।

रसों की संख्या :

रस अपने अखण्ड रूप में मात्र एक आस्वादात्मक अनुभूति है अतः एक है किन्तु यह अनुभूति विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की होती है हर्ष के अवसर पर हृदय यदि आनन्दातिरेक से भर जाता है तो इष्ट वियोग के अवसर पर

१–अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मक-चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्ध स्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।

— हि० अ० भा०, पृ० ४८३

२–अलौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमान लौकिक स्वसम्वेदन विलक्षण एव।

—हि०अ०भा०, पृ० ४८५।

दुःखापूरित भी हो उठता है। यही कारण है कि अन्ततः एक मात्र आनन्द होने पर भी इसे संख्याओं की सीमा में विभक्त किया गया है। नाट्य शास्त्र में तो आठ रसों की चर्चा की गई है जिनमें चार को प्रधान कहा गया है और चार कों उनका अनुवर्ती। अन्य रसों की उत्पत्ति के हेतुभूत चार रस हैं– (१) शृंगार, (२) रौद्र, (३) वीर और (४) वीभत्स। शृंगार की अनुकृति हास्य रौद्र का जो कर्म अर्थात् फल वही करुण, वीर का फल अद्भुत और बीभत्स का विभावादि रूप दर्शन भयानक रस है।[1] परन्तु अभिनवगुप्त रसों की संख्या ९ मानते हैं और उन्होंने संचारी निर्वेद को स्थायी बताकर शान्तरस की स्थापना का महत कार्य किया है।

भरत ने शान्त रस का लक्षण इस प्रकार दिया है—मोक्ष की ओर ले जाने वाले शमस्थायिभावात्मक शान्त रस कहलाता है। यह तत्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना, सर्वभूतदया, लिंग (वैराग्य के चिन्ह) धारण, आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाय। इसके व्यभिचारी भाव निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ रोमांच आदि हैं।

परन्तु अन्य बहुत से आचार्यो को यह स्वीकार नहीं है उनकी आपत्तियां निम्नांकित हैं—

(१) शम और शान्त ये पर्याय हैं अतः शम को स्थायीभाव और शान्त को रस मानकर भेद करना उचित नहीं है।

(२) भरत ने कुल ४९ भावों की गणना की है जिसमें शम का नामोल्लेख नहीं है। शान्त को रस तथा शम को स्थायी भाव मानने पर भावों की संख्या ५० माननी पड़ेगी।

(३) तप और अध्ययनआदि शान्त के विभाव नहीं हो सकते और न ही कामादि के अभाव को उसका अनुभाव ही कहा जा सकता है क्योंकि शान्त के विरोधी वीरादि रसों में भी कामादि का अभाव होता ही है।

(४) शान्त रस का अभिनय में समावेश नहीं हो सकता क्योंकि चेष्टा के अभाव का अभिनय नहीं किया जा सकता।

(५) धृति वगैरह को शान्त रस का व्यभिचारी भाव बताया गया है परन्तु धृति अर्थात् विषयों का उपभोग करने से उत्पन्न होने वाली तृप्ति। तो फिर यह कृत्ति शान्त रस में किस प्रकार सम्भव है।

१–ना०शा० ६।३२ हि० अ० मा०

(६) शम प्रधान पुरुष तो निश्चेष्ट बनकर बैठा रहेगा ऐसा अकिंचित्कर पुरुष तो तत्वज्ञान प्राप्त करने के उपाय भी नहीं करेगा।

(७) आप शान्त रस को सुख-दुःख रहित मानते हैं परन्तु साधक तो तत्वज्ञान प्राप्त होने के बाद भी संसार में रहते हैं और पराये सुख से सुखी पराये दुःख से दुःखी होते दिखाई देते हैं। अतः शान्त रस का स्वीकार हो नहीं सकता।

आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्व पक्ष के इस उपस्थापन के उपरान्त शान्त रस का समर्थन करते हुये कहा है कि शास्त्रों में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बताये गये हैं जिस प्रकार कामादि में उचित ऐसी रत्यादि नाम से पहचानी जाती चित्तवृत्तियों कवियों एवं नटों के व्यापार द्वारा हृदय संवाद वाले सामाजिकों के लिये आस्वादयोग्य बनायी जाकर शृंगरादि रसों को प्राप्त कराई जाती हैं, उसी प्रकार मोक्ष नामक चतुर्थ परम पुरुषार्थ को, उचित चित्तवृत्ति को भी रसत्व तक क्यों नहीं पहुँचाया जा सकता ? अभिनवगुप्त का कथन है कि मोक्ष रूप पुरुषार्थ के लिए उचित जो भी कोई चित्तवृत्ति हो वही शान्त रस में स्थायी भाव है।

शान्त रस के स्थायी भाव को लेकर भी अभिनवभारती के विशद् विवेचना की गई है समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों की विचार धाराओं का युक्तियुक्त विवेचन कर आचार्य अभिनवगुप्त ने निष्कर्ष लिया है कि तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शान्त का स्थायी है। यही कारण है कि भरत ने इसकी गणना स्थायी और संचारियी के बीच की है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार इस शान्त रस के वैराग्य संसारभीरुता आदि विभाव हैं। उनके वर्णन से शान्त रस का ज्ञान होता है। मोक्षशास्त्र का विचार आदि उसके अनुभाव हैं। निर्वेद, मति, स्मृति, धृति, आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

इस शान्त रस का समर्थन अन्य शास्त्रों के आधार पर करते हुये अभिनवगुप्त कहते हैं कि इतिहास, पुराण, अभिधान, कोश आदि में नव रस बताये गये। हमारे गुरुदेव उत्पलाचार्य के प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी ऐसा ही है। वहां कहा है कि—

अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन्प्रदर्शयेत्।
मध्येचदेव देवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥

अभिनवगुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि सभी रसों का आस्वाद शान्त-प्राय ही होता है। "तत्र सर्वरसानां शान्तप्रायएवास्वादो विषयेभ्यो विपरिवृत्या, तन्मुख्यतालाभात्।" जिस प्रकार सम्भोग की चरमावस्था में सभी काम व्यापारों की उपरति हो जाती है और तभी चरमास्वाद अनुभूत होता है उसी प्रकार सभी रसों का आस्वाद शान्तप्राय ही होता है। अन्तर इतना ही है कि इसमें अन्य रसों की मुख्यता होने के कारण इस आस्वाद में अन्य वासनायें अवस्थित होती है।

शान्त रस के आस्वाद की चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं कि आत्मा के स्वरूप को ढक देने वाली रति, उत्साह आदि से आच्छादित आत्मा का जो स्वरूप है, वही दूर-दूर पिरोये गये मुनियों के बीच में दिखाई देने वाले सफेद व चमकते सूता के समान क्वचित् क्षण दो क्षण के लिए भासमान होने पर रत्यादि उपरञ्जकों के यथावत् रहने पर सकृद्विभातोऽयमात्मा वचनानुसार एक बार प्रगट हुआ होने पर भी यह आत्मा विषयोन्मुखता रूप सब दुःखों के जाल से रहित और परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्न रूप में काव्य तथा नाटक प्रबन्ध आदि द्वारा एक सा प्रतीत होता है और एक प्रकार की अन्तर्मुख अवस्था द्वारा लोकोत्तर आनन्द प्राप्त करा कर हृदय को भी वैसा अर्थात् आनन्दमय बना देता है।

इस प्रकार रस नव ही है। अभिनवगुप्त ने वात्सल्य लौल्य आदि अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तावित नवाधिक रसों का खण्डन किया है।

रस वं उसकी अलौकिकता :

रस के रूप में अनुभूत काव्यार्थ के आस्वाद की विलक्षणता इस बात में निहित है कि उसकी दुःख युक्तता भी अन्ततः आनन्दोत्पादिनी होती है लौकिक जीवन में सुख युक्तता सुखोत्पादक होती है तथा दुखद प्रसंग दुखदायी होते हैं परन्तु काव्यार्थ के सन्दर्भ में दुखद प्रसंग भी आनन्ददायक होते हैं। अभिनवगुप्त ने रसानुभूति की दुखात्मकता का सर्वथा निराकरण किया है। उनका मत है कि रसानुभूति की अवस्था में 'स्वात्मा' का ही परामर्श है जो आनन्दघन रूप है। अतः उसके आस्वाद में दुख की आशंका ही कैसे हो सकती है।

रस चमत्कारपूर्ण अलौकिक अनुभूति है। वह न तो लौकिक अनुभूति है न मिथ्या, न अनिर्वचनीय है न लौकिक सदृश और न लौकिक अनुभूति द्वारा आरोपित ही है—वह तो स्मृति, अनुमान एवं प्रत्यक्ष लौकिक अनुभवों से विलक्षण लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण आस्वाद है।[2] यह न कार्य है न ज्ञाप्य है। न सविकल्पक है न निर्विकल्पक। किसी लौकिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय है अतः अलौकिक है तथा ब्रह्मानन्द सहोदर है।

१–(अ) अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का।
(आ) अन्येत्वादिशब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः। स च न युक्तः।
सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादि फलम्॥
हि० अ०भा० पृ० ५००।

२–अलौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यानुमान लौकिक स्वसम्वेदन विलक्षण एव।
हि०अ०भा०, पृ० ४८५।

लौकिक सीमा में आबद्ध होते हुये भी रस अलौकिक है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में स्पष्ट रूप से कहा है कि रस चर्वणा प्रत्यक्ष अनुमान आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान से तथा योगि प्रत्यक्ष से होने वाले तटस्थ पर सम्वेदनात्मक ज्ञान से एवं समस्त विषयों के प्रति वैराग्य युक्त परम योगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द के अनुभव से भिन्न प्रकार की होती है।[१]

रस के कारणभूत विभावादि के न रहने पर रस भी नहीं रहता इसलिए वह कार्य नहीं है तथा विभावादिजीवितावधी होने के कारण वह ज्ञाप्य भी नहीं है। इसलिए रस अलौकिक है। रस इसलिए भी अलौकिक है क्योंकि वह वाच्य नहीं हो सकता। लौकिक अर्थ वाच्य हो सकता है परन्तु रस तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता।

नाट्यशास्त्र में विवेचित रस-उसके वर्ण एवं देवता

रस	स्थायी	वर्ण	देवता
शृंगार	रति	श्याम	कामदेव
हास्य	हास	श्वेत	प्रथम
करुण	शोक	कपोत	यम
रौद्र	क्रोध	रक्त	रुद्र
वीर	उत्साह	गौर	महेन्द्र
भयानक	भय	काला	काल
बीभत्स	जुगुप्सा	नील	महाकाल
अद्भुत	विस्मय	पीत	ब्रह्मा
शान्त	निर्वेद	स्वच्छ	बुद्ध

रस प्रतीति-उसके विघ्न एवं अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार निर्विघ्न प्रतीति ग्राह्य भाव ही रस कहे जाते हैं। काव्य निबद्ध अलौकिक विभावादि की निर्विघ्न सम्वेदना रूपा चर्वणा ही रस है। तात्पर्य यह है कि रसानुभूति निर्विघ्न होनी चाहिये क्योंकि विघ्न अविश्रान्ति कारक हैं और अविश्रान्ति दुख है। लौकिक व्यवहार में भी निर्विघ्न प्रतीति को ही

१–सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाण जनितरत्याद्यवबोधता, तथा योगिप्रत्यक्षजनित-तटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपरागशून्य-शुद्ध परं योगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभावाच्च विशिष्यते।—

—हि०अ०भा, पृ० ४८५।

चमत्कार [1] निर्वेश, रसना आस्वाद, भोग समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि नामों से अभिहित किया जाता है। अभिनवगुप्त ने सात प्रकार के रस विघ्नों का उल्लेख किया है।

(१) सम्भावना विरह रूप प्रतिपत्ति की अयोग्यता :

कवि को ऐसी ही वस्तु का वर्णन करना चाहिए जो अलोकसामान्य न हो जिससे कि भावक का हृदय संवाद आसानी से हो जाये और उनकी प्रतीति का खण्डन न हो तात्पर्य यह है कि मानुष प्रकृति का पात्र सात समुद्र लांघ जाये ऐसा बर्णन नहीं होना चाहिये ऐसा वर्णन यदि करना हो तो इनका सम्बन्ध रामादि जैसे पात्रों से होना चाहिये क्योंकि पूर्व प्रसिद्धि के कारण उनके प्रति विश्वास दृढ़ हुआ करता है। इस प्रकार प्रथम रस विघ्न यही है कि असम्भव प्रतीत होने वाले प्रसंगों का वर्णन न किया जाय।[2]

(२) स्वगत परगत देश काल विशेषावेष :

यह दूसरा विघ्न भावक से सम्बन्ध है। यदि भावक में स्वगत परगत भाव बोध बना रहेगा तो हृदय सम्वाद सम्भव ही नहीं होगा और इस स्थिति में रस प्रतीति कथमपि सम्भव नहीं है। रस प्रतीति उसी दशा में सम्भव है जब ममत्व परत्व के बन्धन विगलित हो जायें। इस विघ्न के अपसारण के लिए पूर्व रंङ्ग और प्रस्तावना द्वारा साधारणीकरण का प्रयास करना चाहिये।

(३) निजसुखादिविवशीभाव :

इसका अर्थ है अपने सुख दुखों से विवश हो जाना। जो व्यक्ति अपने सुखदुःखों से विवश होगा वह एकाग्र नहीं हो सकता। एकाग्रता के अभाव में विश्रान्ति सम्भव नहीं है और विश्रान्ति के अभाव में रसास्वाद। इस विघ्न के निवारण के लिये भांति-भांति के गीत वाद्य मण्डप वैचित्र्य की योजना करनी चाहिये जिससे अहृदय भावक भी सहृदय बन जाये।

(४) प्रतीत्युपायवैकल्यम् :

रस प्रतीति के उपाय अर्थात् विभावादि का वैकल्य अर्थात् असंगति पूर्ण

१–विघ्नाश्चास्यांसप्त। प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावना विरहानाम, स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकाल विशेषा वेशः, निजसुखादिविवशीभाव, प्रतीत्युपायवैकल्यम्, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता संशययोगाश्च।

—हि० अ० भा० पृ० ४७४।

२–न त्वसंभावनापदं वर्णनीयमिति।

— ध्वन्यालोक लोचन, तृ० उ०।

योजना चौथा विघ्न है। यह दोष काव्यगत है अतः इसे दूर करने के लिए कवि को विभावादि की योजना औचित्यपूर्ण एवं उचित मात्रा में करना चाहिये।

(५) स्फुटत्वाभाव :

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि स्पष्टता का अभाव भी रस प्रतीति में विघ्न उपस्थित करता है। रसानुभव प्रत्यक्षकल्प होता है, अतः आवश्यक है कि काव्य में विभावादि की प्रतीति स्पष्ट रूप में हो।

(६) अप्रधानता :

काव्य अथवा नाट्य में जो प्रधान हो उसका प्राधान्य सदैव सुरक्षित रखना चाहिये यदि अप्रधान वस्तु की योजना हो तो वह भी ऐसी होनी चाहिये जो प्रधान की पुष्टि ही करती है अन्यथा अप्रधान का विशेष विवेचन होने पर भावक की संवित् उसमें विश्रान्त नहीं हो पाती और रसप्रतीति में विघ्न उपस्थित हो जाता है।

(७) संशययोग :

यह सातवां विघ्न है इसका तात्पर्य यह है कि काव्य में विभावानुभाव संचारी का स्थायी के साथ नियत सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि एक ही विभाव भिन्न परिस्थितियों में भिन्न रसों की उत्पत्ति के कारण हो सकते हैं यथा 'सिंह' विभाव वीर पुरुष के लिए क्रोध कायर के लिए भयोत्पादक हो सकता है और संशय उत्पन्न कर सकता है इसके निवारण के लिए तीनों का संयोग साचित होना चाहिए।

भाव एवं रस

आचार्य भरत के अनुसार विभावों से आहृत एवं अनुभावों से अभिव्यक्त अर्थ ही भाव है। भावयति इति भावः के आधार पर अभिनवगुप्त ने भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन् इस प्रकार का अर्थ दिया है तात्पर्य यह है कि भाव काव्यार्थ का भावन करते हैं अर्थात् उसे आस्वाद्य योग्य बनाते हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र में भावों की संख्या ४९ बताई है। जिनमें आठ स्थायी, तैंतीस संचारी एवं आठ सात्विक भाव हैं। ये सब भी अलौकिक होते हैं। रस से इन भावों का घनिष्ट सम्बन्ध है इसीलिए आचार्य भरत ने प्रश्न उठाया है–"कि रसेभ्योभावानामभिनिवृ त्त उस भावेभ्यो रसानाभिति। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए तीन प्रश्न रखे हैं – रस के कारण भाव सम्पन्न होते हैं ? अथवा भाव के कारण रस सम्पन्न होते हैं ? अथवा वे अन्योन्यजनक हैं ? भरत मुनि के विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः के अनुसार तो विभावादि का रस की दृष्टि से पूर्व वर्तित्व ही सिद्ध होता है। परन्तु व्यवहार में तो विभावादि की सत्ता ही नहीं होती जब कार्यकारण का प्रयोग रसा-

व्यापार के लिए किया जाता है तभी इन्हें विभावत्व प्राप्त होता है। इस दृष्टि से विभावादि की अपेक्षा रस का पूर्ववर्तित्व है। यदि यह कहा जाय कि भावादि से रस और रसादि से भाव सम्पन्न होते हैं तो इतरेतराश्रयत्व का दोष होता है।

काव्यगत विभाव प्रतीत न हुए तो रस सिद्धि सम्भव ही नहीं है अतः स्पष्टतः रस से भाव निष्पत्ति नहीं होती भावरहित रस हो ही नहीं सकता (न भावहीनोऽस्ति रसः) साथ ही यह भी सत्य है कि रस के अभाव की स्थिति में भावों की सत्ता भी नहीं रहती (न भावों रसवर्जितः) तो समस्या का समाधान क्या है? उत्तर में बताया गया है कि (परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनयेभयेत्) रस तथा भाव दोनों का आश्रय अभिनय है। यहाँ किसी दोष की सम्भावना नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिस प्रकार पट की अपेक्षा से तंतुओं का कारणत्व है और तंतुओं की अपेक्षा से पट का कार्यत्व है उसी प्रकार रसभावों का भी है रस की अपेक्षा से लौकिक कारणों का विभावत्व है, तथा विभावादि की अपेक्षा से रस की निष्पत्ति है।

काव्य गुण

किसी भी कलात्मक कृतित्व को श्री युक्त बनाने वाले तत्व को ही गुण कहते हैं। श्री शब्द जहाँ सौन्दर्य का सूचक है वही सम्पन्नता का भी। सौन्दर्य और सम्पन्नता आंतरिक और वाह्य दोनों होती है। 'नयनाभिराम' शब्द में यदि वाह्य सौन्दर्य की सत्ता है तो 'चित्ताकर्षक' में आन्तरिक। काव्य में भी अन्तः और वाह्य दोनों प्रकार का सौन्दर्य समाहित होता है। गुण शब्द से ही सौन्दर्य ध्वनित होता है—एक ऐसा सौन्दर्य जिससे कलेवर और आत्मा दोनों ही शोभित हों काव्य में भी गुण यदि वर्ण नियोजना में लालित्य की सृष्टि करता है तो अर्थ बोध और रसानुभूति का भी पथ प्रशस्त करता है। अतः स्पष्टतः काव्य में गुण का अस्तित्व महत्वपूर्ण है। रस की अनुभूति गुणात्मक होती है क्योंकि रस धर्मी है और गुण धर्म।

काव्य की भाव भूमि पर गुण और दोष दोनों का अस्तित्व साहित्य अध्येताओं के बीच एक अस्पष्ट विभ्रम का सर्जक रहा है। आदि आचार्य भरत और दण्डी गुण को दोष का विपर्यय मानते रहे हैं।[१] परन्तु गुण सहित होने मात्र से ही कोई हती दोष रहित नहीं हो जाती अथवा दोष मुक्त होने से ही उसे गुण शून्य नहीं कहा जा सकता। दोषों का अभाव गुणों की सत्ता का सूचक कदापि नहीं हो सकता क्योंकि गुण युक्त होकर भी कवि कृतियां सदोष हो सकती है। यथा कायरता मनुष्य का दोष

१-(अ) एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिः नाटकाश्रयाः।
एत एवः विपर्यस्ताः गुणा काव्येषु कीर्तिताः ॥ (भरत)
(ब) दोषाः विपत्तये यत्र गुणाः सम्पत्तये यथा। ३।१२४।
दण्डी काव्यादर्श।

है और सत्य निष्ठा गुण। यह आवश्यक नहीं कि जो सत्यनिष्ठ हो वह कायर न हो और जो कायर हो वह सत्यनिष्ठ न हो। ठीक इसी प्रकार काव्यशास्त्र में भी गुण और दोष एक दूसरे के पूरक और पर्याय न होकर स्वतन्त्र अस्तित्वापेक्षी हैं। इस अध्याय का विवेच्य विषय गुण है अतः सर्व प्रथम गुण के ऐतिहासिक विकास क्रम पर विचार करना समीचीन होगा।

गुण सिद्धान्त का ऐतिहासिक आकलन :

शास्त्रीय रीति से काव्य गुणों का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य भरत ने ही प्रस्तुत किया परन्तु परम्परा का निर्बाध निर्वाह आचर्य वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि की प्रखर प्रतिभा के आश्रय से ही सम्भव हो सका। भरत के परवर्त्ती काल में गुण सिद्धान्त की दो धारायें विकसित हुई। वामन द्वारा शब्दार्थ में गुण विभाजन की परम्परा का एक ओर प्रवर्तन हुआ तो दूसरी ओर आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त द्वारा रसाश्रित गुण सिद्धान्त स्थापित हुआ।

यद्यपि आचार्य वामन से पूर्व ही भामह ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक तीन गुणों का उल्लेख कर चुके थे परन्तु दण्डी से आचार्य वामन के पूर्व तक की आचार्य परम्परा में न तो गुण एवं अलङ्कारों का दो स्वतन्त्र तत्वों के रूप में विभाजन ही हुआ था और न ही शब्द गुण और अर्थगुण की विभाजक रेखा ही निर्धारित हो सकी थी। आचार्य दण्डी के मतानुसार तो काव्य शोभाधायक समस्त तत्व अलङ्कारानुवर्ती हैं।[1] आचार्य रुद्रट गुणों को कोई विशेष महत्व प्रदान नहीं करते। जहां तक आचार्य उद्भट का सम्बन्ध है वे तो गुणों को पृथक् काव्याङ्ग के रूप में स्वीकार करने के प्रबल विरोधी हैं। उनके अनुसार गुणालंकार भेद मिथ्या कल्पना है क्योंकि लौकिक गुण तथा अलंकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलङ्कारों का शरीरादि के साथ संयोग सम्बन्ध होता है और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध होता है। परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास उपमादि अलंकार दोनों की ही समवाय सम्बन्ध से स्थिति होती है अतः इनमें भेद कल्पना गड्डलिका प्रवाह मात्र हैं।[2] भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में लक्षण, अलंकार एवं गुणों का पृथक्-पृथक् निरुपण तो किया है परन्तु यह स्पष्ट नहीं बताया है कि इनमें से कौन से तत्व काव्य के किन अंगों के उपकारक हैं और शोभावर्धक हैं।

१--काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
—काव्यादर्श।

२--समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्कारणां भेदः ओजः प्रभृतिनाम् अनुप्रासोपमादीनां चो भयेषामपि समवाय वृत्या स्थितिरिती गड्डलिका प्रवाहेणैवैषां।
– काव्यालंकार १५० पृ० रुद्रट।

अतः स्पष्टतः भरत से रुद्रट तक गुणालंकार और गुण के शब्द एवं अर्थ में पृथक करण की विचारणा अत्यन्त अस्पष्ट एवं धूमिल थी। आचार्य वामन ने दोनों ही क्षेत्रों में मौलिक सिद्धान्त का सृजन कर सिद्ध किया कि गुण नित्य है और अलंकार अनित्य।[1] साथ ही वामन ने भरत सम्मत दस गुणों के स्थान पर दस शब्द गुणों एवं दस अर्थ गुणों का निरूपण किया। भोज ने वामन का अनुसरण करते हुये चौबीस गुणों का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार काव्य में 'रस वियोग' की भांति गुणयोग नित्य होता है। काव्य में गुण का आदान नियम है और अलंकार का प्रयोग कामाचार।[2] अभिनव के गुरू एवं उदभ्ट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज की दृष्टि में भी गुण काव्य का नित्य धर्म है और अलंकार व्यभिचारी और अ नित्य[3] यद्यपि वे भामह और आनन्दवर्धनाचार्य की परम्परा में तीन गुण ही मानते हैं। अग्निपुराणकार केशव मित्र और जयदेव प्रभृति आचार्यों ने वामन प्रवर्तित गुण सिद्धान्त का अनुसरण किया।[4] परन्तु तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो आन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त प्रवर्तित रसाश्रित गुणसिद्धान्त की परम्परा अधिक तर्कयुक्त एवं वैज्ञानिक है। इसके अन्तर्गत उन्होंने सिद्ध किया है कि 'रस काव्य की आत्मा है'। काव्य शब्दार्थमय शरीर है।' रस रूप काव्यात्मा के ओज, प्रसाद आदि गुण नित्य धर्म है। शब्दार्थमय काव्य शरीर के उपमादि अलंकार अनित्य धर्म है। गुण दस या बीस न होकर मात्र तीन हैं। उन्हीं में कुछ का अन्तर्भाव होता है और कुछ दोषाभाव रूप भी हैं। आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की चिन्तन धारा से साहित्यजगत में एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न हुई। यद्यपि भरत मुनि इस तत्व का पहले ही प्रतिपादन कर चुके थे कि रस के बिना कोई भी काव्यार्थ प्रवृत्त नहीं होता।[5] परन्तु भरत की यह रस दृष्टि उत्तरोत्तर अलंकार वादियों एवं रीतिवादियों के मानदण्डों के बीच जीवित न रह सकी और यहां तक

१--काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मागुणाः
तदिशय हेतवस्त्वलङ्काराः ॥
पूर्वे नित्याः गुणाः। तैर्विना काव्यशोभानुपपतेः।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३।१।१-३।

२—सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० ६२०-६२७।

३--अतएव अलङ्काराणामनित्यता। गुण रहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति न त्वलङ्काररहितम्। अलङ्काराणां गुणोपजनित शोभेकाव्ये शोभातिशय विधायित्वात्। --उद्भट काव्याल

४--अग्निपुराण ३४६।१, प्रतापरुद्रीय पृ० २४२, अलङ्कारशेखर पृ० २१-२८ चन्द्रालोक ४।१०।

५--नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। ना०शा० अ० ६।

कि भामह ने तो रस को रसवत् अलंकार के रूप में परिगणित कर लिया था। इसके पुनरुज्जीवन का सम्पूर्ण श्रेय ध्वनिकार को जाता है। जिसने काव्य के प्राण के रूप में रस को साहित्यिक उपादानों में शीर्षस्थान पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य आनन्दवर्धन ने सिद्ध किया कि आत्मा की शूरता आदि नित्य धर्मों की भांति ओजादि गुण भी रस रूप काव्यात्मा के नित्य धर्म हैं और अलंकार कटक केयूर के समान अंगो के माध्यम से आत्मा रूप रस के उपकारक होते हैं।[1] परवर्ती काल में प्रायः यहीं सिद्धान्त सर्वमान्य रहा।

निष्कर्ष यह है कि भरत मुनि के समय तक अभावात्मक तत्व थे। आचार्य वामन ने इन्हें भावात्मकता प्रदान की और गुणों को शब्दार्थ का ही धर्म मानते हुये शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में काव्य में उनकी स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता स्वीकार की। वामन के उपरान्त आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणों की नित्यता को यथावत् स्वीकार करते हुये उसकी स्वतन्त्रता में सन्देह प्रगट किया और गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के आश्रित माना और कहा कि गुण रस के आश्रय से ही काव्य का उत्कर्ष करते हैं। समय के साथ गुणों की यही परिभाषा सर्वमान्य हो गई परन्तु आचार्य जगन्नाथ के समय में गुण सम्बन्धी समीक्षा पद्धति में एक नव्य विचारधारा का अवतरण हुआ वह यह कि रस यदि काव्य की आत्मा है तो वेदान्तानुसार आत्मा आत्मा के निर्गुण होने के समान ही रस भी निर्गुण है अतः उसका धर्म अथवा गुण कैसा?[2] वस्तुतः यह मात्र बुद्धि विलास ही है क्योंकि अन्ततोगत्वा पंडित राज ने शब्द अर्थ के साथ साथ रस को भी गुण का आधार माना जिससे गुण का रस धर्मत्व पुनः स्थापित हो सका। वस्तुतः ध्वनि की मान्यता स्वीकार कर लेने पर रस धर्मत्व का निषेध सम्भव भी नहीं था। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन का गुण विषयक समन्वयवादी सिद्धान्त ही श्रेष्ठ और सर्व सम्मत प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने न तो गुणों को मात्र शब्दार्थ धर्म कहा और न ही मात्र रस धर्म। गुण मुख्यतः रस का एवं गौण रूप से शब्दार्थ का धर्म है। आनन्दवर्धन की शौर्यादि की उपमा भी वस्तुतः उनके इसी मन्तव्य की पुष्टि करती है क्योंकि आत्मा सर्वशक्तिमान् होते हुये भी कलेवर के अभाव में अक्षम सिद्ध होती है और यही स्थिति कलेवर के साथ भी है आत्माके अभाव में वह शव है, निष्क्रिय है। यही मत आचार्य अभिनवगुप्त का भी है

१--तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्या कटकादि वत् ॥ २।६॥

२--किं चात्मनोनिर्गुणतयात्परुपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्यागुणेगुणान्तरस्यानौचित्याच्च।
—रस गंगाधर, पृ० ६६।

उनके अनुसार गुण धैर्यादि की तरह प्रवृत्ति से द्योषित हुआ काव्यगत शब्द और अर्थ की रचना के आश्रय से रहता है।[1]

अतः जिस प्रकार शौर्य, धैर्य आत्मिक गुण होते हुये भी अभिव्यक्ति के लिए शरीर का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार गुण भी आत्मा के धर्म होते हुए भी शरीर रूप शब्द अर्थ का आश्रय लेते हैं। गुण के रस और रचना के सम्बन्ध में लोकमत तो यही है कि गुण रस के नित्य एवं रचना के अनित्य धर्म है परन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो स्पष्टतः गुण रचना के साथ भी नित्य सम्बद्ध ही प्रतीत होते हैं क्योंकि यदि किसी रचना में माधुर्य व्यंजक शब्द है परन्तु रस गत माधुर्य नहीं है तो उसे हम माधुर्य गुणयुक्त रचना नहीं कह सकेंगे। उसी प्रकार रसगत माधुर्य हो और वर्णगत न हो तो भी उसे माधुर्य गुण का पूर्ण उदाहरण नहीं माना जायेगा। गुण को समग्रता से प्राप्त करने के लिए रचनागत गुण और रसगत गुण दोनों का सम्यक् संयोजन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। आचार्य अभिनवगुप्त की इन पंक्तियों से भी स्पष्ट हैं कि वस्तुतः माधुर्यं नाम शृङ्गारादेरसस्येव गुणः। तन्मधुरः रसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयो रूपचरितं मधुरश्शृङ्गार रसाभिव्यक्ति समर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्।[2] अर्थात् माधुर्य और ओजगुण व्यंजकमधुर एवं ओजपूर्ण शब्द (वर्ण या रचना) + उन शब्दों का मधुर एवं दीप्ति पूर्ण अर्थ ये दोनों ही क्रमशः शृङ्गारादि मधुर रसों एवं रौद्रादि कठोर रसों की अभिव्यक्ति करते हैं। अतः स्पष्ट ही है कि गुण की समग्रता रस और वर्ण दोनों के योग में निहित है। फिर भी प्रधानता रसगत गुण की ही है क्योंकि कोमल वर्णों से माधुर्य की व्यंजना तथा कठोर वर्ण से ओज की व्यंजना का नियम सार्वत्रिक नहीं है। उदाहरणार्थ 'यो यः शस्त्रं विभर्ति' ओज गुण युक्त रचना है परन्तु वर्णों में ओज का स्पष्ट अभाव होने पर भी इसे माधुर्य गुण युक्त नहीं कहा जा सकता। अतः यदि माधुर्यादि गुणों को वर्ण धर्म माना जायेगा तो व्यभिचार दोष हो जायेगा। पर गुण को रस धर्म मान लेने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। रस के अभाव में गुण के सद्भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती जबकि वर्णगत गुण के अभाव में भी रसगत गुण स्थिर रह सकता है। इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए ही मम्मट ने गुणों को रस का 'अचल स्थित धर्म' कहा है। रस स्थिति रहने पर गुण की भी सत्ता अनिवार्यतः रहती है।

अभिनवगुप्त और गुणः—

काव्यगुण विवेचन के प्रसंग में आचार्य अभिनवगुप्त कृत विवेचन अत्यन्त महत्व

१—गुणस्तु प्रवृत्तिद्योतितोर्धैर्यादिवत्काव्यस्यशब्दार्थरचनामाश्रयति।
—अ० १६ पृ० १३४३।

२—ध्वन्यालोक लोचन उद्योत २।

पूर्ण है। इन्होंने काव्यगुण सम्बन्धी अपने मत का प्रतिपादन दो ग्रन्थों पर की गई स्वरचित टीकाओं में किया है। प्रथमतः आचार्य आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक की टीका लोचन में तथा दूसरा भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में। अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने इस मत का प्रतिपादन किया है और उसको निर्दोष सिद्ध किया है कि गुणों की संख्या दस है और उसका सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों के साथ है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि दस गुणों का प्रतिपादन करने में अभिनवगुप्त ने वामन का अनुसरण किया है क्योंकि भरत प्रतिपादित गुण प्रसंग की टीका लिखते हुए उन्होंने न केवल वामन के गुण विषय सूत्रों का सार अर्थ लिया प्रत्युत गुणों के स्पष्टीकरण के लिए उन्हीं दृष्टान्तों को उद्धृत किया है जिनका विवेचन वामन ने किया। इसके विपरीत आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक की लोचन टीका में माधुर्य ओज प्रसाद इन तीन गुणों का सम्बन्ध रसानुभव से है। अतः ये गुण रसानुभव काल में चित्त अथवा आत्मा की विशेष दशाओं के रूप में होते हैं। एक ही व्यक्ति द्वारा रचित दो कृतियों में एक ही तत्व के सन्दर्भ में दो सर्वथा भिन्न मत सहज ही भ्रम उत्पन्न करते हैं।

अभिनवगुप्त ने लोचन पहले लिखा अभिनवभारती बाद में। सहज ही शंका होती है कि यदि अभिनवगुप्त को तीन ही गुण मानने थे तो उन्हें दस गुणों का खण्डन करना चाहिए था क्योंकि अभिनव जैसे नीर-क्षीर विवेकी से यही अपेक्षा रखी जाती है। यदि वे दस गुणों को महत्व देना चाहते थे तो उन्हें तीन गुणों के सन्दर्भ में इसे ही स्पष्ट कर देना चाहिए था। साम्प्रदायिक दृष्टि के साथ आचार्य भामह और वामन जो अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती आचार्य हैं तीन और दस गुणों के सन्दर्भ में मार्ग का निर्माण कर ही चुके थे। इस समस्या के समाधान के सन्दर्भ में यह जानना आवश्यक है कि नाट्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय परम्परा के बीच किस प्रकार गुणों का विकास हुआ।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्यगुणों के विषय में दो प्राचीन परम्परा स्वतंत्र मत थे। उनमें से एक का प्रतिपादन भरत मुनि ने और दूसरे का प्रतिपादन भामह ने किया था। भरत मुनि नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के आचार्य थे और भामह काव्यलक्षण शास्त्र सम्प्रदाय के। जैसा कि अभिनव गुप्त ने लिखा है— वास्तविकता यह है कि काव्य रचना के साधनों का जो वर्गीकरण किया गया है वह किसी एक सिद्धान्त पर आधृत नहीं है। इस वर्गीकरण का प्रयोजन केवल काव्य की रचना में निपुणता प्राप्त करने के इच्छुक आरम्भिक विद्यार्थियों को शिक्षा मात्र देना ही है अतः दो प्राचीन शास्त्रकारों एवं ने कवि प्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत वस्तु के प्रगटी-करण के साधनों को दो वर्गों अर्थात (१) काव्यगुणों एवं (२) काव्यालंकारों में

विभाजित किया था। यह विभाजन उन शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी इस समझ के अनुसार किया था कि काव्य रचना के साधनों में कौन से साधन मूल रूप से प्रधान हैं और कौन से अप्रधान। इन दोनों ही शास्त्रकारों में इस विषय में मतभेद था कि काव्य रचना के दो साधन समुदायों में गुण एवं अलंकारों में अधिक आवश्यक कौन है ? भरत मुनि के मतानुसार काव्य के लिए काव्यगुण मूल रूप से आवश्यक हैं जबकि काव्यालंकार मूल रूप से आवश्यक नहीं है अतएव काव्य रचना के कुछ साधनों को जिनकी गणना अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अलंकारों की सूची में की है नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्यगुणों की सूची में की। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में काव्यगुणों की संख्या अधिक प्रतिपादित की गई है। परन्तु दूसरी ओर काव्य लक्षण शास्त्र के आचार्यों ने इस मत को स्थापित किया था कि काव्य के लिए अलंकार प्रधान तत्व है अतएव उन्होंने अपनी अलंकार सूची में काव्य रचना के उन कुछ साधनों को सम्मिलित कर लिया जिनको नाट्यशास्त्र के आचार्य स्वप्रतिपादित काव्य गुणों की सूची में गिनते थे। उदाहरणार्थ श्लेष, उदारता जिसे भरत गुण कहते हैं भामह उसे अलंकार कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि भरत और भामह में कोई मौलिक अन्तर नहीं है गुणों की संख्या का विस्तार एवं न्यूनत्व दृष्टिभेद की उपज है। दोनों के सम्प्रदाय गत अस्तित्व की दिशा में हस्तक्षेप आचार्य अभिनव को वरेण्य नहीं था।

सम्भवतः इसीलिए इस दिशा में समन्वय की चेष्टा उनमें परिलक्षित नहीं होती। एक ही व्यक्ति द्वारा तत्सम्मत टीकाओं की रचना इस बात का स्पष्ट निर्घोष है कि गुण की दिशा में नाट्यशास्त्र एवं ध्वन्यालोक में किसी प्रकार का वैचारिक वैषम्य नहीं है और जब वैषम्य ही नहीं तो समन्वय के प्रयास का प्रश्न ही नहीं उठता स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक दो विभिन्न सम्प्रदायों के प्रकाश स्तम्भ हैं अतः दोनों की साम्प्रदायिक दृष्टियों में समन्वय की चेष्टा व्यर्थ ही है।

वस्तुस्थिति यह है कि गुण मात्र तीन ही है क्योंकि किसी भी रचना के वाक्यार्थ बोध के उपरान्त हमारा चित्त द्रुत होता है अथवा दीप्ति और कभी-कभी त्वरित अर्थावबोध के कारण द्रुत अथवा दीप्ति होने के साथ व्याप्त भी हो जाता है। चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति से जन्य आह्लाद, विस्तार और विकास को काव्य शास्त्रीय परिभाषा में क्रमशः माधुर्य ओज और प्रसाद गुण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति और रसास्वाद में पूर्वापर नित्य सम्बन्ध है।

आचार्य अभिनवगुप्त का अभिमत मत गुणों की त्रिविध सत्ता को स्वीकारने का ही है। अभिनव भारती, जिसमें उन्होंने दस गुणों का विवेचन किया है, में भी ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं जिनके अध्ययन से स्पष्ट है कि वे रसाश्रित गुण सिद्धान्त के

पोषक हैं। आचार्य अभिनव ने यद्यपि वामन से प्रभावित होकर शब्दार्थ गुणों का उल्लेख किया परन्तु स्मरणीय है कि उन्होंने सदैव उन्हें रस व्यंजक कहा है जिसका वामन में सर्वथा अभाव है। अतः रस व्यंजक गुणों से अभिनव का अभिप्राय माधुर्यादि गुणों से माना जाना चाहिए। आचार्य अभिनव गुप्त का अखण्ड विश्वास है कि कवि प्रतिभा का प्रथम स्फुरण काव्य में रस एवं उसके धर्म, गुण की सृष्टि करता है।[२] अभिनवभारती में ही लक्षण को कवि व्यापार सिद्ध करने के उपरान्त गुणालंकार विवेचन के सन्दर्भ में अभिनवगुप्त का कथन है कि शब्दगत गुण शब्द का वह धर्म है जिससे अर्थ में रसाभिव्यक्ति आती है तथा रस के अनुरूप त्रुटि सम्वेदना उत्पन्न होती है अर्थ का भी रसाभिव्यक्ति का हेतु है। दोनों गुणों की सार्थकता रस व्यंजना में ही है। इसके अतिरिक्त काव्य में अलंकार, गुण एवं लक्षण के पृथक-पृथक स्थान का निर्धारण करते समय राजा का दृष्टान्त दिया है जिसमें उन्होंने मुकुटादि को अलंकार तथा शौर्यादि को गुण कहा है यहाँ पर भी मात्र माधुर्यादि तीन रसगत गुणों का ही स्थान निरूपित हुआ है। अतः इन सभी स्थलों से सिद्ध है कि आचार्य अभिनव गुप्त रसाश्रिक गुण सिद्धान्त के पोषक थे। माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीन ही गुणों को उन्होंने स्वीकार किया है दस या बीस को नहीं। गुण के सम्बन्ध में तीन संख्या को यों भी विशेष महत्व है काव्य शास्त्रेतर ग्रन्थों में विभिन्न प्रसंगों में व्यक्त गुण धारणा पर पुष्कल प्रभाव पड़ा है। सांख्य दर्शन की गुण धारणा से प्रभावित अच्युत राय ने माधुर्य ओज तथा प्रसाद गुणों के आश्रय भूत रसों का क्रमशः सात्विक, तामस एवं राजस वर्गों में विभाजन किया है। न्याय दर्शन में प्रतिपादित गुण के द्रव्याश्रयत्व का सिद्धान्त काव्यगुणों के रसाश्रयत्व निर्धारण में सहायक सिद्ध हुआ है।[४] न्याय दर्शन के अनुसार गुणों का द्रव्य में नियत निवास रहता है इसके अतिरिक्त द्रुति, दीप्ति, व्याप्ति तथा आह्लाद, विस्तार विकास के रूप में तीन ही चित्त वृत्तियाँ हमें प्राप्त हुई हैं। उनमें ही सभी रसों सभी भावों का समावेश हो जाता है। अतः गुण की त्रिविध सत्ता स्वीकार करना दार्शनिक, व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक, सभी दृष्टियों से समीचीन है।

---

१ अभिनवभारती भाग २, पृ० २९५ गा०ओ०सी०।

२ – कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद् व्यापारवलोपनता गुणाः प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यन्जनसामर्थ्यं माधुर्यादिरूपनिबन्धन सामर्थ्यं न सामान्यकवेः।
—अ०भा० १६।२९६।

३—तत्र शब्दस्य रसाभिव्यक्तिक्षमार्थप्रतिपादकत्वं स्वयं च श्रोत्रे च संक्रान्तिमात्रं नान्तरीकतया तद्रसदर्शनयोग्यतापादनसामर्थ्यादि गुण शब्दवाच्यम्।
—आ०भा० पृ० २९७ अध्याय १६।

४—काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन—शोभा कान्त मिश्र, पृ० ४६२।

जहां तक गुण के लक्षण और महत्व का सम्बन्ध है अभिनवगुप्त का कथन है कि गुणमितिचारुत्वम्[१] अर्थात गुण का अर्थ है चारुता। गुण शून्य काव्य काव्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं होता सत्य तो यह है कि चारुत्व के अभाव में काव्यत्व सम्भव ही नहीं है क्योंकि चारुत्व काव्यत्व की पहली शर्त है। यदि चारुत्व न हो तो काव्य वाक्य अथवा लौकिक वाक्य में भेद ही क्या रह जायगा। कान्तासम्मितत्व का आविर्भाव कैसे सम्भव हो सकेगा। अतः आचार्य अभिनवगुप्त का कथन गुणमिति चारुत्वम् अत्यन्त तर्कपूर्ण है। यह चारुत्व कायिक भी होता है आत्मिक भी। लोचन में उन्होंने स्वीकार किया है कि अंगी रस का उत्कर्ष करने वाला धर्म ही गुण है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार गुण काव्य का वह नित्य धर्म है जो उसमें अनिवार्यतः सौन्दर्य का आधान करता है। स्पष्ट है कि सौन्दर्य ही चारुत्व है, चारुत्व ही काव्य गुण है और गुण साहचर्य ही काव्यत्व है। गुणाभाव का अर्थ है रसाभाव और रसाभाव का अर्थ है काव्यभाव। इस प्रकार गुण और काव्य व्यापार परस्पर परावलम्बित ही नहीं प्रत्युत् पर्याय है।

प्राचीन काव्य समीक्षकों की वस्तुपरक दृष्टि के फलस्वरूप आरम्भ में काव्य के शरीर भूत शब्द एवं अर्थ में सौन्दर्य का आधान करने वाले गुणों पर ही विचार हुआ, परन्तु प्रत्यक्ष सौन्दर्य पर आधृत चिन्तना शनैः शनैः अमूर्त अप्रत्यक्ष की ओर अग्रसर हुई एवं ध्वनि पर जाकर स्थिर हुई। इस ध्वनि प्रस्थान की प्रतिष्ठा के साथ ही काव्य में ध्वनित होने वाली रसादि रूप काव्यात्मा के उत्कर्षाधायक धर्म के रूप में गुणों का विवेचन महत्व पाने लगा। गुण शब्दार्थ धर्म न रहकर रस धर्म बन गया। आरम्भ में किसी भी वाद का प्रवर्तन सहज ही विवाद का कारण बन जाता है इसीलिये सम्भवतः आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित रसाश्रित गुण सिद्धान्त, प्रतिपादन में अनन्य दृढ़ता के अभाव के कारण उस युग में उतना लोकमान्य नहीं हुआ जितना १०० वर्ष बाद अभिनव द्वारा प्रतिपादित किये जाने पर प्रतिष्ठित हुआ। इस समय तक यह सिद्धान्त बौद्धिक जगत में स्थापित हो चला था और अपने तर्क सगत स्वरूप में आचार्यों की चिन्तना का विषय भी बन चुका था। इसके भी १०० वर्ष उपरान्त आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित किये जाने पर रसाश्रित गुण सिद्धान्त जिसका बीजारोपण आनन्दवर्धन ने किया अंकुरण अभिनवगुप्त ने किया और पल्लवन मम्मट ने किया, साहित्य संसार में फूलने फलने लगा। साथ ही स्मरणीय है कि रस को महत्व देकर भी तीनों ही आचार्यों ने शब्दार्थ की उपेक्षा कहीं नहीं की। आचार्य अभिनवगुप्त

१–ध्वन्यालोक लोचन उ०, ३ पृ० ६६३।

२–गुण शून्यं तु न काव्यं किंचिदपीयति.........तद्विनाकाव्यरुपत्वाभावात्।

— पृ० १२६६ अध्याय १६।

ने तो स्पष्ट घोषणा की है कि यद्यपि "विभावानुभावव्यभिचारी प्रतीति सम्पदेव रसास्वादे निबन्धनं तथापि विशिष्टश्रुतिक शब्द सामर्थ्यमाणास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीतिस्वयंसिद्धमदः तेन वर्णानामपि श्रुति समयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैक ग्राह्यो मृदु परुषात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकारी एव।[१] अतः स्पष्ट ही है कि जहां उन्होंने गुणों को रस धर्म कहा है वही शब्दार्थ कीं सहकारिता को भी स्वीकार किया है परन्तु गुण शब्दोर्थ का धर्म हैं, इसे वे किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं कर पाये हैं। उनका कथन है कि गुणों का शब्द धर्मत्व मुख्य पक्ष नहीं है किन्तु जिस प्रकार अविवेकी लोग शौर्यादि को शरीर धर्म न होते हुये भी शरीर धर्म कहने लगते हैं, उसी प्रकार औपचारिक विभाग विवेचन में असमर्थ यदि कोई अविवेकी चाहे तो गुणों को शब्दार्थ धर्म उपचार से कह सकता है पर अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि आत्मभूत रस के ही माधुर्यादि गुण होते हैं।[२]

निष्कर्ष रूप में आचार्य अभिनवगुप्त की गुण धारणा की रूप रेखा इस प्रकार है—

(१) गुण आत्मभूत रस के धर्म है।

(२) गुण रस के सदा उत्कर्षक होते हैं।

(३) रस युक्त रचना में गुण की स्थिति नित्य है।

(४) गुण मात्र तीन हैं।

(५) गुण को शब्दार्थ धर्म मानने वाले अविवेकी परन्तु उपचार से शब्दार्थ धर्म मानने में दोष नहीं है।

त्रिविध गुणों का स्वरूप विश्लषण :

प्रसाद : चित्त के त्वरित व्यापकत्व का नाम ही प्रसाद गुण है। अनुपयोगी काव्यार्थ का परिवर्जन रूप वैवत्य ही प्रसाद गुण के नाम से अभिहित होता है।[३] भरत के अनुसार प्रसाद गुण वहां माना गया है जहां सुबोध शब्दार्थ के संयोग के

१--न चायं मम स्थितः पक्षः अपितु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्दार्थ धर्मत्वं शौर्यादीनामिवशरीर धर्मत्वम्। अविवेकी हि औपचारिकत्व विभाग विवेकक्तुमसमर्थः।

२--आत्मभूत रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः।

—लोचन, पृ० ४५५।

३–काव्यस्य वैमल्यं स्वयं जानंश्चानुपयोगिपरिवर्जनात्।

—अभिनवभारती, पृ० १३२१।

कारण अनुक्त अर्थ की प्रतीति भी सहृदयों को होने लगे।[१] हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में भरत के गुण लक्षण की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि पृथक् पृथक् स्फुट रूप से रहने वाले शब्द अर्थ के योग से जहां अकथित शब्दार्थ की भी प्रतिपत्ति हो जाती हो वहां प्रसाद गुण माना जाता है। पद से ही उसके अर्थ की अवगति होती है इसलिए लक्षण में शब्द अर्थ का ग्रहण हुआ।[२] अभिनवगुप्त ने भरत के प्रसाद लक्षण के विवेचन में वामन को गुण परिभाषा में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है। वामन बन्ध शैंथिल्य को शब्द गुण प्रसाद मानते हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार जहाँ शब्दों में सन्धि की अल्पता के कारण शैंथिल्य हो वहाँ भरत के अनुसार शब्द गुण प्रसाद होता है। अभिनव भारती में समग्र रूप से प्रसाद गुण का विवेचन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि जहाँ किसी अर्थ का कथन न होने पर भी बिना किसी कष्ट कल्पना के वह अर्थ सिद्ध हो जाये वह अर्थ की विमलता अर्थागत प्रसाद है। ऐसे स्थल पर अनुपयोगी अर्थ के त्याग से काव्य में वैसी ही विमलता रहा करती है जैसी धूलि रहित जल में।[५]

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रसाद गुण भाव का क्षिप्र प्रसार है। सरलता से सभी रसों को व्यक्त कर देने की सामर्थ्य ही प्रसाद गुण कहलाती है।[६]

१–अथानुक्तो बुधैर्यत्त शब्दार्थ प्रतीयते।
मुखशब्दात्संयोगात्प्रसादः प्रसादः परिकीर्त्यते॥
ना०शा० काव्यमाला १६।६६।

२–विभक्त वाच्यवाचकयोगादनुक्तयोरपि शब्दार्थयोः प्रतिपत्तिः प्रसाद इति भरतः। पद पूर्विका तदर्थावगतिरिति शब्दार्थयोर्ग्रहणम्।
– हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २३४।

३–शैंथिल्यं प्रसादः। – वामन, काव्यालं० ३,१,६।

४–सुख इति न प्रयत्नमपेक्षते। यः शब्दार्थो यः संयोगः शब्दविषय इत्यर्थः कलामात्र रूप एव यत्र सन्धिः अतएव शैथिल्यात्मा स शब्दगुणः प्रसाद। प्रसन्नता स्फुटत्वं लक्ष्णी य विभागतापदानाम्। — ना०शा०अ०भा०, पृ० ३३५-३६

५ – यत्रार्थेऽनुक्तेऽपि बुधैः कष्ट कल्पनया अत्याख्तोऽप्यर्थः प्रयोजनं स्वयं जायते सोऽर्थो वैमल्याश्रयोऽपि वैमल्यमुपचारात् सोऽर्थो वा काव्यस्य वैमल्यं स्वयं जानेश्चानुपयोगि परिवर्जनात्। वैमल्य शब्दवाच्याज्जलस्येव पांसुभिरसंपर्काद् भवतीति वैमल्यमर्थस्य प्रसादः। ना०शा०अ०भा०, पृ० ३३५।

६ —समपर्कत्वं काव्यस्य यद्‌ सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥

इसी को वृत्ति में स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रसाद का अर्थ है शब्दार्थ की स्वच्छता वह सभी रसों एवं रचनाओं में साधारण रूप से रहता है।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी टीका लोचन में आनन्दवर्धन की उक्त धारणा को सोदाहरण स्पष्ट किया है। काव्य में प्रसाद गुण के स्थित रहने पर काव्य रस सहृदय के हृदय को उसी प्रकार व्याप्त कर लेता है जिस प्रकार शुष्का काष्ठ को अग्नि। व्यंग्य अर्थ के प्रति शब्द और अर्थ की समर्पकता होने से उपचार से शब्दार्थ में भी प्रसाद गुण माना जाता है।[2]

इस प्रकार तीनों गुणों में प्रसाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होता है क्योंकि ओज और माधुर्य तो किसी में रहते हैं किसी में नहीं परन्तु प्रसाद गुण सभी रसों में अनिवार्यतः रहता है। उसी की सत्ता के फलस्वरूप ही काव्य में सभी रसों के प्रति व्यंजकता आती है अतः काव्य का सर्वाधिक महत्व पूर्ण गुण प्रसाद ही है।

माधुर्यः— चित्त का द्रुत रूप 'आह्लाद' अर्थात् ऐसा आनन्द विशेष जिसमें अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाये माधुर्य गुण कहलाता है। आचार्य भरत के अनुसार तो माधुर्य वहाँ माना जाता है जहाँ वाक्य बार-बार सुने जाने पर या बार बार उच्चारण किये जाने पर भी मन को उद्विग्न नहीं करता है।[3] इस गुण परिभाषा की व्याख्या करते हुए आ र्य अभिनव ने श्रुत का अर्थ संशय और विपर्यय हीनता माना है। दीर्घ समास रचना संशयास्पद और विपर्यास्पद होती है अतः दीर्घ समास रहित रचना में ही माधुर्यगुण रहता है। यह शब्द माधुर्य है।[4] अभिनवगुप्त का कथन है कि जहाँ वचन वैचित्र्य से एक ही अर्थ का पुनः-पुनः कथन होने पर भी अर्थ में नीरसता नहीं आती वही अर्थ गुण माधुर्य होता है।[5]

---

१ — प्रसादस्तु स्वच्छताशब्दार्थयोः। स च सर्वसाधारणोगुणः सर्वरचना साधारणश्चेति व्यङ्ग्यार्थपेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।
—आनन्दवर्धन ध्वन्या० पृ० १२१।

२ — समपर्कत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयेसंवादेनप्रतिपत्तृन्प्रतिस्वात्मवशेन्, व्यापकत्वम् शुष्काष्ठाग्निदृष्यन्ते न। अकलुषोदक दृष्टान्नेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः। उपचारात्तु तथाविधैव्यङ्ग्येर्थैयच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः।

३ - बहुशोयच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमितिस्मृतम्॥ —ना०श० १६। १०४।

४— यदिति यस्माद्धैतौर्वाक्यं श्रुतं संशयविपर्ययोरास्पदं न भवतीति तन्माधुर्यम् द्राघीयसि समासे तावश्यं भवत इति तद्विरहएवमाधुर्य शब्दगुण इत्युक्तं भवति।
ना०शा०अ०भा० पृ० ३३९।

५ — पुनः पुनरप्युक्तमर्थजातंस्यमाद्धैतौरपनीतमवगाहनेनवैरस्येन तद्वचन वैचित्र्यात्मकं माधुर्यमर्थगुणः वचनान्तराभिधेयतया हि स एवार्थो विचित्रो भवति।
— ना०श० अ० भा० पृ० ३४०।

आनन्दवर्धन के अनुसार तो माधुर्य शृंगार रस का गुण है। शृङ्गार अन्य रसों की अपेक्षा चित्त में अधिक आह्लाद की सृष्टि करता है अतः वह मधुर माना गया है। माधुर्य वस्तुतः शृङ्गार रस का गुण होने पर भी उपचार से उस रस के व्यंजक शब्द एवं अर्थ का धर्म माना गया है।[१] लोचन में आनन्दवर्धन की माधुर्य धारणा को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि मधुर शृङ्गार रस को व्यक्त कर सकने की शब्दार्थ ही माधुर्य गुण है।[२] संयोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में चित्त को आर्द्र करने की अधिक शक्ति रहती है और विप्रलम्भ से भी कहीं अधिक करुण रस चित्त को द्रवित करता है। अतः अभिनवगुप्त के अनुसार यदि संयोग शृङ्गार मधुर है तो विप्रलम्भ शृङ्गार मधुरतर तथा करुण मधुरतम। अतः संभोग शृंगार व्यंजक शब्दार्थ की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार व्यंजक शब्दार्थ में प्रकर्ष रहता है और उसकी अपेक्षा भी करुण रस की व्यंजना करने वाले शब्दार्थ में उत्कर्ष रहता है।[३]

सामान्यतया अल्प समासा या असमासा कोमल वर्णों से युक्त रचना माधुर्य गुणकी सूचक मानी गई है। इस गुण के व्यंजक वर्ण ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण माने गये हैं। परन्तु आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त चूँकि रसाश्रित गुण के सिद्धान्त के पोषक हैं अतः उन्होंने गुणों को शब्द सीमा से मुक्त कर दिया है। वस्तुतः वर्णगत रचनागत गुणों का नियम सार्वदेशिक सार्वकालक नहीं है। अतः गुणों को शब्दगत रचनागत सीमा में बांधना उचित नहीं है। आनन्दवर्धन ने मन्दार-कुसुमरेणापिन्जरिताल का' उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है कि दीर्घसमास रचना में भी माधुर्य रह सकता है।

ओजः—चित्त का विस्तार रूप दीपत्व ही काव्य का ओज गुण है। भरत के अनुसार जिस रचना में बहुत ही समस्त एवं विचित्र पदों का प्रयोग हो, जहां परस्पर

१—शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥२।३०॥

२—वास्तुतो माधुर्य नाम शृङ्गरानि रसस्यैव गुणः। तन्मधुर रसाभिव्यन्जकयोः शब्दार्थयोरूपचरितं मधुर शृङ्गार रसाभिव्यक्ति समर्पता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। —लोचन पृ० ४५३ द्वि०उ०।

६—संयोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतमत्वं चैत्यभिप्रायेणाह।
— लोचन पृ० ७६।

सापेक्ष वर्णों वाले पदों की एवं उदार पदों की योजना हो वहां ओज गुण होता है।[1] आचार्य अभिनव गुप्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि सानुराग[2] वर्णों के प्रयोग से वाक्य में कसावट आती है। समस्त एवं सानुराग पद संक्षेप में बहुत अर्थ को प्रगट कर सकते हैं। अतः ऐसे स्थानों पर संक्षेपात्मक अर्थगुण ओज माना जाना चाहिये। कहीं-कहीं एक अर्थ के कथन के लिए अनेक उदार पदों से भी ओजस्व रचना होती है अतः अर्थ गुण ओज विस्तारात्मक भी होता है।[3] ध्वन्यालोक की टीका लोचन में ओज गुण विषयक स्वमत का प्रतिपादन करते हुए अभिनव गुप्त ने लिखा है कि प्रतिपत्ता के हृदय में विकास विस्तार और प्रज्ज्वलन स्वभाव वाली दीप्ति ही मुख्य रूप से ओज कही जाती है। उस दीप्ति रूप चित्तवृत्तिमय रौद्र इत्यादि रस होते हैं। अर्थात् वीर अद्भुत रौद्र रस दीप्ति को उत्पन्न करते हैं। रौद्रादि रस कारण होते हैं। ओज उनका कार्य क्योंकि रौद्रादि रूप रस मे उत्पन्न होने वाला आस्वाद रूप कार्य ही दीप्ति नामक एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति होता है। कारण में कार्य का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओज शब्द से पुकारे जाते हैं तथा लक्षित लक्षणा के द्वारा उस ओज को प्रकाशित करने वाले ऐसे शब्द को ही दीप्ति कह देते हैं जो दीर्घ समास रचना गर्भित वाक्य के रूप में होता है।[4]

प्राचीन आचार्यों ने ओज को दीर्घ समास रचना पर आश्रित या उसी का पर्याय मान लिया था पर अभिनव एवं आनन्दवर्धन ने इस मत का खण्डन कर ओज को रौद्र वीर अद्भुत से सम्बद्ध किया और सिद्ध किया कि सहृदय के चित्त की दीप्ति दीर्घ समास रचना से भी व्यक्त हो सकती है असमासा रचना से भी। यथा योयः शस्त्र विभर्ति में असमासा संघटना होते हुये भी ओज गुण का परिपाक है।

१–समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तयोजः परिकीर्त्यते ॥ – ना० शा० १६।१०५।

२–सानुरागैर्यत्र वर्णो वर्णान्तरमपेक्षते तत्र सानुरागत्वम्।
--अ० भा०, पृ० ३४०।

३–स तदेव गाढत्वमुच्यते निबिडावयवतेव समासेन संक्षेपेण युक्तानि पदानि यत्रार्थंन्नूयामिति संक्षेपो नामार्थगुण ओजः। ओजस्वी किमतोऽपि भूयः समाक्षि पति, तथा एकमपि वस्तु उदारैर्बहुभिः पेदैरुपनिबध्यते विस्तारात्मकत्वमप्योजोऽर्थ गुणः।
—अ० भा०, पृ० ३४१।

४–स तदेव गाढत्वमुच्यते निबिड़ावयवतं समासेन संक्षेपेण युक्तानि पदानि यत्रार्थभूयामिति संक्षेपो नामार्थगुण ओजः। ओजस्वी किमतोऽपि भूयः समाठितपति तथा एकमपि वस्तु उदौरर्थहुभिः पदैरूपनि बध्यते विस्तारात्मकत्वमप्योजोऽर्थ गुणः। अ०भा० पृ० ३४१।

गुणों का रसगत विभाजन : अभिनव की दृष्टि-गुण रस धर्म है अतः ये रस से नियमित होते हैं। विशेष रसों में विशेष गुण रहा करते हैं। इन गुणों को ९ रसों में विभाजित किया गया है क्योंकि माधुर्य और दीप्ति परस्पर विरोधी गुण हैं। अतः एक आश्रय में दोनों की सिद्धि सम्भव नहीं है। आचार्य आनन्दवर्धन ने तो मात्र संकेत ही किया है कि शृंगार और करुण में माधुर्य गुण होता है और रौद्र वीर अद्भुत में ओज। शान्तादि रस के गुण का तो आनन्दवर्धन ने उल्लेख ही नहीं किया है। परन्तु इन सब का परिष्कार करते हुये अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम गुणों का वैज्ञानिक रस विभाजन किया।

अभिनव के अनुसार भी शृंगार और करुण में केवल माधुर्य गुण होता है रौद्र, वीर एवं अद्भुत में मात्र ओज गुण होता है। इसके अतिरिक्त हास्य रस में माधुर्य और ओज समान रूप से रहते हैं। शृंगार का अंग होने के कारण जहां माधुर्य का प्रकर्ष होता है वहीं विकास धर्मी होने के कारण ओज का भी प्राचुर्य होता है अतः हास्य रस दो विरोधी गुणों का समन्वय करने वाला है। भयानक और वीभत्स में ओज गुण प्रकृष्ट रूप से और माधुर्य गुण अल्प रूप से रहता है क्योंकि भयानक में यद्यपि आश्रय की चित्तवृत्ति डूब जाती है तथापि विभाव के दीप्त होने से ओज का प्रकर्ष होता है माधुर्य की अल्पता। शान्त में विभाव के विचित्र होने के कारण कदाचित् माधुर्य का। नव रसों के मध्य गुणों की स्थिति का यही विषय विभाग है।[1] प्रसाद तो सब रसों का साधारण गुण है। इसके अभाव में माधुर्य और ओज दोनों ही गुणो की स्थिति संदिग्ध हो जाती है। वस्तुतः रसों में प्रसाद गुण की ऐकान्तिक स्थिति स्वीकार नहीं की गई है माधुर्य अथवा ओज में से एक का साहचर्य अनिवार्य रूप से आवश्यक माना गया है। प्रसाद गुण की उपस्थिति से रसों में त्वरित अर्थावबोध की क्षमता आ जाती है।

गुण और रस एक समीक्षा :

गुण एवं रस का सम्बन्ध भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में विभिन्न

१–एवं माधुर्यदीप्ती परस्पर प्रतिद्वन्दितया स्थिते शृङ्गारादि रौद्रादिमते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकवीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्य प्रकृष्टं विकास धर्मयता चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भयचित्तवृत्ति स्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्तिया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। वीभत्सेऽप्येकम्। शान्तेऽतु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः।

— लोचन द्वि०उ०, पृ० ४६३।

मनीषियों द्वारा अपने अपने दृष्टिकोणों से सदा ही प्रतिपादित किया जाता रहा है। किन्हीं आचार्यों ने गुण को रस धर्म माना तो कतिपय आचार्यों ने गुण को शब्द धर्म मानकर रस को गुण विशेष का अंग कहा।

आदि आचार्य भरत ने यद्यपि गुणों को शब्दार्थ धर्म कहा है किन्तु वे प्रकारान्तर से रसाश्रित माने जा सकते हैं क्योंकि भरत का कहना है कि रस के अभाव में कोई भी काव्यार्थ प्रवृत्त नहीं होता।[1] यद्यपि गुण के आश्रय के संदर्भ में भरत ने अपनी मान्यता स्पष्ट रूप से नहीं रखी है तथापि रस को गुण का मूल आश्रय माना जा सकता है। इसके विपरीत दण्डी, वामन, रुद्रट आदि आचार्य गुण को शब्द धर्म स्वीकार करते हैं।

नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन ने ही सर्व प्रथम गुण को रस धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। आनन्दवर्धन ने तर्क की कसौटी पर सिद्ध किया कि गुण रस धर्म है, अभिनवगुप्त मम्मट विश्वनाथ आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने आनन्दवर्धन की गुण विषयक मान्यता को ही स्वीकार किया और युगानुरूप अधिकाधिक पुष्ट किया। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में स्पष्टतः घोषित किया है कि गुण काव्य के प्राण भूत रस में रहते हैं क्योंकि गुण आत्म धर्म है।[2] और काव्य की आत्मा रस है। अतः गुण साक्षात् रस से सम्बद्ध हैं। इन्हें शब्द धर्म मानना उपचार मात्र है। जिस प्रकार शौर्यादि आत्मिक गुणों की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही होती है उसी प्रकार शब्दार्थ जो काव्य के शरीर हैं के माध्यम से ही माधुर्यादि गुणों की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् शब्दार्थ गुणाभिव्यक्ति के साधन है इन्हें साध्य मान लेना उचित नहीं है। साथ ही जिस प्रकार धर्मी से पृथक् धर्म की सत्ता नहीं रहती उसी प्रकार रस के अभाव में गुण का अस्तित्व भी नहीं रह जाता। और गुण के अभाव में काव्य सौन्दर्य के सद्भाव की कल्पना वंचना मात्र है। लौकिक दृष्टान्त से भी इसकी पुष्टि की जा सकती है। लोक में भी जिस प्रकार गुणों को धारण करने वाले गुणवान् और अलंकार को धारण करने वाले अलंकार्य की आवश्यकता होती है और यह अलंकार शरीर कथमपि नहीं हो सकता अलंकार्य तो आत्मा होती है। यदि आत्मा विहीन शव शरीर को अलंकृत कर भी दिया जाय तो उसमें शोभा की वृद्धि नहीं होती अतः स्पष्टतः अलंकार्य आत्मा है शरीर नहीं। जिस प्रकार अलंकार विहीन भी गुणवान् व्यक्ति लोक में समादृत होता है ठीक वही स्थिति काव्य में गुणों की है। काव्य की आत्मा रस है अतः गुण उस आत्मा का का ही उत्कर्षाधान करते हैं। हाँ माध्यम के रूप में शरीर के समान शब्दार्थ की सहकारिता अनिवार्य रूप से अपेक्षित होती है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण

१–नहिरसादृते कश्चिदर्थप्रवर्तते।—ना०शा०।

२–इह गुणास्तावदात्मनि चिन्मये श्रृङ्गारादौवर्तन्ते।—अ०भा० १६।२९५।

आनन्द वर्धन और अभिनव गुप्त दोनों ने किया है। लोचन टीका में अभिनवगुप्त ने कहा है—'अपित्वात्भूतस्य रसस्यैव परमार्थं तो गुणा माधुर्यादयः उपचारेण तु शब्दार्थयौरित्थेवाकारेणद्योत्यते।'[१]

कुछ विद्वानों का मत है कि गुण केवल रस धर्म नहीं है। आनन्दवर्धन के संदर्भ में उन्होंने अपनी इस धारणा के स्पष्टीकरण का प्रयास किया है एवं यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि आनन्दवर्धन गुण को शब्द धर्म मानते हैं और रस धर्म भी। उन पर गुणों को रसधर्म मानने का ऐकान्तिक आग्रह नहीं थोपा जा सकता है वह कही हैं तो अभिनवगुप्त एवं मम्मट में।[२] इस संदर्भ में जितने भी उद्धरणों का संकलन किया गया है उनमें कहीं भी यह सिद्ध नहीं होता कि गुण शब्द कर्म है आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः कहा है—

(१) शृगांस्तवरसान्तरापेक्षयामधुरः प्रहलादनहेतुत्वात्तत्प्रकाशन पर शब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यं लक्षणो गुणः।

(२) मुलास्तु व्यग्य विशेषावभासि, वाच्य प्रतिपादन समर्थ शब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्यात्रत्वे ऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।

इन स्थलों से स्पष्ट ही है कि आनन्दवर्धन गुण को रस धर्म मानते हैं शब्द धर्म नहीं उस प्रतीयमान का आश्रय लेने वाले गुणों के प्रकाशक होने के कारण शब्दार्थ की सत्ता भी स्वीकार की गई है। स्वमत निरूपण एक बात है और सिद्धान्त प्रतिपादन दूसरी। स्वमत निरूपण में व्यक्ति स्वतन्त्र हैं परन्तु सिद्धान्त निरूपण अन्तःसाक्ष्य की अपेक्षा करता है और अन्तःसाक्ष्य के रूप में उद्धृत उद्धरण यही सिद्ध करते हैं कि आनन्दवर्धन ही रसात्रित गुण सिद्धान्त के स्थापक हैं। साथ ही में यह भी स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि गुण धारणा के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन की मान्यताओं को ही अपनी ओजस्वी वाणी दी है। अभिनव एवं आनन्दवर्धन की स्थापनाओं में यदि विद्वानों को भेद दिखता है तो वह सैद्धान्तिक न होकर युगीन है।

अभिनव ने स्वयं ही गुण धारणा की विवेचना के संदर्भ में शब्दों की सहकारिता स्वीकार की है और स्पष्ट रूप से कहा है कि शब्दार्थ में गुण की सत्ता स्वीकार करने वाला अविवेकी है, उपचार से सत्ता स्वीकार करने में दोष भी नहीं है। जहाँ तक एकान्तिक आग्रह का प्रश्न है वहाँ ये स्मरणीय है कि एकान्तिक आग्रह ही प्रस्थानों का सृजन करते हैं यदि आग्रह में एकान्तिकता और एकनिष्ठता न हो तो वाद-वाद नहीं विवाद बन जाते हैं।

१–ध्वन्यालोक लोचन – द्वि०उ०, पृ० ४५५।
२–द्रष्टव्य डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी कृत 'आनन्दवर्धन'।

अलंकार

अलंकरण का अभिधेयार्थ है साज सज्जा अतः स्पष्टतः सौन्दर्य के सम्वर्धक उपकरण ही अलंकार हैं। अतः मणि माणिक्यों से निर्मित आभूषणों से लेकर गोरोचन कुमकुम लेप आदि सभी उपकरण अलंकार हैं। वस्तुतः जिन उपकरणों का सहयोग नैसर्गिक शोभा को अतिरिक्त सौन्दर्य श्री से मंडित कर दे वही अलंकार है। सम्भवतः यही कारण है कि प्राचीन काल से ही कामिनी के सौन्दर्य सम्वर्धक उपकरणों को जिस प्रकार महत्व मिला ठीक उसी प्रकार कविता को कामिनी तुल्य घोषित कर आचार्यों ने काव्य में अलंकार की अपरिहार्यता घोषित कर दी। परन्तु अलंकार–अभिधेयार्थ कंगन कुण्डल और लक्ष्यार्थ उपमा अनुप्रास, का प्रयोग प्रकृति सम्भूत कलेवर में ही होता है अतः ये काया के सौन्दर्य सम्वर्धक तत्व हैं अपरिहार्य तत्व नहीं। दूसरे शब्दों में अलंकार काव्य का वह अनित्य धर्म है जिसकी भावानुरूप योजना काव्य का उत्कर्ष करती है परन्तु जिसका अभाव भावसमृद्ध काव्य की असुन्दरता का हेतु नहीं होता।

जहां तक अलं शब्द के अर्थ का प्रश्न है, अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति के मूल में कोशकार अमरसिंह ने 'अलं' शब्द का उल्लेख करते हुए कहा है—अलं भूषण पर्याप्त शक्ति वारण वाचकम्।[1] प्रथमतः अलं शब्द भूषण का सूचक है जिसका कार्य है अलंकरण (Adorn) ऐसी स्थिति में इसके साथ कृ प्रत्यय का प्रयोग अनिवार्यतः होता है। अलं शब्द का द्वितीय अर्थ है वारण (Forbid) इसका प्रयोग करण कारक में क्रिया विशेषण के रूप में होता है। इसका तीसरा अर्थ है पर्याप्ति (Sufficient) अर्थात् पूर्णता देने वाला।

अलंकार एवं अलंकार्य

काव्य में प्रयुक्त अलंकार काव्य का वह तत्व है जो उसे अलंकृत करे सुन्दर बनाने का साधन हो अतः इस शब्द की व्युत्पत्ति है 'अलङ्क्रियते ह्नेन इति अलङ्कारः'। इस व्युत्पत्ति के स्वीकार के साथ इस शब्द की सापेक्षता सहज ही मुखरित हो जाती है। अलंकार के लिए अलंकार्य का होना अनिवार्य है। अलंकार्य के अभाव में अलंकार उपयोगिता शून्य है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः कहा है कि अलंकार को अलंकार्य से व्यतिरिक्त मानना चाहिए क्योंकि लोक में वैसा ही सिद्ध है। जैसे गुणी से व्यतिरिक्त गुण। गुण और अलंकार का व्यवहार गुणी और अलंकार्य के होने पर ही संगत होता है।[2] अलंकार्य सदैव ही आत्मा होती है, शरीर नहीं।

१–अमर कोश–३।३। २५२।

२–अलंकार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारो भ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धवात् यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः। गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः। —अभिनवगुप्त लोचन द्वि०उ०, पृ० ४५०।

लौकिक जीवन में भी' अहं भूषितः, अथवा ममेदं भूषणम्' इत्यादि वाक्यों से होने वाला अनुभव शरीर परक नहीं, आत्मानुभूति परक है। ठीक इसी प्रकार काव्य में उपमा अनुप्रासादि अलंकार केवल काव्य के शब्दार्थ को ही अलंकृत नहीं करते अपितु आत्म-भूत रस को भी उत्कर्ष प्रदान करते हैं। आनन्दवर्धन के शब्दों में तो रसभावादि को प्रधान मान कर उनके अंग रूप में योजित होना ही सब अलंकारों के अलंकारत्व का साधक है।[1]

काव्यशास्त्र में ध्वनि प्रस्थान की स्थापना होने के साथ ही अलंकार और अलंकार्य के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तना का प्रादुर्भाव हुआ। ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में स्वीकृति मिलने से शरीर भूत शब्दार्थ का महत्व गौण पड़ गया वाचक शब्द और वाच्य अर्थ का काव्य में उसी अंश तक महत्व माना जाने लगा जिस अंश में वे व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि के प्रतिपादन में सहायक होते हैं। मुख्यतः अलंकार अंग अर्थात् शब्दार्थ से सम्बद्ध होता है परन्तु शब्दार्थ के ही उपस्कार में उसकी पूर्णता निहित नहीं है। उसे तो शब्दार्थ का उपस्कार कर उसके माध्यम से काव्य में अंगीभूत ध्वनि रूप अर्थ का भी उपकार करना होता है।[2] यदि अंगी न हो तो अलंकार से अंग का भी उपस्कार सम्भव नहीं। मृत व्यक्ति के निष्प्राण शरीर को कितने भी मूल्यवान रत्नाभरणों से अलंकृत किया जाय उससे सौन्दर्य की सर्जना सम्भव नहीं है।[3] रस ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में भाव हीन काव्य अलंकार चमत्कार से युक्त होने पर भी निष्प्राण होता है यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्य चित्रकाव्य को महत्व नहीं देते। अलंकारों में भी उन्हीं अलंकारों को महत्व देते हैं जो शब्दार्थ के माध्यम से आत्मा की श्री वृद्धि करे।

दूसरी ओर भामह ने शब्दार्थौकाव्यम् कहकर तथा उद्भट ने वाचामलङ्कारः कहकर शब्दार्थ को ही अलकार्य घोषित किया। रीतिवादी वामन ने व्यापक अर्थ में तो 'सौन्दर्यमलङ्कारः' कहा है परन्तु विशिष्ट अर्थ में उपमादि के लिए ही अलंकार शब्द का प्रयोग है। वामन रीति को अलंकार्य मानते हैं जो कि विशिष्ट पद संघटना है और इस अर्थ में वह शब्दार्थ से भिन्न नहीं है। (रसवादी आचार्य भरत ने यद्यपि अलंकार और अलंकार्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी आचार्य अभिनवगुप्त

१--रसभावादि तात्पर्यमाश्रित्यविनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्व साधनम्॥ --आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक।

२--विवक्षा तत्परत्वेन...................... । २।१८ ध्वन्यालोक।

३--तथा हि अचेतनं शव शरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न माति अलङ्कार्यस्याभावात्।
— अभिनवगुप्त-लोचन, पृ० ४।

ने अलंकार का काव्य में स्थान निरूपित करते हुए कहा है कि भरत लक्षण को शरीर स्थानीय मानते थे अतः वही अलंकार्य हैं)।[१]

इस प्रकार अलंकार्य के सम्बन्ध में स्पष्टतः दो धारणायें दृष्टिगत होती हैं — (१) काव्यशरीर को अलंकार्थ मानने वाली बहिरंग दृष्टि (२) काव्यात्मा को अलंकार्य मानने वाली अन्तरंग दृष्टि। इनमें से काव्यात्मा को अलकार्य मानने वाली अन्तरंग दृष्टि ही अधिक वैज्ञानिक एवं तर्क सम्मत है। आचार्य आनन्द वर्धन ने इन दोनों दृष्टियों को समन्वित रूप में प्रस्तुत किया क्योंकि उन्होंने अलंकार को काव्य का ऐसा धर्म कहा जो शब्दार्थ रूपी शरीर के माध्यम से आत्मभूत रस का उपकार करता है। इस संदर्भ में अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए उन्होंने अलंकारों को दो श्रेणियों में विभक्त किया --

(१) पृथक् यत्ननिर्वर्त्य अलंकार

(२) अपृथकयत्न निर्वर्त्य अलंकार

अलंकारों की सामान्य परिभाषा देते हुए आनन्दवर्धन ने यद्यपि इन्हें कटक कुण्डलवत् कह दिया है फिर भी वे सभी अलंकारों को लौकिक आभूषणों की तरह बहिरंग नहीं मानते, रसाक्षिप्त अलंकार कदापि बहिरंग नहीं होता।[२]

आनन्दवर्धन का कथन है जहाँ कवि काव्य की मुख्य वस्तु रस के परिपाक को भूल कर अलंकार योजना में अलग से श्रम करने लगता है, वहाँ पृथक् यत्न निर्वत्य अलंकार काव्य सौन्दर्य की वृद्धि करने में अक्षम सिद्ध होते हैं किन्तु रससिद्ध प्रतिभावान् कवि जब काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो अनेकानेक अलंकार स्वतः उसकी काव्य सृष्टि में स्थान पाने के लिए होड़ लगाकर आगे आने लगते हैं।[३] कवि को अलंकार नियोजन के लिए अलग से श्रम नहीं करना पड़ता। ये अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य अलंकार काव्य वैभव की वृद्धि करते हैं। ऐसे अलंकार रस के व्यंजक वाच्य-वाचक के सौन्दर्य की वृद्धि कर रस का उपकार करते हैं उसमें ही उनकी उपादेयता निहित है।

१--काव्ये तावल्लक्षणं शरीरम्। तस्यपोमादयस्त्रयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेणरमणी विभूष्यते तथोपनानेनशशिनातत्सादृश्येन वा। अभिनवगुप्त ना० शा०अ०भा०, पृ० ३२१।

२--तस्मान्नतेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्ती।—आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक वृत्ति

३--अलकारान्तराणि हि निरुप्यमाण दुर्घटनान्यपि रस समाहित चेतसः प्रतिभानवतः कवेरहं पूर्विकया परापतन्ति !

—ध्वन्यालोकत्त वृत्ति द्वि०उ०, पृ० ४८५

अलंकार धारणा का विकास :

काव्यशास्त्रीय चिन्तना का समारम्भ सामान्यतः आचार्य भरत से ही माना जाता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में मात्र चार अलंकारों का ही प्रतिपादन किया है परन्तु भामह से अप्पय दीक्षित तक इनकी संख्या शताधिक हो गई। अलंकारों का उत्तरोत्तर विकास वस्तुतः उसके व्यापक प्रभाव का ही आख्यान है। भामह से रुद्रट तक की आचार्य परम्परा में जो प्रभविष्णुता अलंकारों को प्राप्त थी वह अन्य काव्य घटकों को प्राप्त नहीं थी। अलंकार अपनी शोभा धायकता की व्यापकता में सभी अन्य प्रचलित काव्य घटकों को समेटे हुए था। काव्यशास्त्र के अनेकानेक घटक जो आज अपना स्वतन्त्र स्वरूप लिये प्रचलित हैं छठीं से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक नहीं थे। काव्य की शास्त्रीयता अलंकार विवेचन में ही मुख्यतः समाहित थी इसका प्रमाण तत्कालीन शास्त्र ग्रन्थों के शीर्षक में प्रयुक्त अलंकार शब्द का प्रयोग हैं।[1]

भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में उपमा दीपक रूपक और यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है।[2] वस्तुतः नाट्यशास्त्र में अलंकारों के संख्या संकोच का दायित्व लक्षण धारणा के विस्तार को दिया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में स्पष्ट उल्लेख किया है कि भरतोत्तरकाल में लक्षण धारणा का लोप हो गया था। कुछ लक्षण मूल अलंकारों से मिलकर नवीन अलंकारों के आविर्भाव के हेतु बने। कुछ लक्षणों के पारस्परिक सम्मिश्रण से भी नवीन अलंकारों की सृष्टि हुई।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने गुरू भट्टतौत के मत का उल्लेख करते हुए कतिपय अलंकारों के उत्स का दर्शन भी कराया है।[3]

१-(i) ६०० ई० —भामह — काव्यालंकार
(ii) ८वीं शताब्दी - उद्भट — काव्यालंकार सार संग्रह
(iii) ८वीं - वामन — काव्यालंकार सूत्र
९वीं - रुद्रट — काव्यालंकार।

२—उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ - भरत ना०शा०।

३—उपाध्यायमतं तु — लक्षणबलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति तथ हिगुणानुवाद नाम्ना लक्षणेनयोगात्प्रशंसोपमा, अतिशयनाम्नातिशयोक्ति, मनोरथाख्येनाप्रस्तुत प्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति, सिद्धया तुल्ययोगितेति एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्।

— ना०श०अ०भा०, पृ० १२९८ अध्याय १६।

भरत निरूपित चार अलंकारों में से उपमा रूपक दीपक इन तीन का सम्बन्ध अर्थ से है तथा यमक का शब्द से। यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में अलंकारों के शब्दगत अर्थगत भेद का प्रयास दृष्टिगत नहीं होता तथापि यमक की परिभाषा से उसका शब्दालंकार होना स्पष्ट है। इसी आधार पर अभिनवगुप्त ने यह माना है कि भरत ने यमक को शब्दालंकार तथा उपमादि को अर्थालंकार स्वीकार किया था।

आचार्य भरत के उपरान्त भामह की रचना काव्यालंकार में अर्थालंकार की संख्या दस गुनी से भी अधिक हो गई। भामह ने अलकारों का उल्लेख चार वर्गों में विभक्त कर किया है। भामह के बाद दण्डी के काव्यादर्श में अलंकारों का विशद विवेचन प्राप्त होता है। भामह के ३९ अलंकारों के स्थान पर दण्डी ने ३६ अलंकार ही स्वीकार किये। उद्भट के समय तक यह संख्या ४१ हो गयी थी पर वामन ने ३१ अलंकारों का ही विवेचन किया है क्योंकि अर्थालंकारों में उन्होंने केवल उन्हीं अलंकारों की सत्ता स्वीकार की है जिनके मूल में सादृश्य हो। वस्तुतः वे सभी अलंकारों को उपमा प्रपन्च सिद्ध करना चाहते थे। भोज ने काव्य के अलंकार के शब्दगत, अर्थगत और उभयगत तीन भेद स्वीकार किये और प्रत्येक वर्ग में २४ अलंकारों का विशद विवेचन किया।

ध्वनि सम्प्रदाय और अलंकार :

ध्वनि सम्प्रदाय में अलंकार के स्थान निरूपण का महत्व पूर्ण प्रयास हुआ है। वस्तुतः ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों की दृष्टि पूर्वाग्रह मुक्त वैज्ञानिक एवं उदार है। वे काव्य के किसी एक तत्व के प्रति अनावश्यक मोह से ग्रस्त नहीं हैं और एक तत्व विशेष में ही काव्याशास्त्रीय अन्य तत्वों की समायोजना का अशास्त्रीय आग्रह भी उनमें नहीं है। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने पर भी गुण रीति, अलंकार आदि काव्य तत्वों का तटस्थ भाव से काव्य में स्थान निरूपित किया है।

आनन्दवर्धन के अनुसार तो वाग्विकल्प अर्थात् कथन के अनूठे ढंग अनन्त हैं और उनके प्रकार ही अलंकार कहलाते हैं। अभिनवगुप्त भी कथन के निराले ढंग के प्रकार विशेष को अलंकार कहते हैं। इन आचार्यों की अलंकार धारणा का सार यह है कि कथन का चमत्कार पूर्ण ढंग–उक्ति की विच्छित्ति ही अलंकार है। कथन की सुन्दर भंङ्गियां असंख्य हैं अतः अलंकारों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती आचार्य मम्मट और विश्वनाथ अलंकार को शब्दार्थ का अस्थिर शोभातिशायी धर्म

१–अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः।
ध्वन्या० ३ उ० वृत्ति।

कहते हैं क्योंकि अलंकार सदा सर्वदा ही रस का उपकार नहीं करते। कहीं-कहीं तो अलंकार न उपकार कहते हैं न अपकार, उनकी स्थिति तटस्थ होती है। पर कहीं-कहीं अलंकार आत्मभूत रस का अपकार भी कर देते हैं यथा शृंगारादि कोमल रस के प्रसंग में कठोर वर्णों का अनुप्रास रस का अपकार ही करता।[२] वस्तुतः पृथकयत्न-निर्वत्य अलंकार रस सम्प्रेषण में बाधा ही बन जाते हैं। यही करण है कि अलंकार के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन की सामान्य धारणा है कि रस को प्रकाशित करने वाले वाच्य विशेष (चमत्कारपूर्ण मणिति) ही रूपकादि अलंकार है।[3] अलंकार रस को प्रकाशित करने वाला तो होते ही हैं साथ ही आनन्दवर्धन की दूसरी अनिवार्य शर्त है कि उसे काव्य में सहज भाव से ही आना चाहिए। आनन्दवर्धन ने सहज भाव से आये अलंकारों को अपृथकयत्न निर्वर्त्य कहा है ऐसे अलंकार ही ध्वनिकाव्य में ग्राह्य होते हैं।[4]

अलंकारध्वनि एवं अलंकार :

आनन्दवर्धन की मान्यता है कि अलंकार वाच्योपस्कारक होने के कारण परम्परा काव्य के अंग हैं पर कभी-कभी ये अंगी भी बन जाते हैं क्योंकि जब अलंकार वाच्य होता है तो वह शरीर है किन्तु जब वह व्यंग्य हो जाता है तो वह अंगी का पद भी प्राप्त कर लेता है। ऐसे अलंकारों के लिए ब्राह्मण श्रमण न्याय से अलंकार ध्वनि शब्द का प्रयोग होता है और अन्य अलंकारों की अपेक्षा उन अलंकारों का महत्व वैसे ही बढ़ जाता है जैसे क्रीड़ा रत बालकों में राजा बने हुए बालक का महत्व होता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इस प्रसंग की विवेचना में स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार अलंकार कभी-कभी रमणी के कुमकुम लेप की तरह शरीर का सुश्लिष्ट आभूषण बन जाते हैं पर उन्हें शरीर कहना ही कठिन है आत्मा बनने का तो प्रश्न ही नहीं है पर इतना अवश्य है कि व्यंग्य होने पर अलंकार वाच्य अलंकार की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य

१–उपकुर्वन्ति तं सन्तं ये ङ्कद्वारेण जातुचित्
हारादिवदकङ्कारान्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥—मम्मट का०प्र० ८।६७।

२–शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माःशोभातिशायिनः।
रसादीनपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गादवत् ॥ - विश्वनाथ साहि०द० १०।१।

३–तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्य विशेषा एव रूपकादयो लङ्काराः।
—ध्वन्या० २, पृ० ४८५।

४–रसाक्षिप्त तथा यस्य बन्धश्शक्यक्रियोभवेत्।
अपृथग्यत्न निर्वर्त्य सोऽलङ्कारो ध्वनां मतः ॥

५–शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छाया यान्ति ध्वन्ङ्गनां गताः ॥

शाली बन जाते हैं। उनका वाच्य अलंकार की अपेक्षा विशेष महत्व वैसा ही है जैसा महत्व खेल में राजा बनने वाला बच्चा दूसरों की तुलना में थोड़ी देर के लिए प्राप्त कर लेता है।

यह अलंकार ध्वनि शब्दशक्त्युथ भी होती है और अर्थ शक्त्युथ भी। शब्द शक्ति से संभूत श्लेष इत्यादि अलंकारों की ध्वनि तो स्वतः सिद्ध है ही अर्थशक्ति से भी अलंकार ध्वनि होती है क्योंकि रूपक इत्यादि अलंकार वाच्य तो होते ही हैं व्यंग्य भी हो सकते हैं।[2] लोचन में एक उदाहरण से इसकी पुष्टि करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—'तस्या पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्रांगुलिः पल्लवः' यहाँ संदेह अलंकार है तथा उपमा एवं रूपक अलंकार ध्वनित हो रहे हैं।[3] अभिनवगुप्त का मत है कि अतिशयोक्ति का तो प्रायः सभी अलंकारों में ध्वनन होता है। इस संदर्भ में स्मरणीय तथ्य यह है कि यह अलंकार व्यंजना भी दो रूपों में होती है। (१) वस्तु से अलंकार व्यंजना (२) अलंकार से अलंकार व्यंजना।[4] जब वस्तु मात्र से अलंकार व्यक्त होते हैं तब वे अवश्य ही ध्वनि का अंग होते हैं, उसमें कारण यह है कि उस समय काव्य की वृत्ति उस अलंकार के ही अधीन होती है। साधारण वस्तु की अपेक्षा अलंकार सर्वदा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि कविवृत्ति अलंकार प्रवण होती है अतः जहाँ वाच्य केवल साधारण वस्तु हो और व्यंग्य अलंकार हो वहाँ प्राधान्येन व्यपदेशाभवन्ति के आधार पर अलंकार ध्वनि होती है। उदाहरणार्थ—

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विस्रब्धचाटुकशतानिरतान्तरेषु
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामियदिकिन्चिदपि स्मरामि ॥

यहाँ स्वतः सम्भवी वस्तु से व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है। जहाँ पर अलंकार दूसरे अलंकारों द्वारा व्यक्त हो रहे हों और चारुता के उत्कर्ष के कारण व्यंग्य की

१–एतदुक्तम् भवति—सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या, कुङ्कुमपीतिकायाइव आत्मतायास्तु का सम्भावना। एवं भूता चेयं व्यंग्यता यद्प्रधान भूतापि वाच्यमात्रालँकारेभ्यः उत्कर्षमलं कारणां वितरति। बालक्रीड़ायामपि राजत्वोमिवेति।
—लोचन अभिनवगुप्त, पृ० ११७-१८।

२–रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं विभ्रद्भूम्ना प्रदर्शितः॥ २६ द्वि०उ० ध्वन्या०।

३–ध्वन्यालोक, लोचन पृ० ५८८।

४–व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तिस्तदाश्रया॥ – २९ द्वि०उ० ध्वन्या०।

प्रधानता भी लक्षित हो रही हो तो वह अलंकार से अलंकार व्यंजना का क्षेत्र माना जाता है। यथा—

या स्थविरमिव हसन्ति कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाण ॥

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार से व्यतिरेक अलंकार की व्यंजना हो रही है। अतः स्पष्ट है कि इसका क्षेत्र भी व्यापक है और यह आत्मभूत ध्वनि का ही एक अंग है।

गुणालंकार विभाग :

काव्यशास्त्रीय घटकों में गुण और अलंकार दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। किसी एक को दूसरे का पूरक अथवा पर्याय कहना नितान्त अयोक्तिक होगा। आचार्य भरत से वामन तक की आचार्य परम्परा में गुणालंकार की विभाजक रेखा नितान्त अस्पष्ट थी। इसका प्रधान कारण था गुणालंकार के आश्रय की अस्पष्टता एवं कार्य निर्धारण का अभाव। इतना कह देने मात्र से कि गुण काव्य की शोभा के हेतु हैं और अलंकार शोभातिशय के, कार्य समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि यदि किसी काव्य में अर्थ व्यक्ति गुण और स्वभावोक्ति अलंकार की युगपत स्थिति हो तो वहाँ रहने का आधार क्या होगा कि उसके सौन्दर्य का कारण अर्थ व्यक्ति है स्वभावोक्ति नहीं। कोई गुण है अतः सौन्दर्य सर्जक है और कोई अलंकार है अतः सौन्दर्य वर्धक है कहना युक्ति संगत नहीं है। अतः गुणत्व अथवा अलंकारत्व के निर्णय के लिये यह निर्धारण प्रथमतः आवश्यक है कि काव्य में गुण का आश्रय और कार्य क्या है तथा अलंकार का आश्रय और कार्य क्या है ?

काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत में गुण और अलंकार के सामान्य स्वरूप निर्धारण का कोई प्रयास दृष्टिगत नहीं होता क्योंकि उनके अनुसार वाचिक अभिनय की श्री वृद्धि में ही गुणालंकार की उपादेयता निहित है। भरत के उपरान्त भामह तथा दण्डी ने गुण एवं अलंकार का विस्तृत विवेचन करते हुए भी इनके पारस्परिक भेद का स्पष्टीकरण नहीं किया। भामह गुण एव अलंकार में सैद्धान्तिक रूप से कोई भेद नहीं करते हैं। दण्डी ने भी काव्य शोभा कारक समस्त धर्मों को अलंकार कहा है अतः गुण, वृत्ति तथा अलंकार आदि सभी काव्य घटक अलंकार की श्रेणी में आ जाते हैं। इसे ही दृष्टिगत रखते हुए डा० पी० वी० काणे ने लिखा है कि दण्डी ने

१--अलङ्कारान्तरव्यङ्गभावे पुनः ध्वन्यङ्गताभवेत्।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ।। ३० द्वि०उ० ध्व०।

गुणालंकार भेद निरूपण नहीं किया।[1] गुणालंकार के सम्बन्ध निरूपण के प्रसंग में आचार्य उद्भट की स्थापना सर्वथा मौलिक है। यद्यपि पारवर्ती प्रत्येक आचार्य ने उनकी मान्यता का खण्डन किया तथापि जिस दृढ़ता और तर्क के साथ उन्होंने गुण और अलंकार के अभेद की स्थापना की है वह प्रशंसनीय है उनका कहना है कि काव्य में गुण की तरह अलंकार भी समवाय वृत्ति से रहता है अतः गुण एवं अलंकार में भेद मानना गतानुगतिकता है। आचार्य वामन ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने सौन्दर्यमलङ्कार[2] की सामान्य परिभाषा के उपरान्त गुणालंकार का पृथक स्पष्टीकरण किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि गुण काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है और अलंकार उसकी अभिवृद्धि। काव्य सौन्दर्य के लिए गुण अनिवार्य है अतः वह काव्य का नत्य धर्म है। अलंकार के अभाव में भी काव्य में सौन्दर्य सम्भव है अतः अलंकार अनित्य धर्म है। वामन की इस विवेचना में यद्यपि गुण और अलंकार के कार्यों का पृथक विवेचन तर्कपूर्ण रीति से अवश्य हुआ हैं तथापि आश्रय की एकता फिर भी कहीं उन्हें जोड़तो रही। वस्तुतः वामन ने रीति पदसंघना—शब्दार्थ को ही आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया है अतः आश्रय के वैभिन्य की अपेक्षा रखने का कोई अर्थ नहीं अपने सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने गुणालंकार का पार्थक्य स्पष्ट और निभ्रन्ति रूप से प्रस्तुत किया है।

आनन्दवर्धन ने ही सर्वं प्रथम पुरातन मान्यताओं को नया मोड़ देते हुए रसादि रूप ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया और शब्दार्थ को शरीर कहा। आत्मा और शरीर दोनों के पृथक अस्तित्व के निर्धारण ने गुण और अलंकार के पार्थक्य विवेचन को सारल्य प्रदान किया उनके अनुसार गुण आत्मा के धर्म है। रसादि रूप अर्थ का आश्रय लेकर उत्कर्ष साधना करने वाले तत्व गुण है और कटक कुण्डल के समान शरीर का आश्रय लेकर स्थित करने वाले धर्म अलंकार है।[5] गुण के अभाव में काव्य वैभव सम्भव नहीं जब कि अलंकार के अभाव में भी सुन्दर काव्य का सृजन सम्भव है और सत्य तो यह है कि अलंकारों का बहुल प्रयोग काव्य की रस सम्प्रेष-

---

1, Dandin's work makes no distinction between the gunas and the Alankaras—Dr. P. V Kane. History of Sanskrit poetics page 362

२–काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति –१।१।२ वामन।

३–काव्या भायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। ३। ।१, का सू० वृ० वामन

४–तदतिशय हेतवस्त्वलङ्काराः।३।३।२, का०सू० वृ० वामन।

५–तमर्थमवलम्बन्ते येङिङ्गनं ते गुणान्मृताः।

अङ्काश्रितास्त्वलङ्कारामन्तव्या कटकादिवत् ॥२।६ ध्वन्या०।

णीयता में व्याघात उपस्थित करता है। अतः स्पष्टतः आनन्दवर्धन के मतानुसार अलंकार काव्य के अपरिहार्य धर्म नहीं है। काव्य के शब्दार्थ रूप शरीर को आभूषित कर उसके माध्यम से काव्य की प्रधान वस्तु रस के उपस्कार में ही उसकी सार्थकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी आनन्द वर्धन की मान्यता की ही पुष्टि की और कहा कि अलंकार का प्रयोजन रस के उपकार में ही सिद्ध होता है। रस के अभाव में अलंकार की सत्ता कोई महत्व नहीं रखती।

निष्कर्षतः आचार्य आनन्दवर्धन के समय में ही गुण ओर अलंकारों का सुचारु एवं सम्यक् पृथककरण सम्भव हो सका। आश्रय और कार्य दोनों ही दृष्टियों से गुण और अलंकार पृथक् तत्व हैं इस निरूपण के परिणाम स्वरूप ही परवर्ती आचार्य मम्मट अपने काव्य लक्षण में 'अनलंकृतीपुनः क्वापि' कहने का साहस कर सके। मम्मटाचार्य के इस कथन का उत्स आनन्दवर्धन की वह पंक्ति है जहां वे कहते हैं कि रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तरविहेऽपि छायातिशयय गिलक्ष्ये दृश्यते। यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलेकेदृष्टो तौ दिव्यो मत्स्यकच्छपौ।[1]

अलंकार और अभिनवगुप्त :

वचन की विच्छित्ति अर्थात् कथन की शैली ही अलंकार है। प्रतिभा के बल से इनके अनेक प्रकार सम्भव हैं। अतः ध्वनिवादी आचार्य अलकारो की संख्या के प्रपन्च में नहीं पड़ते। अभिनव गुप्त का भी मत यही है कि वाणी के विकल्प अनन्त होते हैं और उस वाग्विकल्प के प्रकार ही अलंकार हैं। अतः अलंकारों की इयत्ता नहीं हो सकती जहाँ तक अलंकारों के सामान्य स्वरूप का प्रश्न है अभिनवगुप्त के अनुसार अलङ्कार शब्दार्थ के स्वरूपगत चारुत्व के साधन है। अर्थात् शब्दों की स्वरूप मात्र निष्ठ चारुता का हेतु शब्दालङ्कार है तथा अर्थ की स्वरूप गत चारुता का हेतु अर्थालङ्कार है। वस्तुतः अलङ्कार कह देने मात्र से सिद्ध हो जाता है कि ये वाच्य के उपस्कारक है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने वस्तुतः अलङ्कारों के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन की धारणा को ही पुष्ट किया है! उनके अनुसार भी काव्य में, रसाक्षिप्त, सुश्लिष्ट तथा अपृथकयत्मनिर्वर्त्य अलङ्कार दुर्लभ छाया को प्राप्त करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि रस के उपकार में ही अलङ्कारों का सौन्दर्य है काव्य में रसदि के अभाव

१— ध्वन्यालोकवृत्ति चतुर्थ उद्योत, पृ० १३५२।
२—अलंकृतित्वादेव च वाच्यस्योपस्कारत्वम्।— लोचन २६१।

की स्थिति में अलङ्कार ठीक उसी प्रकार उपयोगिता शून्य हो जाते हैं जिस प्रकार अचेतन शव शरीर पर संयोजित कटक कुण्डलादि।[1] वस्तुतः देह मात्र का कोई स्वतः सिद्ध औचित्य नहीं होता क्योंकि अलङ्कार्य आत्मा होती है। इसीलिए तो यति का शरीर कटकादियुक्त हो अनौचित्य के कारण हास्यावह होता है। इसे ही स्पष्ट करते हुये आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि उपमा वाच्यार्थ को अवश्य अलंकृत करती है किन्तु उसका अलङ्कारत्व इस बात में है कि वह वाच्यार्थ को व्यंग्यार्थ की व्यंजना में समर्थ बनाती है। केयूर आदि लौकिक अलङ्कार भी शरीर को अलंकृत कर उसके माध्यम से विशेष मनोभाव को सूचित करते हुए आत्मा को ही अलंकृत करते हैं।[2]

अलङ्कार अनन्त हो सकते हैं अतः उनका एक-एक करके विवेचन सम्भव नहीं हो सकता उस स्थिति में अलङ्कारों की दशा ठीक वैसी ही हो जायेगी जैसी प्रतिपद पाठ में शब्दों की। अतः अलङ्कारों के विवेचन के लिए उनके साधारण धर्म का निर्देश कर देना ही पर्याप्त है।

अलङ्कारों के मुख्य रूप से दो भेद किये जा सकते हैं–(१) वाच्य अलङ्कार (२) व्यंग्य अलङ्कार। व्यंग्य अलङ्कार का अन्तर्भाव ध्वनि में हो जाता है और वह ब्राह्मण श्रमण न्याय से अलङ्कार ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करता है। वाच्य अलङ्कार भी जब व्यंग्यांश का अनुगमन करते हैं तो लक्ष्य में अपूर्व छाया को धारण कर लेते हैं। ध्वनि मार्ग में वस्तुतः ये ही अलङ्कार ग्राह्य होते हैं। अलङ्कारों के साधारण धर्म की विशद् विवेचना के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने बताया है कि गुणीभूत व्यंग्य ही सभी अलङ्कारों का साधारण धर्म है। अर्थात् अलङ्कारों का जो रूप गुणीभूत व्यंग्य से विनिमुक्त होता है उसका वह रूप काव्य के लिए स्पृहणीय नहीं होता। उदाहरणार्थ उपमा 'यथागोस्तथागवयः या रूपक जैसे खेल वाली यूप अथवा अपह्नुति नेदं रजतम्' आदि काव्य में उपयोगी नहीं होते अतः काव्य में गुणीभूत व्यंग्यता ही रहस्यभूत मानी जानी चाहिए। अतिशयोक्ति, उपमा, वक्रोक्ति इत्यादि का सामान्य रूप तब तक सिद्ध

१–अचेतनं शव शरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यति शरीरं कटकादियुक्तम् हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानाचित ात्। नहि देहस्य किन्चिद-नौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः।– लोचन पृ० ४१६।

२–उपमाया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलंक्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणम् यद् व्यङ्ग्यार्थामिव्यन्जनसामर्थ्याधानमिति। वस्तुतो ध्वन्यात्मेकालंकायः कटक केयूरादिमिरपि हि शरीर समवायिमि आत्मैव तत्रचित्तवृतिविशेषोचित्य सूचनात्मतया अलंकियते।–लोचन पृ० ४१८।

नहीं होता जब तक उनमें चारुता नहीं आती और चारुता गुणीभूत व्यंग्य के ही अधीन है। अतः निष्कर्षतः गुणीभूत व्यंग्यत्व ही अलंकारों का सामान्य लक्षण है।

वस्तुतः सत्य तो यह है कि जिस प्रकार अलंकार धारण करने वाली अथवा अलंकार शून्यावनिता का मुख्य आभूषण लज्जा ही होता है क्योंकि उसमें प्रतीयमान की छाया होती है ठीक उसी प्रकार किसी कवि की वाणी में कितने ही अलंकारों का प्रयोग क्यों न किया गया हो अथवा उसमें एक भी अलंकार न हो किन्तु उसका मुख्य आभूषण प्रतीयमान की शोभा है।[2] अतः स्पष्ट ही है कि अभिनवगुप्त की दृष्टि में अलंकारों का कोई विशेष महत्व नहीं है।

अभिनवगुप्त काव्य में अलंकार प्रयोग के लिए कवि प्रतिभा एवं औचित्य को आवश्यक तत्व मानते हैं। कवि प्रतिभा के अभाव में अलंकार प्रयोग काव्य सौन्दर्य का नाशक हो जाता है। अनौचित्य भी शोभा का विलयन कर देता है।[3] यथा

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा !
इदमेवंविध भावि भवत्योः स्तनजृम्भणम् ॥

इस प्रकार अभिनवगुप्त की अलंकार धारणा का सार यह है कि —

(१) अलंकार वाच्योपस्कारक होता है।
(२) काव्य में ग्राह्य अलंकार को रसोपकारक होना चाहिए।
(३) काव्य में उनका प्रयोग अयत्नसम्पाद्य होना चाहिए।
(४) अलंकार प्रयोग में औचित्य का होना अनिवार्य है।
(५) कवि प्रतिभा के अभाव में कोई भी अलंकार अलंकार नहीं होता।
(६) अलंकारों का अलंकारत्व गुणीभूत व्यंग्यता में ही निहित है।

१—…………सुलक्षिता इति यत्किलैषां तद्विनिमुक्तम् रूपं च तत्काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति रूपक 'खलेवालीयूपः' ………अपह्नुतिः 'नेदं रजतम्' इति एवमन्यत्। न चैवमादि काव्योपयोगीतिगुणीभूत-व्यङ्ग्यतैवात्रालंकारतायां मर्मभूतालक्षिताः तान् सुष्ठु लक्षयति।…………न चातिशयोक्तिवक्रोकित्युपमादीनां सामान्यरूपत्वं चारुताहीनानामुपपद्यते चारुता चैतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं सामान्य लक्षणम्।

—लोचन तृ०उ०, पृ० ११५९-११६१।

२--अलंकृति भृतामपि शब्दादिलंकार शून्यानामपीत्यर्थः प्रतीयमानकृता छाया शोभा, स च लज्जा सदृशी गोपनासार सौन्दर्यप्राणत्वात् अलंकारधारणीनामपि नायिकानां लज्जा मुख्यं भूषणम्। लोचन तृ०उ०, पृ० ११६६।

३--अनौचित्येन तु शोभा लीयते एव। लोचन तृ०उ० पृ० ११४१।

रसाभिव्यक्ति और अलंकार :

अभिनवगुप्त के अनुसार रस अखण्ड आनन्दानुभूति है। साधारणीकृत अन्तःकरण द्वारा आस्वाद्यमान रस वेद्यान्तररससम्पर्कशून्य, अपरिमितानन्दमय और स्वसंवेदरूप होने के कारण वह ब्रह्मानन्द सहोदर है। अलौकिक चमत्कारी है और काव्य का जीवन सर्वस्व भी। अतः कवि को अपना ध्यान उस पर ही केन्द्रित रखना चाहिए जिससे सहृदयों की प्रतीति में विघ्न न आये। सुकवि के लिए आवश्वक है कि वह अलङ्कार, रीति, वृत्ति सभी का प्रयोग रस के औचित्य को केन्द्र मानकर करे। क्योंकि अनौचित्य से रसभंग होता है तथा काव्य शोभा की हानि होती है।

अलङ्कारों का प्रयोग भी कवि को रसौचित्य की दृष्टि से ही करना चाहिए क्योंकि ध्वनिमत में रसाक्षिप्त और अपृथकयत्ननिर्वत्य अलङ्कार ही ग्राह्य बताये गये हैं। इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने कतिपय संकेत किये हैं जिनके स्मरण से प्राज्ञ कवि अपने स्खलन को नियंत्रित कर सकता है। उदाहरणार्थ —

(१) प्रधानभूत श्रृंगार के सभी भेदों में यत्नपूर्वक समानरूप से उपनिबद्ध अनुप्रास रसाभिव्यंजक नहीं होता।[१] अभिप्राय यह है कि अंगी श्रृंगार में यत्न पूर्वक समान रूप से उपनिबद्ध अनुप्रास रसाभिव्यंजक नहीं होता। अतः कवि को ऐसे प्रयोग नहीं करने चाहिए।

(२) कवि के समर्थ होने पर भी ध्वन्यात्मक श्रृंगार में विशेष रूप से विप्रलम्भ श्रृंगार में यमकादि निबन्धन प्रमाद सूचक है।[२] आशय यह है कि ध्वन्यात्मक प्रधानीभूत श्रृंगार व्यंजना वृत्ति से व्यक्त होकर रमणीयता को प्राप्त होता है उसके द्योतन के लिए यमक श्लेष तथा दुष्कर मुखबन्धादि का उपयोग नहीं करना चाहिए। काकतालीयन्याय से कहीं किसी एक यमकादि का निवेश तो क्षम्य है प्रचुर प्रयोग दोष उत्पन्न करता है।[३] यद्यपि कवि शक्ति दोषाच्छादक होती है[४] किन्तु श्रृंगार में यमक निबन्धन शक्ति की आच्छादकता को भी शक्तिहीन बना देता है।

१--श्रृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥२।१४ ध्वन्यालोक।

२--ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥२॥१५,,

३--प्रमादित्वमित्यनेनैंदृर्श्यते काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भू भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति।
—ध्वन्या० द्वि०उ० वृत्ति, पृ० ४७८।

४--अव्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। —ध्वन्या० तृ० उ०।

अन्य अलङ्कारों के दुष्ट प्रयोग का भी अप्रत्यक्षतः संकेत आनन्दवर्धन ने किया है उनका कहना है कि रस निष्पादन की प्रक्रिया में अबुद्धि पूर्वक बिना किसी पृथक् यत्न के ही स्वयं जो अलङ्कार निष्पन्न हों वे ध्वनि के उपकारक हैं। यमक में तो पृथक् यत्न करना ही पड़ता है अतः उसके उपकारकत्व का तो प्रश्न नहीं उठता परन्तु रस मार्ग में विचार पूर्वक प्रयुक्त उपमा रूपक आदि अलङ्कार चारुता हेतु हो जाता है परन्तु ये उपकार तभी करते हैं जब —

(१) इनकी विवक्षा रस परत्वेन ही हो।
(४) अंगी रूप में इनकी विवक्षा न हो।
(३) उचित समय पर इनका ग्रहण हो।
(४) उचित समय पर त्याग भी हो।
(५) इनका अत्यन्त निर्वाह न हो।
(६) निर्वाह हो जाने पर भी ये अंग रूप में ही रहें अंगी रूप में नहीं।[१]

इन नियमों का पालन न करने पर ध्वनि काव्य में अलङ्कारों की योजना दोषाधायक हो जायेगी। अलङ्कार की रस पोषकता अथवा रसांगता को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन शाकुन्तल का श्लोक उद्धृत करते हैं—

(१) चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकरहतास्त्वं खलु कृती॥

यहाँ पर भ्रमर स्वाभावोक्ति का उपादान जो अलंकार है दुष्यन्त के पूर्व राग विप्रलम्भ का परिपोषक है।[२] यद्यपि अंगी रूप में अलंकार दोष उत्पन्न करता है तथापि कहीं कहीं रस परिपोष के लिए प्रयुक्त अलंकार अंग होते हुए भी उसका तिरस्कारक बन जाता है। यथा—

(२) 'चक्राभिघात प्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दाम विलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥

१--विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहण त्यागौ नाति निर्वहणैषिता॥ २।१८ ध्वन्या०
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्व साधनम्॥ ध्वन्या० २।१९।

२--भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कार ङ्गतामेव प्रकृत रसस्योपगतः।
-- द्वि०उ० लोचन, पृ० ४९१।

यहाँ मुख्य रूप से वासुदेव के प्रताप का वर्णन ही अभिप्रेत है किन्तु वह चारुता हेतु के रूप में प्रतीत नहीं हो रहा चारुताहेतु पर्यायोक्ति ही प्रतीत हो रही है।[१] अंग रूप में प्रयुक्त होने मात्र से ही अलंकार रस परिपोषक नहीं हो जाता अलंकार का यथावसर ग्रहण और त्याग भी आवश्यक है। अवसर पर ग्रहण का उदाहरण देते हुए रत्नावली का श्लोक उद्धृत किया है—

(३) उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भांक्षणात् ।
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
आद्योद्यानलताभिमां समदनां नारीभिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटल द्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

यहाँ पर उपमा और श्लेष का उपादान अवसर के अनुकूल है। यह उपमा आगे आने वाले राजमहिषी के ईर्ष्याविप्रलम्भ के मार्ग की शोधक है और सहृदयों के हृदय को रसचवर्ण के योग्य बनाती है।[२] अवसर तथा आवश्यकता के अनुकूल किसी अलंकार का त्याग भी रस परिपोषक होता है यथा हनुमान्नाटक में—

(४) रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्येः प्रियायाः गुणेः
त्वामायान्ति शिली मुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ॥
कान्तापादतलाहतिस्तवमुदे तद्वन्मपान्या वयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं घात्रा सशोकाः कृतः ॥

यहाँ पर प्रबन्ध में प्रवृत्त हुआ भी श्लेष व्यतिरेक के कथन की इच्छा से त्याग दिया गया है इसी कारण विप्रलम्भ को पुष्ट करता है। अलंकार की रसपोषकता का पाँचवा प्रकार वह है जहाँ रस निर्वहण में संलग्न कवि संयोगवश आये हुए अलंकार की परिसमाप्ति का यत्न नहीं करता यथा —

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेनबद्धवा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।

१--वासुदेव प्रतापो ह्यत्र विवक्षितः। स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति, अपितु पर्यायोक्तमेव। यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषाशङ्का, तथापि दृष्टान्तव-देतत्—यत्प्रकृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारोऽङ्गभूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्येता ततश्च क्वचिदनौचित्यभागच्छतीत्ययं ग्रन्थकृत आशयः। महात्मानां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषणमिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम्। — द्वि०उ० लोचन, पृ० ४६४।

२--अत्रोपमाश्लेषईष या विप्रलम्भस्य भविनो मार्ग परिशोधकत्वेनस्थितस्तच्चर्वणा भिमुख्यं कुर्वत्रवसरे रसस्य प्रामुखीभावदशायां पुरस्सरायमाणो गृहीत इति भावः। —द्वि० उ० लोचन पृ० ४६६।

भूयोनेवमितिस्खलत्कलगिरासंसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्योहन्यतएवनिह्नुतिपरः प्रयान् रुदत्या हसन् ॥

यहाँ रूपक का आक्षेप है जिसका निर्वाह नहीं किया गया है अतः वह रस को बहुत अधिक पुष्ट करता है। लोचन कार का कथन है कि यदि रूपक का निर्वाह किया जाता तो दायिता व्याधवधू और वासगृह कारागार पंजर हो जाता जो अत्यन्त अनुचित है।[१] इसी प्रकार यदि कहीं अलंकार का पूर्व निर्वाह हो गया हो तो कवि को कौशल द्वारा उसे रस का अंग बना देना चाहिए तभी वह रस का पोषक होगा यथा मेघदूत में —

श्यामास्वङ्गं चकित हरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां वर्तभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तेकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥

यहाँ पर सादृश्य को जिस रूप में प्रारम्भ किया गया था उसका पूरा-पूरा निर्वाह कर दिया गया किन्तु फिर भी वह विप्रलम्भ का पूर्ण रूप से परिपोषक ही हो गया है।[२] इसके अतिरिक्त और भी अन्य प्रकार हैं जिनके प्रयोग से अलंकार रसाभिव्यक्ति में सहायक हो सकते हैं जैसे कि आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है यथावसरत्यक्त का भी पुनर्ग्रहण। इसके स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने स्वरचित श्लोक उद्धृत किया है —

शीतांशोरभृतच्छटायदिकराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससन्दूषिताः ।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरैः
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेहि हहहा नो वद्भि केयं मतिः ॥

यहां पर रूपक सन्देह और निदर्शना को छोड़कर रस परिपोष के लिए पुनः उपादान कर लिया गया है।[3]

१– बाहुलतिकायाः बन्धनीयपाशत्वेन रूपणं यदि निर्वाहयेत, दयिता व्याधवधू, वासगृहं कारागारपन्जरादीति परमनौचित्यं स्यात् ।
—लोचन द्वि०उ०, पृ० ५०८ ।

२--अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम् ।
द्वि०उ० लोचन, पृ० ५१० ।

३--इत्यत्र रूपकसन्हनिदर्शनास्त्यक्त्वा पुनरुपाक्षा रसपरिषोयेति ।
— द्वि०उ० लोचन, पृ० ५१२ ।

यदि कवि उपरोक्त कथित प्रकारों का आश्रय लेकर अलंकारों को काव्य निबद्ध करता है तो वह प्रयुक्त अलंकार रसाभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है। इसके प्रतिकूल उक्त प्रकारों का अतिक्रमण करने से वे प्रयुक्त अलंकार नियम पूर्वक रस भंग में हेतु हो जाते हैं। रसभंग सहृदय हृदय का विघातक है अतः ध्वनि मार्ग में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक महत्व दिया गया है और उनमें भी अलंकारत्व उन्हीं का सार्थक माना है जो रसाभिव्यंजना में सहायक हों।

संघटना

काव्य निर्मायक घटकों की सम्यक समायोजना ही संघटना है। ये काव्य निर्मायक तत्व प्रत्येक व्यक्ति के अपने अध्ययन, अनुभव और बोध पर आधृत होते हैं। मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के आधार पर काव्य के संयोजक निर्मायक घटकों के सम्बन्ध में भी संस्कृत के आचार्य अपनी-अपनी मौलिक परिकल्पनाओं से अभिषिक्त रहे हैं। वस्तुतः किसी भी कृति की सौंदर्य चेतना उसकी प्रकृति में समन्वित होती है। पारखी व्यक्ति कृति की प्रकृति को आधार बनाकर प्रतिमानों की सर्जना करता है। यह आवश्यक नहीं कि पर्यवेक्षक की दृष्टि सैनिक अनुशासन में बद्ध एक ही दिशा में गतिशील हो। कमल कुड्मल को देखकर किसी की सूक्ष्म सौंदर्य चेतना वर्ण में उलझ जाती है तो कोई पटल के आकार में खो जाता है कोई कोष की कल्पना करता है तो कोई पराग की स्निग्धता पर बिछलता हुआ उसकी स्निग्धता को ही सौंदर्य का पर्याय मान लेता है। ठीक इसी प्रकार काव्य के रूप में किसी भी भावुक की अभिव्यक्ति सम्मुख आने पर भावक अपने निजत्व का परिचय देते हुए मौलिक प्रतिमानों की सर्जना करता है। ये प्रतिमान ही घटक हैं। यही कारण है कि आज साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्यात्मा को लेकर विविध सम्प्रदायों का विवादास्पद द्वन्द सा दिखाई देता है। रस से लेकर औचित्य तक छः सम्प्रदायों के अंगदीय चरण काव्य क्षेत्र में स्थापित हैं परन्तु यदि इन घटकों की सूक्ष्म विवेचना करें तो सहज ही व्यक्त हो जाता है कि दिखने वाले ये विभेद केवल बाह्य हैं। इनका स्वर एक है पर संज्ञा भिन्न। विषय बोध के लिए प्रत्येक घटक की विशद् विवेचना उसके सर्जक के सिद्धान्तानुसार करना अपरिहार्य है। अभिनवगुप्त के शब्दों में यदि कहा जाय तो कह सकते हैं कि काव्य रचना सामर्थ्य अथवा रसिक का काव्य विवेचन सामर्थ्य ठीक प्रकार से समझने के लिए विभाग बुद्धि अपनाना आवश्यक है भले ही वह काल्पनिक क्यों न हो।[1]

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत से ही काव्य शास्त्रीय विवेचना का समारम्भ सामान्यतः माना जाता है किन्तु नाटक जिसे प्रतिसाक्षात्कार कल्प कहते

१-किन्तु विरचनविवेचन सामर्थ्य समर्थनाय अवश्यं काल्पनिकोऽपि विभाग आश्रयणीयः। – अभिनवगुप्त अभिनव भारती,

हैं जो चाक्षुष है, से ही जुड़े रहने के कारण परवर्ती आचार्यों को उसमें एकांगिता की अनुभूति हुई। काव्य केवल दृश्य हीं नहीं श्रव्य भी है। भरत ने अपनी विवेचना दृष्टि दृश्य से ही निबद्ध रखी। श्रव्य की मीमांसा करके भी वे मुख्यतः दृश्य से ही जुड़े रहे।

भरत द्वारा निर्मित काव्य निर्मापक घटक तीन हैं—गुण, अलंकार और लक्षण। इन तत्वों में से लक्षण को छोड़कर अन्य सभी तत्व कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों और परिवर्धनों से युक्त हो आज तक विद्यमान हैं।

सर्वप्रथम काव्य चर्चा नाट्यांगभूत थी परन्तु समय चक्र के साथ वह उससे पृथक् होकर अलंकार शास्त्र के रूप में परिणत हुई परिणामतः दो वर्ग स्वतः सम्मुख आ जाते हैं। एक वर्ग था नाट्य विवेचक भरत और उनके अनुयायियों का तथा दूसरा वर्ग था काव्य विवेचक प्राचीन आचार्य भामह और दण्डी का। स्वतन्त्र अलंकार शास्त्र के प्रादुर्भाव के साथ ही प्राचीन तत्व नवीन रूप राशि ले आ खड़े हुए कुछ का आगम हुआ तो कुछ का विलोप। कतिपय तत्व मौलिक परिवर्तनों एवं परिवर्धनों से सुसज्जित कर स्वीकार लिये गये।

भरत ने 'रस एवं नाट्यम्' तथा 'नाट्ये व रस' कह कर रस तत्व की प्रधानता स्वीकार की थी परन्तु भामह और दण्डी ने अलंकारों को ही काव्य का प्राणतत्व माना। भामह ने 'शब्दार्थौंकाव्यम्'[२] कह कर काव्य को परिभाषित किया एवं अपने षट् परिच्छेदीय ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में विवेचित अलंकार एवं गुण को ही काव्य घटक के रूप में घोषित किया। दण्डी ने 'काव्य शोभाकरान् धर्मालंकारान् प्रचक्षते कह कर काव्य स्वरूप को रूपायित किया एवं अपने ग्रन्थ' काव्यादर्श के चार परिच्छेदों में रीति गुण एवं अलंकारों की विस्तृत विवेचना कर रीतिगुण एवं अलंकारों को काव्य घटक के रूप में स्वीकृत किया। अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी जिस स्पष्टता से उन्होंने वैदर्भी और गौड़ी रीति को प्रकाशित किया है उसे देखकर उन्हें रीति सम्प्रदाय का मार्ग निर्देशक भी माना जा सकता है।

वस्तुतः हर तत्व अपने सूक्ष्म रूप में पूर्ववर्ती तत्वों में ही सन्निहित होता है। विवेचक की अन्वेषक दृष्टि अपने निजत्व में ढाल कर उसे नवीन रूप देती है। दण्डी के उपरान्त आचार्य वामन के ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्र' में रीति सम्प्रदाय का चरमो-

---

१–भरत—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ३३६ (अभिनवगुप्त)।

२–भामह—काव्यालंकार १।१६।

३–दण्डी—काव्यादर्श।

त्कर्ष दिखाई देता है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर वामन ने रीति को काव्य का प्राण घोषित किया है। वामन ने अपने पंच परिच्छेदीय ग्रन्थ में रीति, गुण एवं अलंकारों को काव्य निर्मापक घटकों के रूप में उपस्थित किया।

इनके अनन्तर काव्यात्मा की मौलिकता को लेकर अवतीर्ण हुए आचार्य आनन्दवर्धन। इन्होंने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः[२] कहकर इसे प्रतिष्ठित किया एवं तीनों पक्षों (१) अभाववादी (२) भक्तिवादी (३) अशक्य वक्तव्यता वादी) का प्रबल तर्कों से खण्डन किया। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में रस ध्वनि की प्रधानता स्थापित करते हुए रस सम्प्रदाय एव ध्वनि सम्प्रदाय की संयोजना की। साथ ही काव्य घटकों के रूप में ध्वनि गुण अलंकार तथा संघटना का निरूपण किया एवं पूर्व प्रचलित रीतियों एवं वृत्तियों की चर्चा कर इन्हें स्व प्रतिपादित तत्वों में ही सन्निहित किया।

उपरोक्त समस्त तत्वों में 'संघटना' नामक तत्व पुरातन होते हुए भी नवीन है। आनन्दवर्धन के पूर्व किसी भी आचार्य ने 'संघटना' शब्द का प्रयोग नहीं किया था।

'संघटना' शब्द की व्युत्पत्ति सन् उपसर्ग पूर्वक घट् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से होती है जिसका अर्थ है संरचना या अवयवों का सन्निवेशन अथवा संगठन।

वस्तुतः विशेष पद रचना ही 'संघटना' है विशेष गुणात्मक होते हैं और गुण रस पर्यवसायी अर्थात् शब्दों की ललितोचित संरचना जो गुणात्मक हो एवं रस वृत्ति में पर्यवसित होती हो 'संघटना' कहलाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि गुणालंकार से मण्डित शब्द, जो काव्य के शरीर हैं, को रस पर्यवसायी सौंदर्य देने वाला गुम्फ ही है संघटना। संक्षेप में कह सकते हैं कि संघटना का अर्थ है विशेष प्रकार की रसानुकूल वर्ण संयोजना।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संघटना :

'संघटना' के प्रादुर्भाव को यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करें तो इसका बीज रूप भरत द्वारा निरूपित लक्षण की अभिनव प्रतिपादित स्वरूप विवेचना में स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होता है। यद्यपि की किसी भी विचारक में लक्षण के स्वरूप में सन्निहित संघटना के स्वरूप के पृथक् अस्तित्व की स्थापना का प्रयास नहीं है फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस संघटना का आविर्भाव काव्य क्षेत्र में कोई आकस्मिक घटना नहीं है प्रत्युत इसका बीज रूप भरत द्वारा निरूपित षट्त्रिंशत् लक्षणों के स्वरूप विवेचन के चक्रव्यूह में ही अस्तित्वमय है।

१–वामन — काव्यालंकार सूत्र १।२।६।

२–आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक १।१।

वस्तुतः भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में 'लक्षण' के स्वरूप का प्रतिपादन कहीं नहीं किया कोई परिभाषा नहीं दी केवल ३६ लक्षणों की तालिका एवं उनके स्वरूप का वर्णन किया है। काव्य लक्षणों का स्वरूप क्या हो सकता है इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने विस्तृत चर्चा की है। भरत के नाट्यशास्त्र के अध्ययन से यह सत्य तो अनावृत्त हो ही जाता है कि लक्षण प्राचीन भारतीय नाट्य एवं काव्य के महत्वपूर्ण घटक थे। भरत ने स्पष्ट उद्घोषणा की है – 'काव्यबन्धस्तुकर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः[१] किन्तु कालान्तर में गुण एवं अलंकारों के विकासोन्मुखी होने पर लक्षण पद्धति उत्तरोत्तर धूमिल पड़ती गई। यहां तक कि अभिनवगुप्त के समय तक काव्य विवेचन की विविध पद्धतियों में लक्षण पद्धति नहीं थी। अभिनवगुप्त अपनी अभिनव भारती में लिखते हैं – 'ननु काव्यबन्धस्तु कर्तव्याः इत्युक्तम्, तत्र गुणालंकारादिरीति वृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धो मार्गो, लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि।[२] भरत के समय ये लक्षण काव्य एवं नाट्य की आधार भूमि थे। परन्तु नाट्यशास्त्र से मुक्त होकर जब काव्य चर्चा स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त हुई उस समय लक्षणान्वित काव्यबन्ध सालंकार होने लगा एवं काव्यालंकार के नाम से प्रतिष्ठित होकर अपने भविष्य पथ पर अग्रसारित हुआ। भामह के समय तक ये लक्षण अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो चुके थे। विद्वानों का विचार है कि लक्षण कालक्रम में अलंकारों से संयुक्त हो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठे। वी० राघवन् इनके विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं – 'काव्य और नाट्य दोनों ही क्षेत्रों में इन लक्षणों ने अपने प्रभाव एवं परिधि का विस्तार किया एवं अलंकार जो संख्या में कम थे उन्हें समाहित किया परन्तु शनैः शनैः अलंकार शास्त्र में लक्षणों का अस्तित्व समाप्त हो गया।[३] काव्य चर्चा के स्वतन्त्र संसार में ये लक्षण अलंकारों में परिवर्तित हुए इसका स्पष्ट प्रमाण हमें अभिनव भारती में मिल जाता है जहाँ अभिनवगुप्त अपने गुरु आचार्य भट्टतौत का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते है – 'लक्षणों के बल से अलंकारों में वैचित्र्य आता है। यथा गुणानुवाद नामक लक्षण से उपमा का योग होने पर प्रशंसोपमा होती है अतिशय नामक लक्षण से सम्बन्ध होने पर अतिशयोक्ति होती है। मनोरथ लक्षण के संयोग होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा होती है।

१--नाट्यशास्त्र – भरत, १५।२२७।

२–अभिनव भारती – अभिनवगुप्त पृ० २९४ वाल्यूम ॥ गा०ओ०सी०।

3–'It had its day when it loomed large in the field eclipsing Alankaras which were poor in number but gradually Laksana died in Alankar sastra' p. 2 Some Aspects of Alankar -- V. Raghavan.

मिथ्याध्यवसाय लक्षण के सम्बन्ध से तुल्योगिता होती है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के बीज का अनुसंधान करना चाहिए।[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सतत गतिशील साहित्यिक विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के साथ एक बिन्दु पर पहुँच कर लक्षणों का स्वरूप अलंकारों में अन्तर्मुक्त हो गया। आविर्भाव-तिरोभाव जीवन का ही नहीं साहित्य का भी सत्य है। अलंकारों में तिरोहित हो जाने वाले लक्षण नवीं शताब्दी में फिर आविर्भूत हुए परिभाषा का नूतन परिधान धारण करके। यदि लक्षणों की संख्या और अन्तर्भाव के प्रपञ्च को छोड़कर अभिनव द्वारा प्रतिपादित लक्षण के सामान्य स्वरूप का विवेचन किया जाय तो कथन की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है। इन लक्षणों के सामान्य स्वरूप के विवेचन के प्रसंग में अभिनव ने प्रचलित दस मतों का उल्लेख किया है जिसके विवेचन से स्पष्ट है कि इन लक्षणों का धर्म 'काव्य शोभाकारित्व' ही है क्योंकि कुछ मनीषि लक्षणों के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं – "शरीरनिष्ठमेवयत्पदं पृथक् सिद्धं तल्लक्षणम्' येन शरीरस्य सौन्दर्य जायते।[२] कतिपय विद्वानों का कहना है कि काव्यगत धीरोदात्तादि नायकों में गुणों का आधान जिससे हो, वस्तु के वर्णन करने की भंगि अर्थात् शैली ही लक्षण है।[३] अभिनवगुप्त का कथन है 'काव्येतावल्लक्षणं शरीरं अर्थात् काव्य में लक्षण शरीर है।[४] अभिनवभारती में ही अन्यत्र वे कहते है-'सुन्दरास्पद तो लक्षण रुप शरीर है ही।[५] इन सभी उद्धरणों की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि संघटना का उत्स लक्षण के स्वरूप में सन्निहित है। इन विवेच्य पदांशों 'येन शरीरस्य सौन्दर्य जायते' 'वस्तु वर्णनाभङ्गि' आदि के द्वारा संघटना का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। अलंकार के विरत होने पर भी अभिव्यंजना गत सम्यक् संघटना काव्यास्वाद कराने में सहज सक्षम है। यही तथ्य अभिनवगुप्त लक्षण के सम्बन्ध में

१–उपाध्यायमतं तु लक्षणबलात् अलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथाहि गुणानुब्रदवाप्नालक्षणेन प्रशंसोपमा। अतिशयनाम्ना अतिशयोक्ति। मनोरथाख्येन अप्रस्तुत प्रशंसा मिथ्याध्यवसायेन अपह्नुतिः सिद्धया तुल्ययोगिता। इत्येवमुत्प्रेक्ष्यम्। — अभिनवभारती पृ० (१ ६८) षोडशो ध्याय।

२–अभिनव भारती, पृ० १२५२ मधुसूदनशास्त्री अध्याय १६।

३–काव्ये धीरोदात्तादिगुणाधानं वस्तुवर्णनाभङ्गिर्वेतिकेचित्।
— अ०भा० पृ० १२५३, मधुसूदन शास्त्री अध्याय १६

४–अभिनवभारती, पृ० १२६७ अध्याय १६, मधुसूदन शास्त्री।

५–'सुन्दरास्पदं तु शरीरमुपलक्षम्।
—अभिनवभारती, पृ० १२६६, मधुसूदन शास्त्री, अध्याय १६।

लिखते है — 'लक्षणं तु अलंकार शून्यमपि न निरर्थकम्।'[1] आचार्य अभिनव लिखते हैं कि अभिधा का त्रिविध व्यापार (शब्दव्यापार, अभिधातृ व्यापार, प्रतिपाद्य व्यापार) ही लक्षण का विषय होता है। इनमें से प्रतिपाद्य व्यापार जिसमें कवि यह निश्चय करता है कि इन शब्दों के साथ इन शब्दों की ओर इन अर्थों के साथ इन अर्थों की संघटना करूँगा ऐसा इस प्रकार का जो तृतीय परिस्पन्द हैं इसी की आधीनता में काव्य को शब्दात्मक अर्थात्मक शरीरादि का लाभ होता है। ये लक्षण क्रिया रूप है अतएव शब्द एवं अर्थ के संस्कार करने में कल्प हैं समर्थ हैं। तथा वक्ष्यमाण श्लेषादि दश गुणों का अभिव्यंजन करना इनका व्यापार है।[2] 'लक्षण के इस स्वरूप में आनन्द-वर्धन प्रणीत संघटना की स्पष्ट छाया प्राप्त होती है। इसी प्रकार जहां यह कहा गया है कि काव्य में शब्दों एवं अर्थों का ऐसा कोई स्निग्ध आकर्षक स्पर्श है, स्वानुभव है जो श्लेषादि गुणों की अभिव्यक्ति कराने में दक्ष है कुशल है। क्या लक्षण की यह परिभाषा संघटना की नहीं है ?

उपरोक्त उद्धरणों से मुझे तो ऐसा लगता है कि अभिनव विवेचित लक्षण स्वरूप को यदि संघटना का उद्गम स्रोत माना जाय तो कोई अनौचित्य नहीं होगा।

नाट्यशास्त्र में इन लक्षणों की गणना दो रूपों में उपलब्ध होती है। काशी संस्करण में लक्षण अनुष्टुप छन्द में वर्णित है तो काव्यमाला और गायकवाड़ संस्करणों में उपजाति वृत्त में। अभिनव ने उपजाति वृत्ति में परिगणित लक्षणों को प्रामाणिक माना है तथा अनुष्टुप परिगणित शेष लक्षणों को उपजाति वृत्त में परिगणित लक्षणों में अन्तर्मुक्त किया है। उपजाति वृत्त में परिगणित लक्षण नाट्य सन्ध्यङ्गों के सर्वथा-नुरूप है तो अनेक लक्षण जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है अलंकारानुवर्ती है और यदि लक्षणों की संख्या को छोड़ उनके सामान्य स्वरूप पर विचार किया जाय तो वे संघटना के गुणों से समन्वित प्रतीत होते हैं। अतः यदि भरत सम्मत लक्षणों को त्रिविध सत्ता युक्त कहा जाय तो अनुचित न होगा।

१--अभिनवभारती, पृ० १२६६ षोडषोऽध्याय (मधुसूदन)।

२--शब्दानाममीमिः शब्देरर्थानमीभिरर्थैः संघटयानित्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मार्थात्मक काव्य शरीर संश्रितानि वक्ष्यमाण श्लेषादिगुण दशक समभिव्यंजन व्यापाराणि शब्दार्थोपसंस्कार कल्पानि क्रिया-रूपाणि लक्षणानीति।

—अभिनवभारती, पृ० १२५४ अध्याय १६।

३--काव्येऽप्यस्थि तथा कश्चिद् स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः।
यः श्लेषादिगुण व्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः। अ०भा० पृ० १२५५।

वस्तुतः कवि का उक्ति विशेषी ही काव्य की विशेषता है। उक्ति वैशिष्ट्य है कवि व्यापार है काव्य और शास्त्र दोनों में शब्दार्थ तो एक समान ही होते हैं पर उन्हीं शब्दों को कवि अपने काव्य में ऐसे औचित्य पूर्ण रीति से प्रयुक्त करता है कि वे ही शब्दार्थ रस वृत्ति में पर्यवसित हो अलौकिक चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। यही कविव्यापार है। वक्रोक्ति भी इसी का एक पर्याय है। अभिनव गुप्त के शब्दों में बन्धो गुम्फो मणिति, वक्रोक्तिः कविव्यापार इति हि पर्यायाः।[1] और मूलतः संघटना भी यही है।

संघटना

ध्वन्यालोक में व्यंजकमुख से ध्वनि भेदों के निरूपण के उपक्रम में विवक्षितान्यपरवाच्य के भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के तत्वों को निरूपित करते हुए लिखा है –

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्गयो ध्वनि वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायाश्चा स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥

अर्थात् जो अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है वह वर्ण पद में तथा वाक्य संघटना एवं प्रबन्ध में भी दीप्त होती है। यहाँ ही प्रथमतः संघटना शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु इसकी कोई परिभाषा आनन्दवर्धन ने नहीं दी है। केवल इतना ही कहा है कि संघटना तीन प्रकार की होती है– (१) असमासा (२) मध्य समासा (३) दीर्घसमासा।

आनन्दवर्धन प्रणीत संघटना के इस स्वरूप में रुद्रट उद्भाव न रीति का स्पष्ट आभास है। रुद्रट ने समास को ही रीति का मुख्य तत्व माना तथा लघु, मध्य व दीर्घ समासों के अनुसार पांचाली, लाटीया और गौड़ीया रीतियों के स्वरूप का निरूपण किया वैदर्भी को असमासा माना। आनन्दवर्धन ने रुद्रट की लटीया रीति को अस्वीकृत कर अन्य तीन रीतियों को संघटना के अभिधान से अलंकृत कर उसके भेदक तत्व के रूप में समास को स्वीकार किया और इस दृष्टि से वे परुषा उपनागरिक तथा कोमला वृत्तियों से दूर नहीं हैं। वे भी अपने निबन्ध में आनन्दवर्धन की संघटना पर विचार व्यक्त करते हुए उसे रुद्रट की रीति के सन्निकट माना है।[2]

१–नाट्यशास्त्र – अभिनवभारती, पृ० १२६६ अध्याय १६ मधुसूदन।

2--Tbe tern Samghatana is not defined, but we are told that Samghatana is of three Kinds, namely Asamaea madhyama samasa & Dirgha Samasa. It is Thusakint of collocation of words depending on the absence or presence, in Varying degree of compounded forms. It thus corresponds roughly to Rudrata'S idea of Riti. Some problems of Sanskrit poeties – S R. Be Anandavardhana s. Treatment of Samghatana P. 91.

वस्तुतः रीति, वृत्ति, मार्ग, संघटना विभिन्न संज्ञायें अवश्य हैं परन्तु इनका मूल स्वर एक ही है और वह है 'शब्द और अर्थ के आश्रित वह रचना चमत्कार जो माधुर्य ओज प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित दीप्त और परिव्याप्त करता हुआ अपने समग्र रूप में रसाभिव्यक्ति का माध्यम हो। शब्दार्थं का सामंजस्य ही उक्ति का साफल्य है। क्रोचे के अनुसार तो सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं होती। कुन्तक के शब्दों में भी शब्द और अर्थ के साहित्य का अभिप्राय है अन्यून अनतिरिक्त प्रयोग से प्रोद्भूत इन दोनों की मनोहारिणी अवस्थिति।[१] अर्थात् सम्यक् सघटना।

सार यही है कि गुण सम्पन्न पद रचना यदि वामन की रीति है तो दण्डी का मार्ग, आनन्दवर्धन की संघटना है तो राजशेखर का वचन विन्यास क्रम। वामन की रीति और आनन्दवर्धन की संघटना में यदि कुछ अन्तर है तो वह इतना ही कि आनन्दवर्धन की संघटना इस रूप सौन्दर्य की साधिका है तो वामन की रीति स्वयं-सिद्धा। संघटना के इतिहास पर दृष्टि निक्षेप से स्पष्ट हो जाता है कि वामन की 'विशिष्ट पद रचना' ही हर शताब्दी में नित नूतन परिधान और संज्ञा से विभूषित हो जीवित रही। यह अवश्य है कि उसके महत्व के स्वरों में विभिन्न आरोहों की श्रुतिगम्यता स्पष्ट है। एक समय था जब वह काव्यात्मा के स्थान पर स्थापित थी पर कालचक्र के साथ आत्म पद से च्युत् होकर वह मात्र अंग संस्थान ही रह गई तथा जिस प्रकार अंग संस्थान आत्मा का उपकार करता है उसी प्रकार संघटना रस की उपकर्त्री बन गई। काव्य मूलतः पद संघटना ही है। चित्र में जो स्थान रेखाओं का होता है काव्य में वही स्थान संघटना का है। वह काव्य की आधार भूमि है, काव्य उसमें ही निहित है।

संघटना—भेदक तत्व :

आनन्दवर्धन ने

'असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ समासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥५॥ ध्वन्या०

कहकर समास को ही संघटना के भेदक तत्व के रूप में स्थापित किया। आनन्दवर्धन से पूर्ण रीति का भेदक तत्व गुण था परन्तु आनन्द वर्धन ने उसे काव्य की शारीरिकता से मुक्त कर आत्मा से उसका सम्बन्ध स्थापित किया और काव्य

१—साहित्यमनयोः शोभाशालितांप्रति काप्यासौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति।
—कुन्तक।

शरीर रूप संघटना का भेदक समास को ही निरूपित किया। ये संघटनाये माधुर्यादि गुणों का आश्रय लेकर रसादिकों अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय भावशान्ति भाव शबलता को व्यक्त करती हैं।

इसी सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने गुण और संघटना के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा की है। इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए तीन पक्ष उपस्थित किये हैं।

गुण और संघटना :

इस विवेचन के प्रसंग में उल्लिखित तीन मत इस प्रकार हैं —

(१) गुण और संघटना एक है।

(२) गुण संघटनाश्रय है।

(३) संघटना गुणाश्रयी है।

यदि गुण और संघटना के ऐक्य पक्ष को स्वीकार करें तो गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ति ,कारिका की व्याख्या होगी आत्मभूत गुणों का आश्रय लेकर स्थित होने वाली संघटना रसादिकों को अभिव्यक्त करती है। 'यदि गुण संघटनाश्रय है इस पक्ष को महत्व दिया जाय तो इस कारिका का अर्थ होगा' संघटना ऐसे गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है जो संघटना के आधेयभूत हैं। 'जैसा कि भट्टोदभट का विचार है कि गुण संघटना के धर्म होते हैं। यदि संघटना गुणाश्रयी है इस पर विचार करें तो इस कारिका का अर्थ होगा—'गुणों का आश्रय लेकर स्थित होने वाली संघटना अर्थात् गुणमुखोपक्षिणी संघटना रसादिकों की अभिव्यक्ति करती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि संघटना और गुण एक ही है तो 'गुणानाश्रित्य' पद प्रयोग का औचित्य क्या है ? अभिनवगुप्त ने इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए कभी-कभी भेद कल्पना कर ली जाती हैं और उस निरूपित भेद में यह निर्विष्ट कर दिया जाता है कि अमुख वस्तु अमुख के आश्रित है। उदाहरणार्थ शिंशपा ओर वृक्षत्व में अभेद में अभेद होते हुए भी कह दिया जाता है कि वृक्षत्व शिंशपा में रहता है।[२]

गुण संघटनाश्रय हैं यह पक्ष मानने पर प्रश्न उठता है कि 'गुणानाश्रित्य' पद का वैशिष्टय क्या है क्योंकि जैसा भट्टोद्भट्ट आदि ने लिखा ही हैं कि संघटनाया

१–गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्································।६।। ध्वन्या०

२–स्वभावस्य कल्पनया प्रतिपादनार्थ प्रदर्शित भेदस्य स्वाश्रयवाचोयुक्तिर्दृश्यते शिंशपाश्रयं वृक्षत्वमिति। - लोचन, पृ० ७२।

धर्मागुणा इति संघटनाश्रित गुण होते हैं और धर्म धर्मी के आश्रित होता ही है[२] फिर नवीनता क्या है ?

यदि संघटना गुणाश्रयी हैं इसका विवेचन करें तो प्रश्न होता है कि यह आश्रयत्व किस प्रकार का है। आधार आधेय भाव सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि गुणों में संघटना नहीं रहती। अभिनवगुप्त ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहाँ आश्रय का प्रयोग वैसा ही है जैसे राजाश्रय प्रकृति वर्ग का प्रयोग होता है। अर्थात् जिस प्रकार आमात्यादि प्रकृति वर्ग राजा के मुखापेक्षी होते हैं उसी प्रकार संघटना भी गुणमुख प्रेक्षिणी होती है।

अब यदि गुण और संघटना की आत्म भूतल मानी जाय तो इनका योगक्षेम एक ही होगा अर्थात् जो सामर्थ्य संघटना की होगी वही गुणों की भी होगी। यदि कहें कि गुण संघटनाश्रय हैं तो गुणों को धर्म तथा संघटना को धर्मी मानना होगा और इस स्थिति में भी जो वैशिष्ट्य संघटना में होगा वह गुणों में भी प्रसक्त हो जायेगा। यदि संघटना को गुण परतन्त्र मान लें तो संघटना में विषय नियम मानना होगा क्योंकि गुणों का विषय नियम व्यवस्थित है पर लोक में तो इसका अपवाद मिलता है।

अतः चाहे गुण और संघटना को आत्मभूत माने या आधेयभूत अथवा गुणपरतन्त्र इन सभी स्थितियों में समस्या यह है कि या तो गुणों को अनियत विषय माने या संघटना को नियत विषय। वस्तुस्थिति यह है कि संघटना का विषय अनियत है और गुणों का नियत क्योंकि माधुर्य ओज की अभिव्यक्ति में असमर्थ है तो ओज माधुर्य की अभिव्यंजना में असफल। परन्तु संघटना के विषय में ऐसा नहीं है असमासा, मध्यम समासा तथा दीर्घ समासा दोनों ही प्रकार की संघटना कोमल और कठोर दोनों प्रकार के रसों की अभिव्यक्त करती है। अभिनव का कथन है कि इस तथ्य को तर्क के बल पर भले ही सिद्ध तो किया जा सके किन्तु अनेक लक्ष्यों पर विचार करने से न्याय बल से यह स्वतः सिद्ध है। उदाहरण के लिए शृङ्गार रस में न्याय से

१–लोचन अभिनवगुप्त, पृ० ७२१।

२–धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः। लोचन, पृ० ७२१।

३–तेन राजाश्रयप्रकृतिवर्ग इत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतयः इत्ययमर्थः, एवं गुणेषु परतन्त्र स्वभावात तदायत्तान्मुखप्रेक्षिणीसंघटने त्ययमर्थो लभ्यत् इति भावः। - लोचन, पृ० ७२१।

४–न त्वेवमुपपद्यते आपद्यन्ते तु न्यायबलादित्यर्थः।—लोचन पृ० ७२३।

अस ासा या मध्यसमासा संघटना होनी चाहिए परन्तु लक्ष्यों में दीर्घसमासपरक शृङ्गाराभिव्यंजक श्लोकों का अभाव नहीं है । यथा —

मन्दारकुसुमरेणुपिन्जरितालका अथवा
अनवरतनयनजलनिपतनररिभुषितपत्रलेखं ते ।
करतलनिष्णामबले वदनमिदं कं न तापयति ।।

इसी प्रकार रौद्रादि रसों में भी दीर्घ समास के स्थान पर असमासा संघटना देखी जाती है उदाहरणार्थ योयः शस्त्र विभर्ति स्वभुज गुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम् । इत्यादि अतः गुण न संघटना स्वरूप है न संघटनाश्रय ।

वास्तविकता तो यह है कि गुण रसात्रयी हैं। संघटना से उनका तादात्म्य ही क्या ? उपचार वश इनकी शब्द धर्मिता मानी जा सकती है जैसे शौर्य आत्मा का धर्म होते हुए भी शरीराश्रित्य कह दिया जाता है ।[1]

परन्तु पूर्वपक्षी प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं कि संघटित शब्द ही वाचक होकर व्यंग्य रस की अभिव्यक्ति में निमित्त होते हैं और वे ही गुणों का आश्रय औपचारिक रूप में ही सही माने जाते हैं। असंघटित शब्द न वाचक होते हैं न व्यंजक अतः गुण शब्द धर्म होते हैं। तात्पर्य यह है कि गुण या संघटना या तो एक ही वस्तु है या गुण संघटनाश्रित रहते हैं। इसका समाधान करते हैं कि – 'प्रथमतः गुणों का आश्रय रस है पर औपचारिक रूप से उसे शब्दाश्रित भी माना जा सकता है साथ ही गुणों का आश्रय बनने के लिए इस बात की आवश्यकता नहीं कि शब्द संघटित ही हो वर्ण और पद के समान असंघटित पद भी रसाभिव्यक्ति में हेतु हो सकते हैं और वे ही माधुर्य इत्यादि गुणों के नाम से पुकारे जा सकते हैं अतः वामन का यह मत ठीक नहीं कि संघटना और गुण एक ही है इसी प्रकार भट्टोद्भट्ट का यह मत भी ठीक नहीं कि गुण संघटना पर आधारित है । पूर्वपक्षी पुनः कहते हैं कि पदव्यंग्य में न सहीं वाक्य से व्यक्त होने वाली रस ध्वनि में संघटना अनिवार्य है क्योंकि सघटना के अभाव में वाक्य में सौन्दर्य किस प्रकार हो सकता है ? सिद्धान्तपक्षी उत्तर देते हैं कि रस ध्वनि की अभिव्यक्ति वाक्योश्रयी मानने पर भी कोई निश्चित संघटना रसादिकों का आश्रय नहीं बनतीं क्योंकि असंघटित वर्ण एवं पद से व्यक्त होने वाले रस इत्यादि में माधुर्यादि देता जाता है। अतः वाक्य के द्वारा व्यक्त होने वाले रस इत्यादि में किसी भी प्रकार से संघटित वह वाक्य उस रस को अभिव्यक्त करता ही है । अतः मानना ही पड़ेगा कि सन्निहित भी संघटना रसाभिव्यक्त में प्रयोजिका नही होती ।[2]

१-शब्दधर्मत्वं चेषामन्याश्रयत्वे पि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम् ।

२-संघटना सन्निहितापि रसव्यक्तावप्रयोजिकेति ।— लोचन पृ० ७३३ ।

सारांश यह है कि गुण अन्य है संघटना अन्य ।[1] जहाँ तक संघटना के अनियत विषयता का प्रश्न है तो तथ्य तो यह ही प्रतीत होता है कि गुणों के समान उसका विषय भी नियत है। लक्ष्य में यदि व्यभिचार दृष्टिगत हो तो उसे निरूपता ही समझनी चाहिए। समस्या यह है कि यदि विरूपता है तो अचारुता भी होनी चाहिए परन्तु देखा यह जाता है कि विरूपता होने पर भी अचारुता की प्रतीति नहीं होती जैसे 'यो यः शस्त्रम् विभर्ति' इत्यादि में आनन्दवर्धन इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वहाँ दोष कवि शक्ति से तिरोहित हो जाता है अतः अचारुता का आभास नहीं होता।

वस्तुतः गुण एवं संघटना एक हो या गुणाश्रयी संघटना हो अथवा संघटनाश्रय गुण तीनों पक्षों में कोई विप्लव नहीं क्योंकि औचित्य ही वह तत्व है जो गुण रस संघटना सब का ही नियमन करता है। औचित्य के अभाव में न गुण, गुण रह सकते हैं न संघटना संघटना ।[2] अतः आनन्दवर्धन के शब्दों में संघटना के गुण से व्यतिरिक्त होने पर अथवा गुण रूप होने पर नियम का कोई और हेतु कहा जाना चाहिए।[3]

संघटना के नियामक तत्व :

संघटना के नियामक तत्वों पर विचार करने के साथ ही जो तत्व उपस्थित होता है वह है समास। संघटना के लिए समास कुछ है तो वह मात्र भेदक है क्योंकि समास के आधार पर संघटना की उपयोगिता का निरूपण सम्भव नहीं है वह नियामक नहीं मात्र भेदक है। साथ ही क्योंकि पद रचना का कोई रूप समस्त अथवा असमस्त पद गाढ़ अथवा स्फुट बन्ध अपने आप में न काव्य का अपकर्षक है न उत्कर्षक विषय और भाव के अनुसार ये दोनों ही गुण हो सकते हैं और दोनों ही दोष। इसीलिये आनन्दवर्धन संघंटना का नियामक (१) वक्ता, (२) वाच्य, (३) विषय और अन्ततः रस को मानते हैं।

१--तस्मादन्ये गुणा अन्या च संघटना। न च संघटाश्रिता गुणा इत्येकं दर्शनम्।
— ध्वन्यालोक वृत्ति, पृ० ७३३।

२--यदि गुणाः संघटनेकरूपास्तथापि गुण नियम एव संघटना नियमः गुणाधीन-संघटना पक्षेऽप्येवम्। संघटनाश्रयगुणापक्षोऽपि संघटनाया नियामकत्वेन यद्वक्तृत्वाच्यौचित्यं हेतुत्वं नोक्तम् तद्गुणानामपि नियमहेतुरिति पक्ष त्रयेऽपिनकश्चिद्विप्लव इति तात्पर्यम्।

—लोचन अभिनव, पृ० ७१३।

३--तस्माद् गुणव्यतिरिक्तवे च संघटनाया अन्यः कश्चिन्नियम हेतुर्वक्तव्य इति।
—ध्वन्यालोक वृत्ति, पृ० ७४१।

आनन्दवर्धन ने अपनी व्याख्या में संघटना के नियामक तत्वों के निरूपण के अवसर पर सर्वप्रथम वक्ता और वाच्य के औचित्य का विवेचन किया है।[1]

वक्ता :

वक्ता काव्य मार्ग का अनिवार्य सोपान है। यह दो हो सकते हैं – (१) या तो स्वयं कवि अथवा (२) कविनिबद्ध पात्र। कवि निबद्ध पात्र भी दो प्रकार के हो सकते हैं (१) सरस या (२) नीरस। नीरस होने पर तो संघटना कुछ भी हो सकती है परन्तु पात्र के रस भाव समन्वित होने पर वह रस दो प्रकार से स्थित रहता है — (१) कथानायकाश्रित (२) उपनायकाश्रित। कथानायक चार प्रकार का होता है — (१) धीरोदात्त (२) धीरोद्धत (३) धीर ललित (४) धीर प्रशान्त उपनायक के भी दो भेद होते हैं। (१) कथानायक के अनुकूल या कथानयक के प्रतिकूल। अनुकूल उपनायक अनुनायक कहलाता है और प्रतिकूल नायक प्रतिनायक कहलाता है। इस प्रकार वक्ता के इतने भेद हो सकतें हैं।

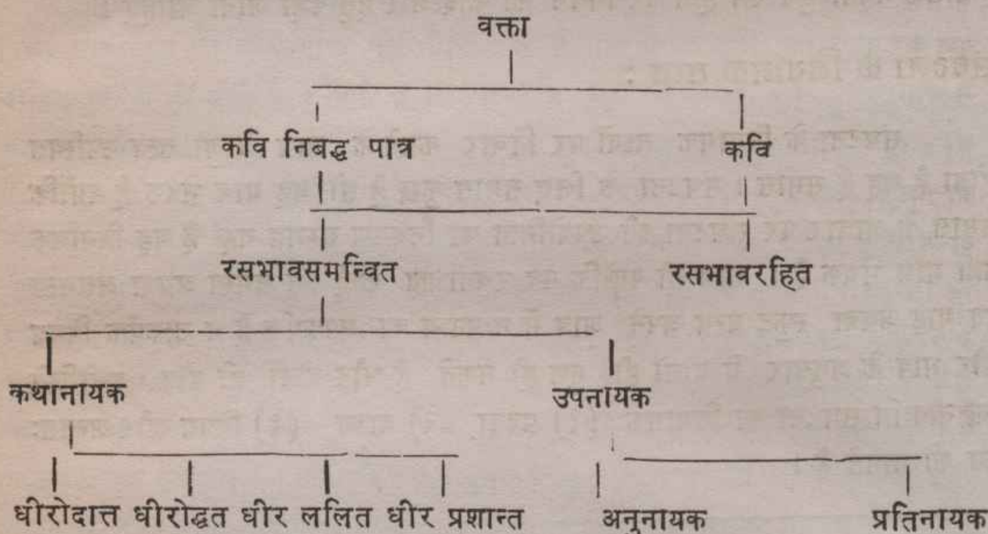

वाच्य :

वक्ता के समान ही वाच्य भी विविध विध हो सकता है। वह कहीं रसयुक्त होता है तो कहीं रसाभास युक्त, कहीं अभिनेय होता है, कहीं अनभिनेय कहीं वाच्य उत्तम प्रकृत्याश्रित होता है, कहीं मध्यम प्रकृत्याश्रित तो कहीं अधम प्रकृत्याश्रित अतः स्पष्ट ही है कि वाच्य भी विविधता युक्त होता है।

इनमें से वक्ता या वाच्य यदि रसहीन हो तो रचना में स्वेच्छाचारिता हो सकती है। पर कवि या कविनिबद्ध पात्र नियम से रस भाव युक्त हो साथ ही रस, प्रधान होने के कारण ध्वन्यात्मभूत ही हो, रचना असमासा या मध्यसमासा ही होनी

१–तन्नियमेहेतुरौचित्यंवक्तृवाच्ययोः।६। ध्वन्यालोक, पृ० ७४१।

चाहिए अन्यथा दीर्घ समास भी हो सकता है।[1] किन्तु दीर्घ समासा संघटना रस प्रतीति में व्यवधान उपस्थित कर देती है अतः दीर्घ समास में अत्यन्त आग्रह शोभित नहीं होता विशेषतः अभिधेयार्थ काव्य में। श्रव्य काव्य में भी विशेषतः करुण और शृङ्गार में संघटना समास रहित ही होनी चाहिए क्योंकि ये दोनों रस अन्य रसों की अपेक्षा अधिक सुकुमार होते हैं अतः इनमें यदि स्वल्प भी अस्वच्छता आती है तो शब्दार्थं की प्रतीति मन्द पड़ जाती हैं। अतः रसास्वाद विघ्नित होता है।[2]

परन्तु यदि रौद्रादि रसों का प्रतिपादन करना हो तो मध्यसमासा संघटना भी गुणहीन नहीं होती और यदि उन रौद्रादि रसों में धीरोद्धत नायक से सम्बद्ध व्यापार का आश्रय लिया जाय तो दीर्घ समास संघटना भी बुरी नहीं होती। साथ ही वाच्यार्थ को यदि दीर्घ समास घटित संघटना की अपेक्षा हो तो भी दीर्घ समास प्रयोग दूषित नहीं होता क्योंकि वहाँ दीर्घ समास रसाभिव्यक्ति का साधक होता है बाधक नहीं। औचित्य तो प्रसाद गुण का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए यदि प्रसाद गुण का परित्याग किया जायगा तो असमासा होने पर भी संघटना करुण रसाभिव्यक्ति में असमर्थ होगी पर यदि प्रसाद का परित्याग न किया जाय तो मध्यम समास संघटना भी करुण की अभिव्यक्ति कर सकती है। प्रसाद का अर्थ है सर्वस्व समर्पकत्व। आचार्य अभिनव का मत है कि संघटना जो भी कोई हो वह ऐसी होनी चाहिए जिससे वाच्य में प्रतीति शीघ्रतापूर्वक हो सके।[3]

अतः उपरोक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि वक्ता और वाच्य सम्मिलित रूप से संघटना का नियंत्रण करते हैं। संघटना का नियमन करने वाला तीसरा तत्व है विषय।

१-नियमेन रसभावसमन्वितोवक्ता न तु कथञ्चिदापि तटस्थः। रसश्च ध्वन्यात्मभूत एव न तु रसवदलंकारप्रायः। तदासमासमध्यसमासे एव संघटने, अन्यथा तु दीर्घ समासापीत्येवं योज्यम्।—लोचन, पृ० ७४७।

२-एवं च दीर्घ समासा संघटना समासानामनेकप्रकार सम्भावनया कदचिदस प्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यनूमभिनिवेशः शोभते विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये। ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुण विप्रलम्भशृङ्गारयोः। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात्स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरी भवति।

—ध्वन्यालोक वृत्ति' पृ० ७४६।

३-या काचित्संघटना सा तथा कर्तव्या यथा वाच्ये झटिति भवति प्रतीतिरितियावत्।—लोचन – अभिनवगुप्त, पृ० ७८२।

विषय :

इसका अर्थ है संघात या समूह। प्रस्तुत सन्दर्भ में विषय का तात्पर्य काव्य भेदों से है। काव्य भेदों के आधार पर भी संघटना में वैभिन्नय आता है। जहाँ तक पथ काव्य भेदों का सम्बन्ध है सन्दानितक, विशेषक, कलापक और कुलक में विकट बन्ध की अपेक्षा रहती है अतः मध्यम समास अथवा दीर्घ समास दोनों प्रकार की संघटनायें हो सकती हैं, परन्तु जहाँ ये सन्दानितक आदि प्रबन्ध में आते हैं वहाँ ये स्वयं में प्रधान नहीं रहते। अन्तः संघटना की संरचना प्रबन्धाश्रित होती है। पर्यायबन्ध की रचना असमासा या मध्यम समासा होनी चाहिए परन्तु अर्थौचित्य के आधार पर परुषा एवं ग्राम्या वृत्तियों का परित्याग कर दीर्घ समास का प्रयोग भी किया जा सकता है। परि-कथा की संघटना स्वेच्छाधारित है क्योंकि परिकथा इतिवृत्त प्रधान होती है अतः रसा-नुकूल वस्तु संचयन का महत्व नहीं होता। खण्ड कथा और सकल कथा प्राकृत भाषा में होती है इसमें समास संघटना का प्रयोग हो सकता है। इनमें यदि वर्णगत मृदुता एवं कठोरता का सन्निवेशन करना हो तो वह रस की प्रकृति को देखकर उसके अनुरूप करना चाहिए। सर्गबन्ध में संघटना रसानुकूल होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त गद्य-काव्य के अन्तर्गत दो भेद किये गये है (१) आख्यादिका और (२) कथा। इनमें आख्यायिका की संघटना मध्यम समास या दीर्घ समास होती है क्योंकि गद्य का सौन्दर्य उसके गठन में है और गठन अथवा निबद्धता समास के अभाव में सम्भव नहीं है। कथा में विकट बन्ध अवश्य रहता है और प्रचुरता से रहता है परन्तु उसमें संघटना का चयन रस पर्यवसायी होना चाहिए। अभिनेय काव्य में सब प्रकार से रस बन्ध में ही आग्रह रखना चाहिए।

इस प्रकार वक्ता वाच्य और विषय द्वारा संघटना का नियमन होता है। पर ये नियामक तत्व वैकल्पिक हैं क्योंकि संघटना रस पर्यवसायिन हैं अतः इसका मुख्य नियामक तो रस औचित्य ही है। गद्य हो अथवा पद्य दोनों में संघटना का चयन एकमात्र रसानुरूप ही होता है। हाँ विषय का भेद इसमें थोड़ा अन्तर अवश्य ला देता है उदाहरणार्थ यदि गद्य में करुण रस अथवा विप्रलम्भ श्रृङ्गार हो तो आख्यायिका में भी दीर्घ समास संघटना उतनी दीर्घ नहीं होगी जितनी अपेक्षा कृत हुआ करती है। इसी प्रकार अभिनेय काव्य में समास का प्रयोग सामान्यतः नहीं होता परन्तु वीर रस या रौद्र के प्रसंग में समास प्रयोग किया जा सकता है। अतः उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस ही संघटना का मुख्यतः नियमन करता है। वक्ता वाच्य और विषय रस के अभाव में ही संघटना का नियमन करते हैं।

संघटना और रीति :

संघटना की सम्यक विवेचना के उपरान्त समस्या है काव्य जगत में संघटना

से पूर्व प्रचलित रीति की। अब प्रश्न उठता है रीति और संघटना के पारस्परिक सम्बन्धों का रीति एवं संघटना परस्पर पर्याय हैं या पूरक अथवा प्रतिकृति।

रीति शब्द के आदि प्रयोक्ता आचार्य वामन हैं एवं संघटना शब्द के प्रयोग-कर्त्ता आचार्य आनन्दवर्धन हैं। आचार्य वामन ने रीति शब्द की विवेचना करते हुए विशिष्ट पद रचना को रीति का स्वरूप उद्घोषित किया है। आनन्दवर्धन की संघटना—सम्यक घटना - सुचारु रचना, वामन की विशिष्ट पदरचना का ही प्रतिरूप प्रतीत होती है। विवेचना से यह भी स्पष्ट है कि रीति का सारा प्रपन्च, रीति को रूपायित करने वाले संयोजक तत्व, संघटना की अन्तश्चेतना में समाहित है। आनन्द-बर्धन और वामन की संघटना और रीति का उपरोक्त विवेचन काव्य कलेवर से सम्बन्धित है। कलेवर से भिन्न आत्मा के रूप में वामन रीति की स्थापना करते हैं। और आनन्दवर्धन रस ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित कर रीति को उसमें ही अन्तर्मुक्त कर देते हैं।

वस्तुतः सत्य तो यह है कि रीति सिद्धान्तवादी इस ध्वनि रूप आत्मा तत्व से अनभिज्ञ नहीं थे परन्तु अनुभूति होते हुए भी वे इसकी अभिव्यक्ति में असमर्थ रहे। फलतः साध्य को ही सिद्धि मान, आत्मा को भूल दैहिकता में ही भटक गये और इसके आधार पर ही समीक्षा और सिद्धान्तों का निरूपण कर डाला। आनन्दवर्धन का कथन हैं कि जिन व्यक्तियों में यह काव्य तत्व पूर्णतः स्फुरित नहीं हुआ था उनके द्वारा वेदर्भी गौड़ी पान्चालीं रीतियां प्रवृत्त की गई। अतः जब ध्वनि सिद्धान्त से प्रपन्च निर्णीत कर दिया गया है तब इस रीति के पृथक विवेचन की आवश्यकता नहीं रह जाती। आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी टीका लोचन में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'ध्वनि ही काव्यतत्व हैं' इससे अनभिज्ञ व्यक्तियों ने ही रीति सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है। रीतियां गुण पर्यवसायिनी होती हैं और गुण रसपर्यवसायी।[2]

१--एतद् ध्वनि प्रवर्तनेन निर्णीत काव्यतत्वमस्फुटस्फुटितं सदशक्तुवद्भिः प्रति-पादयितं वेदर्भी गोडी पान्चाली च रीतयः प्रवर्तिता। रीति लक्षण विधायिना ही काव्यतत्वमेतद् स्फुटतया मनाक् स्फुटितमासादिति लक्ष्यते। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येनरीति लक्षणेन न किन्चित्।

—ध्वन्यालोक वृत्ति पृ० १२९१।

२–यः प्रयत्नतोविवेच्यः अस्माभिः श्चोक्त लक्षणो ध्वनिरेतदेव काव्य तत्वं…… …………रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता। यदाह विशेषो गुणात्मा गुणश्च रस पर्यवसायिन एवेति ह्युक्तं प्राग्गुणनिरूपणो---शृंगार एव मधुर इत्यत्रेति।

—ध्वन्यालोचन पृ० १२९२।

अतः स्पष्ट ही है कि रीतियों की काव्य के मूल तत्व के रूप में यह कल्पना सर्वथा अपूर्ण है क्योंकि अनुसन्धान से सिद्ध ही है कि रीतियों का मूल आधार रस ही है। कोमल बन्ध से शृंगाररस "कठोर बन्ध से रौद्र रस' इत्यादि कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शृङ्गार आदि वाच्य नहीं होते अपितु बन्ध के आधार पर उनकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार यदि रीतियों का सुचारु सन्धान किया जाय तो उनका पर्यवसान रस—ध्वनि सिद्धान्त में ही होता है अतः ध्वनि सिद्धान्त की सम्पूर्ण समीक्षा के उपरान्त रीतियों का विवेचन कोई अर्थ नहीं रखता। आत्मा के रूप में तो रीति को प्रतिष्ठित किया ही नहीं जा सकता और जहाँ तक काव्य कलेवर से सम्बद्ध रीति का सम्बन्ध है वह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वह संघटना में ही अन्तर्मुक्त है।

संघटना और वृत्ति :

रीति के उपरान्त विशेष विचारणीय तत्व है वृत्ति। वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति वृत्त धातु से संज्ञा में क्तिन् प्रत्यय करने से हुई है। इसका अर्थ है वर्तन या व्यवहार। आनन्दवर्धन के शब्दों में 'व्यवहारी हि वृत्तिरित्युच्यते'[1] सार यह है कि अर्थ और शब्द का रसानुगुण व्यापार जो औचित्य युक्त हो वृत्ति कहलाता है। काव्यपक्ष में यह वर्तन या व्यवहार दो प्रकार का हो सकता है। (१) अर्थ का व्यवहार (२) शब्द का व्यवहार। यदि अर्थ का व्यवहार रसयुक्त एवं औचित्य पूर्ण हो तो उसे केशिकी इत्यादि नाट्य वृत्तियों में अन्तर्मुक्त कर दिया जाता है और यदि शब्द व्यवहार रसानुगुण औचित्यवान् हो तो उसे अलंकारिकों की उपनागरिका आदि वृत्तियों में सन्निविष्ट कर दिया जाता है।

वृत्ति का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य भरत ने ही प्रस्तुत किया। उनके अनुसार वृत्तियाँ चार हैं – सात्वती कैशिकी आरभटी और भारती। सात्वती का प्रयोग सात्विकाभिनय में होता है। कैशिको वृत्ति कोमल वर्णनों के प्रसंग में प्रयुक्त होती है और आरभटी कठोर वर्णन प्रसंग में। भारती वृत्ति का अभिप्राय समस्त वाचिक अभिनय से है अतः समस्त श्रव्य काव्य भारती वृत्ति में ही अन्तर्मुक्त है। यह भारती वृत्ति कैशिकी एवं आरभटी से संयुक्त हो क्रमशः वैदर्भी और गौड़ी रीति की उत्पादिका बन जाती है।

इसके अतिरिक्त वृत्तियों को परिप्रेक्ष्य में दूसरी मान्यता अलंकार-वादियों की है। इनके अनुसार अनुप्रास जाति को ही वृत्ति कहते हैं। अनुप्रास तीन प्रकार का होता है अतः इसी आधार पर उप नागरिका परुषा कोमला वृत्तियों का सृजन किया गया है।

१–ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, पृ० ६६२।

इस प्रकार आनन्दवर्धन से पूर्व साहित्य जगत में दो प्रकार की वृत्तियाँ प्रचलित थीं (१) भरत की नाट्य वृत्तियाँ (आरभटी, सात्वती, केशिकी भारती) (२) उद्भटादि की काव्य वृत्तियाँ (उपनागरिका, परुषा, कोमला) इनके साथ ही वैदर्भी इत्यादि रीतियाँ भी प्रचलित थीं। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इन काव्य रीतियों को रसोचित शब्द व्यवहार कह कर वृत्तियों से इनके अद्वैत की स्थापना की तथा प्रचलित दोनों प्रकार की वृत्तियों का समन्वय कर वृत्ति के दो भेदों की कल्पना की उन्होंने नाट्यवृत्तियों को अर्थ वृत्ति कहा और काव्य वृत्तियों को शब्द वृत्ति। इस मान्यता का आधार भरत का विवेचन है क्योंकि भरत ने वृत्तियो में समस्त अनुभावों और चेष्टाओं को समाविष्ट किया है। ये अनुभाव तथा चेष्टायें अर्थ सम्बद्ध ही होती है अतः आनन्दवर्धन की यह मान्यता की नाट्य वृत्तियाँ वस्तुतः अथ वृत्तियाँ हैं न्यायोचित है। काव्य वृत्तियों का व्यवहार अधिकांश वृत्यानुप्रास के प्रसंग में किया जाता है जिसमें कोमल कठोर वर्णों के आधार पर वृत्तियों का निरूपण किया जाता अतः स्पष्टतः ये शब्द वृत्तियाँ हैं।

ये दोनों ही वृत्तियाँ रस प्रवण होती हैं इसमें स्वयं भरत मुनि प्रमाण हैं उन्होंने लिखा है 'वृत्तियों की माता काव्य ही है।[१] निष्कर्ष यह है कि वृत्ति उस विशेष प्रकार की चेष्टा को कहते हैं जिसका सन्निवेशन रस के औचित्य को ध्यान में रखकर किया गया हो और इस रस के बिन्दु पर रीति वृत्ति एवं संघटना में कोई भेद नहीं है क्योंकि तीनों ही रस पर्यवसायी हैं। अतः कहा जा सकता है कि वैदर्भी रीति — केशिकी अर्थवृत्ति--उपनागरिका शब्द वृत्ति = असमासा संघटना माधुर्य के कारण शृंगार रस के अनुकूल होती है। इसी प्रकार पान्चाली रीति = सात्वती अर्थवृत्ति = कोमला शब्द वृत्ति = मध्यमसमास संघटना प्रसाद के कारण हास्यादि रसों के अनुकूल होती है तथा गौड़ी रीति = आरभटी अर्थवृत्ति = परुषा शब्द वृत्ति = दीर्घ समास संघटना ओज की प्रधानता के कारण रौद्रादि रसों के अनुकूल होती है। इससे स्पष्ट है इन सबकी स्वरूप स्थिति रस के कारण ही होती है।

अभिनव का भी मत है कि दोनों प्रकार की वृत्तियों के जीवन रस इत्यादि होते हैं क्योंकि दोनों प्रकार के इन सभी वृत्ति व्यवहार के विषय रस से नियन्त्रित होते हैं।[२]

१—वृत्तयः काव्यामातृकाः इतियदुक्तंमुनिनातत्ररसोचितएव चेष्टा विशेषोवृत्ति।
— लोचन पृ० १२९६।

२—एवं रसादयः केशिक्यादीनामितिवृत्तमात्ररूपाणां वृत्तीनाजीवित मुपनागरिकाद्यानान्चसर्वस्यास्योभयस्यापि वृत्तिव्यवहारस्य रसादिनियत्रित विषयत्वादिति यत्प्रस्तुतं तत्प्रसंगेन रसादीना वाच्य व्यतिरिक्तत्वं समर्थयितुं क्रमो विचारित इति।
—लोचन पृ० १०२२ तृ० उद्योत।

अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कहा है परुषा वृत्ति शृङ्गार की विरोधिनी होती है।[1] अतः रीति के समान वृत्ति भी रस-ध्वनि सिद्धान्त को पुष्ट करती हुई संघटना में ही अन्तर्मुक्त प्रतीत होती है।

अभिनवगुप्त और संघटना :

संघटना के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन से अभिनव का अभिन्वत्व विशेषतः इस बात में है कि वे संघटना को प्रथमतः दो रूपों में विभक्त करते है –

(१) पदगत संघटना।

(२) वाक्यगत संघटना।

जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है कि संघटना रसाभिव्यक्ति का साधान है। जब कोई विशिष्ट पद रस चमत्कार विधायक बन जाये तब रस की चमत्कृति का श्रेय उस पद विशेष की संघटना को ही दिया जाता है। उदाहरणार्थ—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥

इस श्लोक में 'ते' पद की संघटना पर ही सम्पूर्ण श्लोक का चमत्कार आश्रित है। यदि यहाँ ते शब्द को परिवर्तित कर दिया जाय तो वह चमत्कार नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार वाक्यगत संघटना का उदाहरण—

कृतककुपितेर्वाष्पाम्भोभिसदैय विलोकिते-
वर्नमपि गतायस्य प्रत्या धृतापितथाम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन्दिशो भवती विना
कठिन हृदयों जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः॥

को ले सकते हैं क्योंकि यहाँ कोई पद विशेष रस चमत्कार नहीं है वरन् समस्त पदों की सम्यक् योजना से ही रसाभिव्यक्ति होती है। अभिनव के अनुसार पद समुदाय ही तो वाक्य है।[2] अतः इसे वाक्यगत संघटना का उदाहरण माना जा सकता है।

अभिनव के अनुसार संघटना का तात्पर्य रचना से ही है। यह संघटना रस की सहकारी है। अभिनव का कथन है कि समुचित संघटना अर्थ की अपेक्षा किये बिना ही केवल श्रोत्र ग्राह्य होकर ही अपद्गीत ध्वनिवत् मृदुता या परुषता का सृजन कर

१–संघटना पदगता वाक्यगता च। —लोचन पृ० ६९६ तृ०उ०।

२–कर्ण समुदायश्च पदम्। तत्समुदायो वाक्यम्। —लोचन तृ०उ०, पृ० ६९६।

रसास्वाद कराती है।[1] संघटनायें वाच्य प्रतीति काल की अपेक्षा किये बिना शीघ्र ही रस इत्यादि को भावित कर देती है।[2] अर्थात् आस्वाद का विधान कर देती हैं। इसे ही स्पष्ट करते हुए वे एक स्थल पर कहते है संघटना के अभाव में अलक्ष्यक्रम व्यंग्य दीप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः रस ध्वनि संघटना द्वारा परिपुष्ट होती है और बाद में वाच्यार्थ द्वारा उसकी पूर्ति होती है।

अभिनव का मत है कि रस संघटना द्वारा व्यंजित होता है अर्थ ज्ञान के अभाव में भी अभ्यस्त संघटना के श्रवण मात्र से ही रसास्वाद कुछ स्फुरित हो जाता है और यही कारण हैं कि अर्थ ज्ञात से परिपुष्ट होने वाले उस आस्वाद में उत्तरकालिक प्रतीति का बोध नहीं होता।[3]

लोचन के अध्ययन से एक तथ्य यह भी स्पष्ट होता है कि वे संघटना को नियत विषय मानते हैं और उसकी नियतता का आधार गुण को मानते हैं। उनका कहना है कि संघटनाओं का फल रसादि की प्रतीति ही होता है और वे संघटनायें अनन्यसाध्य होती हैं अर्थात् उन घटनाओं का साध्य उनका अपना निश्चित साध्य ही होता है। उदाहरणार्थ ओज घटना के लिए रौद्र रस साध्य रूप में निश्चित है अतः उसका साध्य करुण रस कभी नहीं हो सकता।[4] इस प्रकार संघटना के क्षेत्र में अभिनवगुप्त का मौलिक अभिनवत्व इसमें ही निहित है।

१–यद्यपि विभावानुभाव व्यभिचारि प्रतीति सम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम् तथापि विशिष्ट श्रुतिकशब्दसामर्थ्यमाणास्ते विभावादयस्तथा भवन्ति इति स्वयंवित्सिद्धमदः। तेन वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्षयपि श्रोत्रिकग्राह्यो मृदु परुषात्मा स्वभावौ रसास्वादे सहकारी एव।

– लोचन तृ०उ०' पृ० ७००।

२–यतोगुणवति काव्ये संकीर्णविषयतया संघटना प्रयुक्ता ततः क्रमो न लक्ष्यते ....'वाच्यप्रतीतिकालप्रतीक्षणेन विनैव झटिति एव ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वाद विदधतीत्यर्थः। —लोचन पृ० १०१२, तृ०उ०।

३–संघटनाव्यंग्यत्वाद्रसादीनामनुपयुक्तेऽप्यर्थविज्ञाने पूर्वमेवोचितसंघटना श्रवण एव यत आसूत्रितो रसास्वादस्तेन वाच्यप्रतीत्युत्तरकालभवेन परिस्फुटास्वादयुक्तोऽपि पाश्चादुत्पन्नत्वेन न भाति। अभ्यस्ते ही विषये बिनाभाव प्रतीति क्रम इत्थमैव न लक्ष्यते। — लोचन पृ० १०१३, तृ०उ०।

४–अनन्यसाध्यतत्फलघटनासुघटनाः पूर्व माधुर्यादि लक्षणाः प्रतिपादिता गुणनिरूपणावसरे ताश्चतत्फलाः रसादिप्रतीति फलं यासाम्। तथा अनन्यतदेव साध्यं यसाम्। नहवोजो घटनायाः करुणादि प्रतीतिः साध्या।

— लोचन तृ०उ०, पृ० १०१०।

उपरोक्त तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्वतः सिद्ध हो जाता है कि रस के बिन्दु पर आचार्य वामन की रीति हो या दण्डी का मार्ग या अभिनव और आनन्दवर्धन की संघटना सब में मूलभूत एकात्मकता है और इस एकात्मकता के आधार पर अभिनव की संघटना का स्वरूप प्रस्तुत करें तो कह सकते हैं कि रसपर्यवसायी काव्य घटक रीति, वृत्ति मार्ग, रचना वचन भंगि वक्रोक्ति सबको ही संघटना की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

काव्य दोष

गुण और दोष दो ऐसे तत्व हैं जिनके आविर्भाव और तिरोभाव की प्रार्थना सनातन है। गुणों में जहाँ उत्कर्षकत्व सन्निहित है वहीं दोष आकर्षकत्व के परिचायक हैं। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे का पूरक अथवा प्रेरक न होकर स्वतन्त्र है अन्तर इतना ही है कि एक वांछित है दूसरा अवांछित 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसी सत्य का पोषक है। इसमें सर्वं प्रथम 'तमस्' तत्व के अभाव की प्रार्थना है तदुपरान्त ज्योति के समागम की वांछना। वस्तुतः चन्द्र की दीप्ति एवं सुधा से आप्लावित होने के लिए दिवस के तिरोभाव की कामना स्वभाविक ही है। अतः स्पष्ट है कि दोष 'तपोगुण' की भाँति अस्तित्वमय होकर भी अभिप्रेत नहीं है। एक प्रकार से पूर्ण गुणात्व की स्थिति को प्राप्त करने में ये विशुद्ध चित्त के षडरिपु की भाँति ही हैं जिनसे मुक्त हुए बिना अन्तस्त परम चैतन्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं। काव्य जीवन की हो व्याख्या है अतः सत् और तम की भाँति वहाँ भी गुण और दोष विद्यमान हैं। एक स्पृहणीय है तो दूसरा गर्हणीय।

जहाँ तक काव्य दोषों के इतिहास का सम्बन्ध है वहाँ काव्यशास्त्र के विवेचक आचार्यों ने गुणों के आख्यान से पूर्व ही दोषों की विवेचना और उनके अग्राह्यत्व पर सम्यक् प्रकाश डाला है। यदि अग्नि पुराणकार की मान्यता से आरम्भ करें तो स्पष्ट हो जाता है कि रसानुभूति में उद्वेग बनकर बाधक होने वाला तत्वदोष है। रस प्रतीति में विलम्ब, अवरोध अथवा विघात ये तीनों ही स्थितियाँ सहृदय के हृदय में उद्वेग उत्पन्न करती हैं। वस्तुतः रस का अपघात ही दोष है क्योंकि अन्ततः चाहें शब्द-गत हो या अर्थगत काव्य की चरम परिणति रस में ही है। यही कारण है कि ध्वनि-वादी आचार्य रस दोषों को ही महत्व देते हैं।

काव्यदोष : स्वरूप-धारणा का विकास :

जहाँ तक काव्य दोष के सामान्य स्वरूप के विश्लेषण का प्रश्न है काव्यशास्त्रीय आचार्य भरत, भामह एवं दण्डी तीनों ने दोषलक्षण का निर्देश स्पष्टतः कहीं नहीं

१--'उद्वेग जनको दोष'……………। अग्निपुराण।

किया है। आचार्य भरत तो इतने पर ही विराम ले लेते हैं कि गुण दोष का विपर्यस्त है।[१] भरत मुनि प्रणीत यह दोष धारणा बहुत समय तक अस्तित्वमय रही जिसके परिणाम स्वरूप दोषाभाव को ही गुण समझा जाने लगा। दोष धारणा के इस प्रकाश की वर्तिका को अपनी प्रज्ञा से प्रोद्भासित करते हुए आचार्य भामह ने भी परम्परा का पालन किया। उन्होंने दुष्ट काव्य निर्माण को कुकवित्व कहा क्योंकि दुष्ट काव्य कुपुत्र की भाँति निन्दा का पात्र होता है। 'उनकी दृष्टि में काव्य रचना न करना कोई अपराध नहीं है परन्तु कुकवित्व को तो वे साक्षात् मृति ही कहते हैं।[२] भामह ने स्पष्ट घोषणा की कि सत्कवि इसका प्रयोग काव्य में नहीं करते 'कवयो न प्रयुक्ते' आचार्य दण्डी भी यद्यपि दोष लक्षण के निर्धारण से विमुख ही रहे हैं तथापि उन्होंने विशेष दोष वर्णन विस्तार पूर्वक किया है। सामान्य दोष स्वरूप के संदर्भ में आचार्य दण्डी की दो मान्यतायें विशेष उल्लेखनीय हैं —

(१) दोषा विपत्तये तत्र............

(२) इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः का येषु सुरिभिः :

वस्तुतः दोष उपेक्षणीय है क्योंकि वह काव्य को उसी प्रकार श्रीहीन कर देते हैं जिस प्रकार कुष्ठ का एक धब्बा सुन्दर शरीर को कुरूप बना देता है।[3]

संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन ही वह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अपनी काव्यशास्त्रीय सीमाओं में समस्त काव्य तत्वों का वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत कर अपनी प्रज्ञा की प्रभविष्णता एवं भास्वरता का परिचय दिया। वामन ने दोष का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है 'गुण विपर्यात्मनो दोषाः' अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है। यहाँ विपर्यय शब्द संदेह का सृजन करता है परन्तु वामन प्रणीत दोष धारणा के विवेचन विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि वामन प्रणीत दोष काव्य सौंदर्य (गुण) के अभाव के द्योतक न होकर काव्य सौंदर्य के घातक हैं। वामन की वस्तुपरक

१–एत एव विपर्यस्ताः गुणा काव्येषु कीर्तिताः। — ना०शा० १६।९५।

२–सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्षणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय स व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ — काव्यालंकार १।११-१२।

३–तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टम् कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सुरिभिः॥ — काव्यादर्श १।७।

सौंदर्य दृष्टि के कारण ही उनके दोष आन्तरिक चित्तवृत्ति के उद्वेग कारक न होकर वाह्य रूप की विकृति मात्र है।

वामन के उपरान्त आचार्य रुद्रट ने दोषों का वर्गीकरण और विस्तृत विवेचन अवश्य किया परन्तु दोष लक्षण के निर्धारण से विरत ही रहे। यों तो रुद्रट की दोष धारणा नाट्यशास्त्रीय धारणा के ही अनुकूल है परन्तु उनका उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है दोष का 'रस' तथा 'औचित्य' से सम्बन्ध स्थापन।

काव्यशास्त्र के सारस्वत प्रवाह में आनन्द वर्धन की अवतारणा एक ऐतिहासिक घटना है क्योंकि उन्होंने पूर्ववर्ती समस्त काव्य दृश्यों को अपनी नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा से परिवर्तित परिवर्धित कर एक ऐसे काव्यशास्त्रीय तत्वों के चित्र का सृजन किया जिसने अपनी तार्किकता, मनोज्ञता और वैज्ञानिकता से विद्वानों एवं सहृदयों को मन्त्रमुग्ध कर दिया फलस्वरूप सभी परवर्ती विद्वान् आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा विकीर्ण आलोक में ही विचरण करने लगे। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के उपरान्त काव्य-शास्त्रीय रंगभूमि बदल गयी। काव्य का वस्तुगत सौंदर्य आत्मगत सिद्ध हुआ। जहाँ तक दोष धारणा का सम्बन्ध है आनन्दवर्धन ने न तो सामान्य दोषों का लक्षण प्रस्तुत किया है और न विशेष का फिर भी ध्वन्यालोक में यत्र तत्र बिखरी विचार मुक्ताओं ने परम्परा प्राप्त दोष के स्वरूप चिन्तन को एक नई दिशा दी इसमें संदेह नहीं।

दोष काव्य सौंदर्य के विघातक हैं यह सत्य तो सनातन है विचारणीय प्रश्न यह है कि यह विघात वस्तुगत सौंदर्य का है अथवा आत्मगत सौंदर्य का ? ध्वनि पूर्ववर्ती आचार्य परम्परा तो दोष को वस्तुगत ह। मानती रही थी परन्तु आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना से और ध्वनि में भी रस ध्वनि के प्रामुख्य के स्वीकार से वस्तुगत सौन्दर्य आत्मगत सिद्ध हुआ। आनन्दवर्धन ने दोष का दोषत्व निरूपण रस ध्वनि की दृष्टि से ही किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि श्रुति दुष्टादि दोष काव्य के नित्यदोष नहीं हैं अनित्य हैं क्योंकि ये ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही हेय हैं अन्यत्र नहीं।[1] उनका कथन है कि ये दोष वाच्यार्थमात्र में या शृङ्गार व्यतिरिक्त व्यंग्य में अथवा अनात्मभूत शृङ्गार में हेय नहीं है। इस विषय को ध्यान में न रखने पर दोषों को अनित्यता ही सिद्ध नहीं होगी।[2] आनन्दवर्धन प्रणीत इन विचारों के परिणाम

१--श्रुति दुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥—२।११ ध्वन्या०।

२--अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्यदयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे न च व्यंग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि, शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किंतर्हि ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यंग्ये ते हेया इत्युदाहृताः अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतेव न स्यात्।
—ध्वन्यालोक वृत्ति, द्वि०उ०, पृ० ४६८।

स्वरूप ही दोष का मुख्य स्वरूप ध्वन्यात्मक रस का भंग कहा गया। इस रस भंग रूप मुख्य काव्य-दोष के कारण की गवेषणा में आनन्दवर्धन प्रदत्त निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है उन्होंने स्पष्टतया कहा कि अनौचित्य के अतिरिक्त रस भंग का और कोई कारक नहीं है।[१]

आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन की मान्यताओं की पुष्टि करते हुए अचारुत्व को दोष कहा। श्रुति दुष्टादि दोष किस प्रकार एक रस में दोष और अन्य में गुण हो जाते हैं इस तथ्य का तर्क संगत विवेचन अभिनवगुप्त ने ही प्रस्तुत किया अपनी अभिनव भारती टीका में भी दोषों को नित्य और अनित्य दो वर्गों में विभक्त कर विवेचन किया है। यों तो अभिनवगुप्त का महत्व आनन्दवर्धन की दोष धारणा के पोषक के रूप में ही है।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की दोष धारणा के सम्मिलित प्रयास को मूर्तिमान किया। मम्मट ने उनके अनुसार मुख्यार्थ का अपकर्ष ही दोष है मुख्य रस होता है और उसके आश्रय से वाच्य।[२] आचार्य विश्वनाथ ने इसी तथ्य का आकलन और भी सहज रूप में किया है 'दोषास्तस्यापकर्षका:।'[३]

काव्य दोष की स्वरूप धारणा के विकास क्रम के परिप्रेक्ष्य में निष्कृष्ट तत्व यही है कि रस का अपकर्ष करने वाला तत्व ही दोष है। रस का अपकर्ष तीन प्रकार से ही सम्भव है रस प्रतीति में विलम्ब द्वारा अवरोध द्वारा अथवा विघात द्वारा। रस स्वत: प्रकाश्य अखण्ड आनन्दात्मक अनुभूति की अवस्था है अत: उस आनन्द में विलम्ब, अवरोध अथवा विघात निश्चय ही सहृदय भावक के हृदय में उद्वेग उत्पन्न करता है। काव्यास्वाद में संलग्न चित्त में जो उद्वेग उपस्थित करे उसे ही दोष कहा गया है।

यद्यपि पूर्वध्वनि काल और उत्तर ध्वनि काल के मध्य दोष धारणा को लेकर स्पष्ट विभाजक रेखा दीख पड़ती है परन्तु सूक्ष्म चिन्तन और विश्लेषण इसी निष्कर्ष पर ले चलता है कि दोनों कालों की दोष धारणा में मौलिक अन्तर कुछ भी नहीं है क्योंकि दोषों का अपकर्षकत्व सनातन है वे पूर्व ध्वनि काल में भी काव्य के

१--अनौचित्याहृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धयौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥
ध्व० वृत्ति तृ०उ०, पृ० ७८०।

२--मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तादाश्रयाद्वाच्य:।
उभयोपयोगिन: स्यु: शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स:॥ - का०प्र० ७।४९।

३--रसापकर्षका: दोषा: विश्वनाथ साहित्य दर्पण सप्तम परिच्छेद, पृ० ३२७।

घातस्थानीय थे उत्तर ध्वनिकाल में भी जो कुछ भी भेद प्रतीत होता है वह दृष्टि का है क्योंकि ध्वनि पूर्व काल में सौन्दर्य वस्तुगत था अतः दोष भी वस्तु निष्ठ थे उत्तर ध्वनि काल में काव्य सौन्दर्य आत्मानिष्ठ सिद्ध किया गया अतः स्वभावतः दोष भी उसी से सम्बद्ध सिद्ध किये गये। वस्तुतः काव्य के दो अंग हैं एक तो आत्मभूत रस दूसरा शरीर भूत शब्दार्थ अतः दोष की स्पष्ट परिभाषा यह है कि दोष मुख्य रूप से रस और गौड़ रूप से शब्दार्थ का अपकर्ष करने वाले तत्व हैं। आचार्य अभिनवगुप्त एवं आनन्दवर्धन इन दोनों ने ही मात्र रस दोषों को ही महत्व दिया है क्योंकि यदि रस का अपघात न हो तो बड़े से बड़ा दोष भी वक्ता वाच्यादि के औचित्य से दोषत्व से मुक्ति ही नहीं पाता कभी-कभी गुण भी बन जाता है। अतः कवि को सदैव बंध रचना में रसोचित्य का ध्यान रखना चाहिये। रसदोष का स्थान इस लिए भी विशेष है क्योंकि शब्द एवं अर्थ का अपकार अप्रत्यक्ष रूप से रस का ही अपकार है यही कारण है कि ध्वनि वादी आचार्य रस दोष से बचने के लिए विशेष चेतावनी देते हैं और उनका तो यहाँ तक कहना है कि रस विशेष में ही दोष होता है शब्द और अर्थ में नहीं। यदि शब्द और अर्थ में दोष हो तो वीभत्स इत्यादि में कष्टत्व इत्यादि गुण न हो जाये और हास्य इत्यादि में अश्लीलत्व आदि गुण न हो जाये। साथ ही स्मरणीय है कि ये दोष अनित्य होते हैं उसके अंगी न होने पर वे दोष नहीं रहते और उसके अंगी होने पर दोष हो जाते हैं। इस प्रकार गुण के ही समान दोष का आश्रय भी रस ही है शब्द और अर्थ नहीं।

रस दोष :

रस बन्ध ही कवि का मुख्य व्यापार विषय है अतः उसके निबन्धन में कवि को सदा ही अप्रमत्त होना चाहिए[2] क्योंकि नीरस प्रबन्ध की रचना सुकवि के लिए अपयश का हेतु होती है। रस का विरोध उसका अपघात ही दोष है। दोष दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है अनुकूल परिस्थितियों का प्रयोग न करने से तथा विरोधियों के समावेश से किन्तु अनुकूल के असेवन से दोष उतना तीव्र नहीं होता जितना विरुद्ध के सेवन से। आचार्य अभिनव गुप्त ने इसकी बड़ी तर्क पूर्ण व्याख्या की है उनका कहना है कि पथ्य के अनुपयोग से रोग वृद्धि उतनी नहीं होती जितनी कुपथ्य के सेवन से।[3]

१–एतानि यथास्थूलं घातस्थानानि काव्यस्य।
—ना०शा० २७।३१ काव्यमाला संस्करण।

२–मुख्याव्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदेवाप्रमादिभिः ॥– तृ०उ० ध्वन्या, पृ० ८८६।

३–पथ्यानुपयोगी हि न तथा व्याधि जनयति यद्वदपथ्योपयोगः।
— अभिनव लोचन, पृ० ८७१।

अतः सरस कवि के लिए कुपथ्य रूपी इन दोषों का यत्नपूर्वक परिहरण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इस सन्दर्भ में इन रस दोषों को मुख्य रूप से ६ वर्गों में विभक्त किया गया है—

(१) विरोधिरस सम्बन्धी विभावादिग्रहण :

'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः' के अनुसार विभावादि का औचित्य पूर्ण सन्निवेश काव्य के सौन्दर्य का हेतु होता है। इसके प्रतिकूल विरोधी रस से सम्बद्ध विभावादि का ग्रहण करना रस दोष को जन्म देता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि हास्य, शृंगार, वीर—अद्भुत, रौद्र करुण, भयानक—वीभत्स में विभाव विरोध नहीं होता परन्तु प्रशम और राग में विरोध होने के कारण शृंगार और शान्त में विभाव विरोध होता है। उदाहरण स्वरूप उन्होंने एक श्लोक उद्धृत किया है

प्रसादेवर्तस्वप्रकट्य मुदं सन्त्यज रूषं
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गन्यमृतमिव ते सञ्चतुवचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः॥

१—रस विरोधः सामान्यतः रस विरोध की तीन श्रेणियां हैं—

(१) आलम्बन गत विरोध— यथा शृंगार और वीर रस का आलम्बन एक ही वस्तु नहीं हो सकती परन्तु आश्रय एक हो सकता है साथ ही शृंगार और वीर रस का उभय क्रम से नैरन्तर्यगत भी अविरोध होता है।

(२ आश्रयगत विरोध यथा शृंगार और वीभत्स अथवा हास्य और शान्त इन विरोधी मनोवृत्तियों में आश्रयगत विरोध होता भी है। किन्तु हास्य के उपरान्त शान्ति दिखलाना उभय क्रम से नेरन्तर्यगत अविरोध कहा जायगा।

(३) ऊभयगत विरोध— यथा वीभत्स और शृंगार का उभयक्रम से नेरन्तर्यगत विरोध है।

इसके अतिरिक्त कुछ वृत्तियां ऐसी है जिनका तीनों ही रूपों में सर्वथा अविरोध अथवा विरोध होता है यथा शृंगार और अद्भुत त्रिधा अविरोध के उदाहरण हैं और वीभत्स एवं शृंगार त्रिधा विरोध के।

(४) हास्य शृङ्गारयोर्वीरादभुतयोरौद्रकरुणयोर्भयानकवी-भत्सयोर्नोविभाव-विरोध इत्यभिप्रायेण शान्तशृङ्गारावुपन्यस्तौ, प्रशमरागयोर्विरोधात्।

—अभिनव लोचन तृ०उ०, पृ० ८७४।

यहाँ निर्वेद के थोड़े से अनुप्रवेश से ही रति का विच्छेद हो जाता है। क्योंकि तत्वज्ञ, जिसे संसार की नश्वरता का ज्ञान है जो विषय वासनाओं की अकिंचित्करता और तुच्छता जानता है वह विषय सेवन में कैसे प्रवृत्त हो सकता है। अतः यदि शान्त के आलम्बन को शृंगार का विषय बनाया जाय तो रस विरोध होगा ही। अतः प्रणय कलह में कुपित नायिका के प्रसादन में वैराग्य की चर्चा विरुद्ध रस भाव परिग्रह का उदाहरण है एवं नायिका के प्रसन्न न होने की स्थिति में गर्जन तर्जन आदि अनुभवों का वर्णन विरुद्ध रसानुभाव परिग्रह का उदाहरण है।[२]

(२) सम्बद्ध भी किसी अन्यवस्तु का विस्तृत वर्णन :

असम्बद्ध किसी वस्तु का वर्णन तो कोई उन्मत्त ही करता है परन्तु सम्बद्ध भी किसी अन्य वस्तु का विस्तृत वर्णन रस का विघातक होता है। यथा नायक के विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन के उपक्रम में यमकादि अलंकार रसिकता के कारण बहुत बड़े प्रबन्ध द्वारा पर्वतादि का वर्णन जैसे किरातार्जुनीय में जब अर्जुन तपस्यार्थ जाते हैं और उनकी तपस्या में विघ्न उपस्थित करने के लिए किन्नर गन्धर्व और अप्सरायें भेजी जाती हैं उस समय कवि वर्णन के प्रलोभन में पड़कर पर्वत, ऋतु, जलक्रीड़ा इत्यादि का विस्तृत वर्णन करने लगता है जिससे मूल कथानक तिरोहित होने लगता है। इसी प्रकार शिशुपाल वध में कृष्ण युधिष्ठिर के यज्ञ में भाग लेने जा रहे हैं। जहाँ उन्हें शिशुपाल का वध करना है। वर्णन के व्यामोह से ग्रस्त कवि कृष्ण के मार्ग वर्णन के प्रसंग में रैवतक पर्वत, षड्ऋतु, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, रात्रि, प्रभात इत्यादि के वर्णन में आठ, नौ सर्ग लगा देता है जिससे पाठक मूल कथा सर्वथा भूल जाता है। इस प्रकार का वर्णन सदोष होता है।

(३) अनवसर में रस विच्छेद :

यह भी रस भंग का हेतु है। रस को ऐसे स्थान पर छोड़ देना जहाँ रस विच्छेद जन्य अतृप्ति तथा खेद का अनुभव होता रहे। यथा किसी नायक के किसी

१–मनागपिनिर्वेदानुप्रवेशे सति रतिर्विच्छेदः। ज्ञात विषयसतत्वो हि जीवित सर्वस्वाभिमानं कथं भजेत। न हि ज्ञात शुक्तिका रजत तत्वस्तदुपादेयधियं भजते ऋते संवृति मात्रात्।

– अभिनवगुप्त – लोचन, तृ०उ०, पृ० ८७६।

२-विरोधि रस भाव परिग्रहोयथा प्रियं प्रति प्रणय कलह कुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये। विरोधि रसानुभाव परिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्या नायकस्य कोपवेशविवशस्य रौद्रानुभाव वर्णने।

—ध्वन्या० वृत्ति, तृ०उ० पृ० ८७४।

स्पृहणीय समागम वाली नायिका के साथ शृंगार के परिपोष को प्राप्त हो जाने पर तथा परस्पर अनुराग के विदित हो जाने पर समागमोपाय की चिन्ता को छोड़कर दूसरे व्यापार का वर्णन करने लगना अनवसर त्याग कहा जाता है।[1] अनवसर त्याग के स्पष्टीकरण के लिए आचार्य अभिनवगुप्त तापसवत्सराज के चतुर्थ अंक का उदाहरण देते हैं[2] जहाँ रत्नावली और उदयन के पूर्वराग उत्पन्न हो जाने के बाद उस विजय वर्मा के वृतान्त का विस्तृत वर्णन है जो रत्नावली का नाम तक नहीं लेता। यहाँ रत्नावली और उ यन के अनुराग का अतिक्रमण कर अन्य व्यापार रूप विजय वर्मा का वर्णन अनवसर त्याग का उदाहरण है।

(४) अनवसर में रस प्रकाशन :

यथा महसमर का प्रारम्भ हो चुका हो अनेक वीरों का संक्षय भी प्रवृत्ति हो प्रलय का दृश्य उपस्थित हो तो रामचन्द्र जैसे नायक का भी शृंगार वर्णन दोष की सृष्टि करता है।[3] इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने उदाहरण स्वरूप वेणीसंहार के द्वितीय अंक में वर्णित दुर्योधन के शृंगार प्रथन का संकेत किया है।[4]

(५) परिपुष्ट रस का पुन: पुन: दीपन :

जिस प्रकार किसी पुष्प का पुन: पुन: स्पर्श करने से वह मलिन पड़ जाता है उसी प्रकार आस्वादात्मक परिपोष को प्राप्त रस के पुन: पुन: दीपन से रस में मलिनता आ जाती है। तथा सहृदयों का उस ओर से विराग हो जाता है। कुमारसम्भव में वर्णित रति विलाप इसका सम्यक् उदाहरण है।

१–तत्रानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीय समागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोष पदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तर वर्णने।

—ध्वन्या० वृत्ति तृ०उ०, पृ० ८८०।

२–यथा वत्सराज चरिते चतुर्थङ्के—रत्नावलीनामधेयमप्यगृहणतो विजयवर्मावृतान्तवर्णने। – अभिनव – लोचन तृ०उ, पृ० ८८०।

३–दुर्योदनादेरत्तवर्णनं दूरापारत्तमिवि वेणिसंहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्वनति।

— लोचन— तृ०उ०, पृ० ८८१।

४–उपयुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्ध परिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते।

— ध्वन्या० वृत्ति० तृ० उ०, पृ० ८८४।

(६) वृत्यनौचित्य :

वृत्ति का अर्थ है व्यवहार आनन्दवर्धन ने इसकी व्याख्या दो रूपों में की है। प्रथमतः नायिका की उचित शृंगारिक चेष्टाओं के अभाव में भी किसी कामान्ध नायक का सम्भोगेच्छा प्रकाशन व्यवहार अनौचित्य का उदाहरण है। वृत्ति का द्वितीय अभिप्राय भरतादि प्रणीत कैशिकी सात्वती भारती आरभटी अथवा अन्य अलंकारिकों द्वारा विवेचित उपनागरिका, परुषा तथा कोमला से है। इन वृत्तियों का अविषय में निबन्धन भी वृत्यनौचित्य ही है। संक्षेप में रस के प्रतिकूल शब्दार्थ की योजना वृत्यनौचित्य है।

दोषों की नित्यता अनित्यता :

काव्य दोषों की नित्यता और अनित्यता की विचारणा उतनी ही प्राचीन है जितनी दोष धारणा। वस्तुतः यदि ध्वन्यात्मक रस का भंग न हो तो बड़े-बड़े दोष का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। दोषों की नित्यता और अनित्यता का निकष औचित्य है। स्थिति विशेष में दोष दोष नहीं रह जाते और कभी-कभी तो गुण भी बन जाते हैं यह तथ्य तो भामह दण्डी सभी आचार्य स्वीकार करते हैं परन्तु यह स्थिति विशेष है, क्या इसे आनन्दवर्धन से पूर्व किसी आचार्य ने स्पष्ट नहीं किया था। आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रसभंग का मूल कारण बताते हुए उसे दोष के व्यापक आधार के रूप में प्रतिष्ठित किया और अलंकार, संघटना, वृत्ति तथा प्रबन्धादि के अनौचित्य का विशदता से उदघाटन किया।

सारांश यह है कि दोष दो प्रकार के होते है (१) नित्य (२) अनित्य। अनित्य दोष भी दो प्रकार का होता है--(१) अदोषता रूप तथा (२) गुणरूपता रूप।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती में भरत प्रणीत दोषों को नित्य और अनित्य वर्गों में विभक्त किया है। वे अपशब्द को नित्य दोष मानते हैं और ग्राम्य को अनित्य। गूढ़ लेख प्रहेलिका पताका स्थापनक आदि में गूढ़ार्थ, अनुवाद में अर्थान्तर हास्य में अर्थ हीन श्रोत्रिय आदि वक्ता होने पर भिन्नार्थ पर प्रत्यायन में एकार्थ तथा उन्मादादि में अभिलुप्तार्थ दोष नहीं होते।

१-एतन्मध्ये तु केचित् नित्यदोषाः, यथा अपशब्दः केचिदनित्या यथा ग्राम्यं, हास्यादौ तस्येष्टतमत्वात्। - अ०भा०अ० १६, पृ० १३१७।

२--यथा च गूढार्थ गूढलेखप्रहेलिकादि पताकास्थानकादिषु प्रयोज्यम्, अथान्तरमनुवादे, अर्थहीनादि हास्ये, भिन्नार्थ श्रोत्रियादौ वक्तरि, एकार्थं परप्रस्थायने अभिप्लुतार्थमुन्मादादौ भिन्न वृत्तं विसन्धि च स्वविषये।

— अ०भा अ० १६, पृ० १३१७।

अभिनवगुप्त का कथन है कि अपशब्द के रहने पर तो कोई अर्थ की प्रतीति नहीं होती अतः उसे नित्य दोष मानना चाहिए। ग्राम्यादि को उन्होंने हास्य में इष्ट बताया है जिससे स्पष्ट है कि ग्राम्य की अदोषता ही नहीं गुण रूपता भी उन्हें मान्य है।

अभिनवगुप्त ने अपनी दूसरी टीका लोचन में भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। श्रुतिदुष्टादि दोष किस प्रकार एक रस में दोष और दूसरे में गुण हो जाते हैं। वान्त इत्यादि असभ्य अर्थ का स्मरण कराने में जो हेतु होते हैं उन्हें श्रुतिदुष्ट दोष कहते हैं। अर्थदुष्ट उन्हें कहते हैं जो वाक्यार्थ के बल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति कराने वाले हों 'यथा छिद्रान्वेषी महास्तब्धो घातादयै वोपसर्पति।' दो पदों की कल्पना अर्थात् उलट फेर द्वारा जो दोष आ जाता है उसे कल्पना दुष्ट कहते हैं यथा—'कुरुरुचिम्'। जहाँ कर्ण कटु वर्णों का प्रयोग हो वहाँ श्रुति कष्ट दोष होता है जैसे अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेहि ये दोष वहीं पर होते हैं जहाँ शृङ्गार शान्त अद्भुत आदि कोमल रस अंगी हों यदि केवल वाच्यार्थ हों या शृङ्गार से भिन्न कोई अन्य वाच्यार्थ हो अथवा शृङ्गार ही अंग हो तो वहाँ ये दोष नहीं माने जाते और यदि इनका प्रयोग वीभत्स रौद्र हस्यादि में किया जाय तो ये दोष मुक्त ही नहीं गुण युक्त भी हो जाते हैं।

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि दोषों के विषय में ध्वनिवादी आचार्य विशेष उदार दिखाई पड़ते हैं। और ध्वन्यात्मक रस भंग के अभाव में वे किसी भी दोष को दोष मानने में तत्पर नहीं दीखते।

रसदोषों के परिहार के उपाय एवं अभिनवगुप्त :

सामान्यतः विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि के ग्रहण से दोष होता है परन्तु यदि विवक्षित रस प्रतिष्ठा को प्राप्त कर ले और विरोधी रस बाध्य अथवा अंग रूप में आये तो दोष का परिहार हो जाता है। बाध्य रूप तभी सम्भव है जब मुख्य रस से अमुख्य रस का परिपोष न्यून हो। इस अवस्था में विरोधी अमुख्य रस मुख्य का परिपोष करने लगता है। उदाहरणार्थ 'क्वकार्य शशलक्ष्मणः क्व च कुलं'[2] यहाँ प्रकृत

१—वान्तादयो सभ्यस्मृति हेतवः श्रुतिदुष्टाः। अर्थ दुष्टा वाक्वार्थबलादश्लीलार्थ प्रतिपत्तिकारिणः। यथा—छिद्रान्वेषी महाँस्तब्धोघातायैवोपर्सपति इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पादयोः कल्पनया। यथा 'कुरुरुचिम्' इतिक्रमव्यत्यासे श्रुति कष्टस्तु अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि इत्यादि। शृङ्गारइति उचितरसोपलक्षणार्थम्। वीरशन्ताद्भुतादावपि तेषां वर्जनात्।

अभिनव-लोचन, द्वि०उ० पृ० ४६८।

२—ध्वन्यालोक - पृ० ८९६।

रस शृङ्गार है। उसके व्यभिचारी भाव औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य तथा चिन्ता की अभिव्यक्ति है। साथ ही शृङ्गार के विरोधी शान्त रस के व्यभिचारी वितर्क, मति, शंका और धृति की भी अभिव्यक्ति होती है वितर्क का बाध औत्सुक्य द्वारा होता है। इसी प्रकार मति का स्मृति के द्वारा, शंका का दैन्य के द्वारा और धृति का चिन्ता के द्वारा बाध हो जाता है। इस प्रकार ये व्यभिचारी शृङ्गार को पुष्ट ही करते हैं। रूपता में परिहार दो प्रकार से सम्भव है (१) स्वाभाविक रूप में (२) आरोपकृत प में। स्वाभाविक रूप से अंगता को प्राप्त विरोधी व्यभिचारियों को कथन में दोष नहीं होता। यथा सापेक्षाश्रित शृङ्गार का निरपेक्षाश्रित करुण विरोधी है परन्तु करुण के व्यभिचारी निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, विषाद जड़ता विप्रलम्भ शृङ्गार के व्यभिचारी भी होते हैं। शृंगार और करुण विरुद्धरस है इसमें तो सदेह नहीं अतः करुण के व्यभिचारियों शृगार विरोधी होना चाहिए परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में इन व्याधि इत्यादि संचारियों का प्रयोग होता ही है अतः शृंगार व्यंजक श्लेष में अंग रूप में यदि करुण के व्यभिचारियों का वर्णन किया जाय तो दोष नहीं होता यथा 'भ्रमिमरतिमलसहृदयता' यहाँ पर प्रस्तुत रस विप्रलम्भ शृंगार है और 'भ्रमि' इत्यादि शृंगार विरोधी करुण के अंग हैं किन्तु इनमें स्वाभाविक रूप से विप्रलम्भ का अंग बनने की क्षमता है। अतः इस श्लोक में विरोधी व्यभिचारी ग्रहण दोष का परिहार हो जाता है।

आरोप द्वारा भी विरोधियों की अंगता की जा सकती है यथा 'पाण्डुक्षामंवदनं'[२] में रोग का अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाना, मुख का पीला पड़ जाना इत्यादि विरोधी रस करुण के अंग हैं परन्तु ऐसे अनुभावों से जो उभयत्र सम्भव है इनका आरोप शृंगार पर किया गया है। सार यह है कि किसी विरोधी रस या सांग के प्रकृत रस के पोषक होने के तीन रूप हो सकते हैं (१) विरोधी का बाध कर दिया जाय (२) स्वाभाविक अंगरूपता प्रदान की जाय (३ विरोधी रस तत्व का आरोप कर उसे अग बना दिया जाय। इसके अतिरिक्त अंगभाव प्राप्ति का एक प्रकार और है जिसमें दो परस्पर विरोधी रसों का प्रधान रस में सन्निवेश कराया जाता है। जिस प्रकार दो विरोधी राजा किसी तीसरे अपने से बड़े राजा के हित साधक हों। यथा 'क्षिप्तोहस्तावलग्नः' में यहाँ दो विरोधी रस करुण और शृंगार त्रिपुरारि के प्रभावातिशय के अग हैं।

यहाँ स्मरणीय है कि विधि में विरुद्धों का समावेश दूषित होता है। उद्देश्य में नहीं। जैसे कि 'यह कार्य करो' मत करो इन दोनों विरोधी आदेशों का पालन नहीं

१--वही, पृ० ६००।
२-लोचन, पृ० ६००।

किया जा सकता किन्तु उद्देश्य में विरोधियों के समावेश से दोष नहीं होता जैसे—'एहिगच्छपत्तोत्तिष्ठं' यहाँ पर आओ जाओ उठो गिरो ये सब विरुद्धार्थक शब्द हैं किन्तु धनिकों की भाषा का अनुवाद होने से दोष नहीं है। यहाँ क्रीड़ा रूप विधेय के ये सब मुखापेक्षी हैं अतः अंग हैं। अभिनवगुप्त इसे स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि यह उसी प्रकार है जिस प्रकार राजा के निकट बैठे दो आततायियों का चुपचाप बैठ जाना क्योंकि वहाँ वे अन्यमुखप्रेक्षी होते हैं अतः परतन्त्र होते हैं। अतः इनके परस्पर स्वभाव चिन्तन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए इनका विरोध भी नहीं होता।[१] इतना ही नहीं कभी कभी विरोधी रस की अंगता दोषहीन ही नहीं होती गुण युक्त भी हो जाती है। यथा अभिनन्दनीय उदय वाले किसी नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके विरोधियों का जो करुण रस है वह सहृदयों में वैकल्प का आधान नहीं करता अपितु अतिशय प्रीति का निमित्त बन जाता है। नायक के प्रति विरोधियों के करुण रस का उपादान किया जाय तो अर्थ की परिसमाप्ति करुण रस में नहीं होती क्योंकि करुण रस ऐसे स्थान पर साध्य न होकर साधन होता है। कहा भी गया है कि रौद्र का जो कर्म होता है वही करुण रस समझा जाना चाहिए।[२] 'कुखक्कुचाधातक्रीडा-सुखेनवियुज्यते' में मुख्य वर्ण्य विषय राजा का प्रभावातिशय है जिसको शत्रुओं की करुणा पुष्ट कर रही है।

ध्वन्यालोककार का कथन है कि किसी करुण रस के विषय का उस प्रकार की श्रृंगार वस्तु के साथ विशेष भंगिमा का आश्रय लेकर जो संयोजना की जाती है वह रस परिपोष के लिए ही होती है। रमरणीय वस्तु का विनाश शोकावेग को बढ़ाता है। जितना ही उसके गौरव पूर्ण आनन्ददायक दशा का स्मरण करते हैं उतना ही हमारा शोकावेग अधिकाधिक बढ़ता है। इस प्रकार विरोधी होते हुए भी श्रृंगार की व्यतीत हुई आनन्दमय दशा का स्मरण शोक को बढ़ाता ही है शर्त है उसकी संयोजना नवीन भंगिमा के साथ करुण के परिपोषक के रूप में की गई हो। यह परिपोषकता श्रृंगार-रस में तब आती है जब वर्णन में ग्राम्यता न आने पावे श्रृंगार रस करुण के विभाव अनुभाव में परिणत हो जाये यथा महाभारत में आया श्लोक 'अयं स रसनोत्कर्षी पीन-स्तन विमर्दनः।'

आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि अंगी रस की अपेक्षा जिस दूसरे रस का उत्कर्ष निबद्ध किया जाता है तब निबद्ध किया हुआ विरुद्ध रस भी प्रश्न उठाने वाला होता है। यदि युक्तिपूर्वक अंगी रस में अंग भाव की प्राप्ति द्वारा उपपत्ति घटित होती

१–वही, पृ० ६०६।
२--लोचन, पृ० ६१२।

है तो विरुद्ध भी रस दोषावह नहीं होता। अतः विरोध और अविरोध अकिञ्चित्कर है विनिवेशन के प्रकार में ही तो ध्यान देना चाहिए।

रस बन्ध में रुचि रखने वाले कवि को रस दोष से बचने के लिए ध्यान रखना चाहिए कि --

(१) अंगी शृंगारादि के व्यंग्य होने पर विरोधी अथवा अविरोधी किसी भी अन्य रस को परिपुष्ट नहीं किया जाना चाहिए। यदि अंग रस विरोधी न हो तो उसे अंगी रस के समकक्ष अथवा समान उत्कर्ष वाला बना देने में भी विरोध नहीं है।[१]

(२) अंगी रस के विरोधी व्यभिचारियों का निवेशन नहीं करना चाहिए और यदि निविष्ट कर ही दिया जाय तो अंगी रस के व्यभिचारियों की शीघ्र अनुवृत्ति करनी चाहिए।

(३) यदि अंगी रस कोई अन्य हो और किसी अन्य रस को उसके अंग के रूप में अभिव्यक्त किया जा रहा हो तथा उस अंग रस को परिपुष्ट भी कर दिया गया हो तो वह रस अंग है इस तथ्य की ओर परिशीलकों का ध्यान पुनः पुनः आकृष्ट करते चलना चाहिए।[३]

(४) अंगी रस की अपेक्षा विरोधी रस की न्यूनता कर देनी चाहिए। यथा— शृंगार के अंगी होने पर शान्त की, शान्त के अंगी होने पर शृंगार की।

काव्यत्व और दोष :

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यत्व और दोष से सम्बद्ध अनेक मौलिक विचार उपलब्ध हैं जिनका विवेचन और विश्लेषण कवि और भावक दोनों की दृष्टियों से करना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि क्या निर्दोषता काव्यत्व की अनिवार्य शर्त है? साथ ही क्या काव्य में निर्दोषता आत्यन्तिक रूप से सम्भव है? संस्कृत के काव्यशास्त्रीय आचार्यों की दृष्टि से यदि इन पर विचार किया जाय तो उत्तर स्वरूप इन आचार्यों के दो स्पष्ट वर्ग दीख पड़ते हैं जिनमें बहुतायत, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, अदोषता को काव्य की अनिवार्य शर्त मानने वालों की है।

आदि आचार्य भामह और दण्डी यद्यपि अपने काव्यलक्षण में अदोषता का समावेश नहीं करते हैं फिर भी वे निर्दोषता को काव्यत्व की अनिवार्य शर्त मानते हैं। भामह का स्पष्ट कथन है कि अकवित्व अधर्म नहीं हैं परन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृति

१--ध्वन्यालोक, पृ० ६३६।
२--वही, पृ० ६४२।
३--वही, पृ० ६४४।

है। आचार्य दण्डी काव्य के छोटे से दोष को भी सुन्दर शरीर के कुष्ट की भाँति देखते हैं,[२] अतः स्पष्टतः ये दोनों ही आचार्य परोक्ष रूप से निर्दोषता को काव्यत्व की अनिवार्य शर्त मानते हैं। प्रत्यक्ष रूप से अदोषता को काव्य लक्षण में स्थान देने वाले आचार्यों में उल्लेखनीय हैं आचार्य वामन, आचार्य मम्मट[४] तथा भोज।[५] इनके अतिरिक्त दूसरा वर्ग है जिनके आचार्य निर्दोषता को काव्यत्व की अनिवार्य शर्त नहीं मानते हैं। इस वर्ग के सबसे प्रबल समर्थक आचार्य विश्वनाथ हैं। उनका कहना है कि यदि सदोष रचना को अकाव्य कह कर काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करने लगें तो काव्य का दृष्टान्त विरल या असम्भव हो जायेगा। एक दृष्टान्त देते हुए उन्होंने स्व मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार कीटानुबिद्ध रत्न की रत्नता खण्डित नहीं होती उसी प्रकार सभुक्त सदोश रचना का भी काव्यत्व खण्डित नहीं होता।

इस समस्या के समाधान के सन्दर्भ में आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनव का मत उल्लेखनीय है। यदि सहृदयता पूर्वक यथार्थ की भूमि पर इन प्रश्नों का समाधान ढूंढने का प्रयत्न किया जाय तो आचार्य विश्वनाथ द्वारा लिया गया निष्कर्ष अनुचित नहीं है आचार्य आनन्दवर्धन भी सदोष रचना के काव्यत्व का एकान्त निषेध करने के पक्ष में नहीं हैं। वे दोषों को दो वर्गों में विभक्त करते हैं (१) अव्युत्पत्तिकृत (२) अशक्तिकृत। उनका कहना है कि अव्यूत्पत्तिकृत दोष शक्ति द्वारा संवृत कर दिये जाते हैं यथा कुमार सम्भव में वर्णित शम्भु का अश्लील श्रृंगार वर्णन[६] अपने इस कथन द्वारा

१--नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥१।१२ भामह काव्यालंकार।

२--तदल्पमपि नोपेक्ष्यं दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥१।७ दण्डी काव्यादर्श।

३--काव्यंग्राह्यमलङ्करात्, सौन्दर्यमलङ्कारः, स दोष गुणालङ्कार हाना-दानाम्यान्।१।१ से १।१।३ वामन, का०ल०सू०

४--तददोषो शब्दार्थौ सुगणवानलंकृतीपनः क्वापि। —मम्मट का०प्र०
पृथम उल्लास।

५--निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तोप्रीतिं च विन्दति ॥१ (–रसरस्वतीकण्ठाभरण

६--अव्युत्पत्ति कृतोदोषः शक्त्या संव्रियते कवेः
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्यवभासते ॥ तथा हि महाकवीनामप्युत्तम देवताविषयप्रसिद्ध सम्भोग शृङ्गार विवल्धाद्यनोचित्यं शक्तितिस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते। यथा कुमार सम्भवे देवी सम्भोग वर्णनम्।
—ध्वन्याल० तृ०उ०, पृ० ७३८।

अप्रत्यक्ष रूप से संकेत दे दिया है कि शक्तिमान् कवि दुष्ट रचना को भी दुष्ट नहीं प्रतीत होने देता, अतः वैसी रचनाओं का काव्यत्वखण्डित नहीं होता । अभिनव और आनन्दवर्धन ने इसीलिए दोष की कसौटी 'सहृदय हृदय विधात को बताया है यदि भावक की रसानुभूति में विघ्न नहीं आता तो रचना में कोई दोष नहीं होता । वस्तुतः कवि शक्ति और प्रतिभा ही काव्यत्व की अनिवार्य शर्तें हैं यदि शक्ति और प्रतिभा हो तो व्युत्पत्ति और अभ्यास की त्रुटियां सहज ही छुप जाती हैं । हाँ अशक्ति कृत दोष होने पर तो काव्यत्व का निषेध स्वीकार करना ही चाहिए । सत्य तो यह है कि यदि काव्य में पूर्ण निर्दोषता को अनिवार्य मान लें तो सचमुच की काव्य प्रविरल हो जायगा । आनन्दवर्धन, जो दूसरे महाकवियों के दोषोद्घाटन को अपना ही दोष समझ कर इससे विमुख हैं स्वीकार करते हैं कि महाकवियों के प्रबन्धों में भी बहुत से रस-भंग के उदाहरण प्राप्त होते हैं । अतः काव्यत्व और दोष में सापेक्ष सम्बन्ध नहीं है । यही कारण है कि आचार्य अभिनव गुप्त ने दोषों की नित्यता और अनित्यता का विस्तृत विवेचन किया है कवि शक्ति और वक्ता वाच्य दोष नहीं रह जाता परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कवि मनमाना करने के लिए स्वतंत्र है । भारतीय काव्यशास्त्र में तो गुणादान से अधिक दोषाहान से सावधान रहने का उपदेश है । आशय मात्र इतना ही है कि दोष कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसकी सूक्ष्म सी उपस्थिति से सम्पूर्ण काव्यत्व का निषेध कर दिया जाय । आचार्य अभिनव और आनन्दवर्धन कृत दोष विवेचन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से ऐसा लगता है मानों उनका दोष विवेचन कवि के नियमन के लिए उतना नहीं है जितना भावक के दृष्टि संकोच को दूर करने के लिए है ।

———

चतुर्थ अध्याय

काव्य शास्त्र से सम्बद्ध प्रकीर्ण विषय

(१) काव्य की विधायें
(२) कवि
(३) सहृदय
(४) चमत्कार

काव्य की विधायें

कवि की आत्माभिव्यक्ति ही काव्य है यह अभिव्यक्ति विविध रूपा होती है। इसका स्वरूप कभी गद्यात्मक होता है कभी पद्यात्मक तो कभी मिश्रित। इसी आधार पर काव्य के विविध रूप प्रकाश में आये हैं जिन्हें निम्नांकित तालिका से स्पष्टतया देखा जा सकता है :

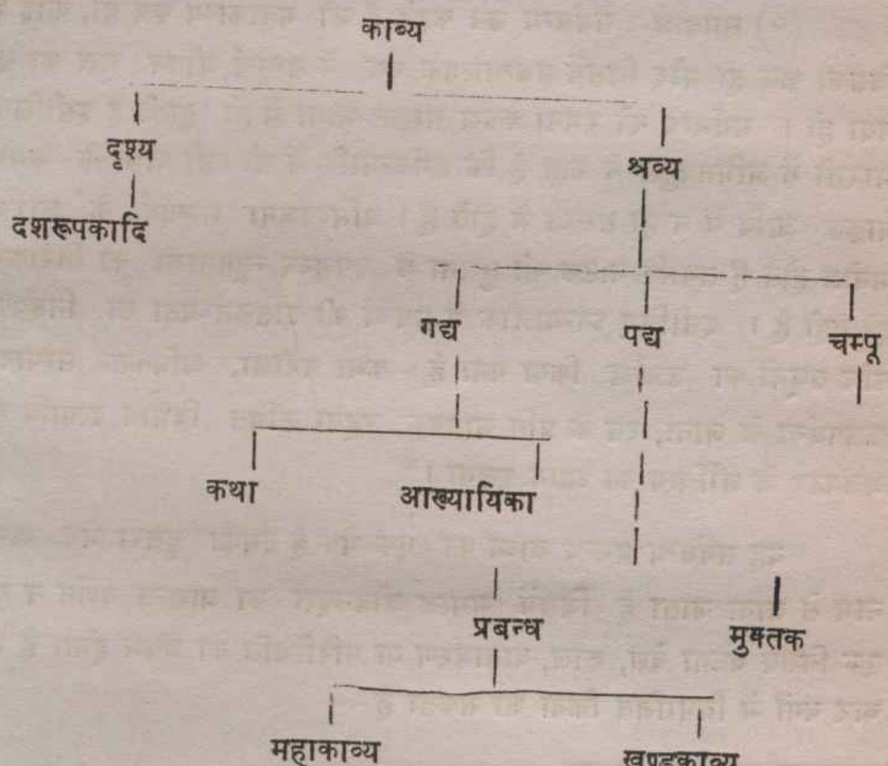

परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त के विस्तृत अध्ययन से उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य के तीन भेदों की चर्चा की है एवं उसके उपभेदों का भी विस्तृत निरूपण किया है। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा मान्यता प्राप्त प्रधान काव्य भेद है—(१) दशरूपक (२) सर्गबन्ध (२) मुक्तक। ध्वन्यालोक लोचन में विषयाश्रित संघटना के प्रसंग में इन काव्य प्रभेदों की चर्चा की गयी है।

(१) दशरूपक : आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि काव्य तो मुख्य रूप से दशरूपात्मक ही होता हैं क्योंकि उसमें उचित भाषा, व्यापार (काकु) उच्चारण शैली एवं वेशभूषा आदि के द्वारा रसवत्ता पूर्णता को प्राप्त हो जाती है।[१] नाटक, प्रकरण,

१–वयन्तु ब्रूमः – काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। तत्र हृयुचितैर्भाषा वृत्ति-—काकु—नेपथ्य प्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता।
— द्वि०अ०भा० अ० ६, पृ० ५०४।

भाण, व्यायोग, समवकार डिम, ईहामृग अङ्क, वीथी और प्रहसन ये दस प्रधान भेद हैं इसके अतिरिक्त इनका अवान्तर विस्तार भी होता है जिसे उपरूपक कहते हैं इसके १८ भेद होते हैं। काव्य की इस विधा की गणना दृश्य काव्य के अन्तर्गत होती है।[१] इनका विस्तृत विवेचन प्रथमतः नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है जहाँ उसकी उत्पत्ति से प्रयोगरूपता तक की विस्तृत चर्चा की गई है इसमें कई भाषाओं का मिश्रण होता है।

(२) **सर्गबन्ध** : सर्गबन्ध उसे कहते हैं जो महाकाव्य रूप हो, कोई भी पुरुषार्थ जिसका फल हो और जिसमें प्रबन्धात्मक रूप में सम्पूर्ण जीवन वृत्त का वर्णन किया गया हो।[२] सर्गबन्ध की रचना केवल संस्कृत भाषा में ही होती है इसीलिए अभिनव-भारती में अभिनवगुप्त ने कहा है कि सर्गबन्धादि में तो स्त्री पात्रों के कथोपकथन भी प्राकृत आदि में न हो संस्कृत में होते हैं। अभिव्यंजना सौन्दर्य के कारण यद्यपि वे मनोज्ञ होते हैं तथापि नाटक की तुलना में उपलब्ध न्यूनताओं का निराकरण सम्भव ही नहीं है।[३] इसीलिए ध्वन्यालोक में प्रबन्ध की इतिकर्तव्यता का निरूपण करते हुए पाँच तथ्यों का उल्लेख किया गया है—कथा परीक्षा, अधिकता सम्पादन, रस को फलपर्यन्त ले जाना, रस के प्रति जागरुक रहना उचित विभाव इत्यादि को वर्णन में अलंकार के औचित्य का ध्यान रखना।[४]

यह सर्गबन्ध प्रबन्ध काव्य का एक भेद है इसका दूसरा भेद खण्ड काव्य के नाम से जाना जाता है जिसमें समस्त जीवनवृत्त का आद्यन्त वर्णन न होकर किसी एक विशेष घटना देश, काल, वातावरण या परिस्थिति का अंकन होता है। इसको भी चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१–अभिनेयार्थ दशरूपकं नाटिका त्रोटकरासक प्रकरणिकाद्यावान्तर प्रपञ्चसहित मनेकं भाषा व्यामिश्ररूपम्। — ध्व०लो० तृ०उ०, पृ० ७५६।

२–महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलःसमस्त वस्तु वर्णना
प्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव। — लोचन तृ०उ०, पृ० ७५६।

३–सर्गबन्धादौ हि नायिकायाऽपि संस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचितं केवलं शक्तिरहितत्वाद् व्यावर्ण्यते। तवतवै हृद्यमिति न्यायेनानौचित्यं न प्रतिजहाति।
—हि०अ०भा, पृ० ५०४।

४–प्रबन्धस्य व्यंजकत्वे ये प्रकारास्ते क्रमेणैवोपयोगिनः। पूर्वं हि कथा परीक्षा, तत्राधिकावावः, फलपर्यन्ततानयनम् रसं प्रति जागरणं तदुचित विभावादि वर्णनेऽलङ्कारोचित्यम् इति। — ध्व०लो० तृ०उ०, पृ० ७७२।

(१) पर्यायबन्ध : उसे कहते हैं जिसमें यद्यपि आवान्तर क्रियायें समाप्त हो जाती है परन्तु उनका उद्देश्य वसन्त इत्यादि किसी एक वस्तु का वर्णन ही होता है।[1]

(२) परिकथा[2]—उसे कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में किसी एक को लेकर अनेक प्रकारों के द्वारा अनेक वृत्तान्तों का वर्णन किया जाये।

खण्डकथा : कथा के एक भाग का वर्णन खण्डकथा कहलाता है।[3] दूसरे शब्दों में काव्य के एक देश का अनुसरण करने वाली खण्डकथा होती है इसे खण्डकाव्य भी कहा जा सकता है।

सकलकथा – उसे कहते हैं जिसमें अनेक इतिवृत्तों का वर्णन किया जाये और वे समस्त इतिवृत्त फलपर्यन्त अनुधवन करने वाले हों।[4]

(३) मुक्तक : पूर्वापर निरपेक्ष जो रस चर्वणा कराने में समर्थ होता है ऐसे काव्य को मुक्तक कहते हैं।[5] मुक्तक का अर्थ है अन्य से अनालिंगित इसमें कन् प्रत्यय लगा हुआ है।[6] इसके अतिरिक्त ध्यातव्य है कि प्रबन्ध के मध्य आया पूर्वापरनिरपेक्ष पद्य मुक्तक नहीं कहला सकता यद्यपि दण्डी प्रभृति पूर्वाचार्य प्रबन्धान्तर्वर्ती परिसमाप्तार्थ पद्य को ही मुक्तक कहते थे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस मान्यता का खण्डन किया है।

मुक्तक की रचना में भाषा का नियम नहीं है यह संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश किसी में भी हो सकता है।[7] यद्यपि स्वतंत्र पद्य ही मुक्तक कहलाते हैं किन्तु कभी-कभी कई पद्यों में एक ही क्रिया होती है अतः क्रिया की एकता के आधार पर उसे चार वर्गों में विभक्त करते हैं। यद्यपि इनकी गणना मुक्तक के अन्तर्गत ही होती है फिर भी पद्य की संख्या के आधार पर इनकी भिन्न-भिन्न संज्ञायें हैं जैसे—

१–आवान्तर क्रिया समाप्तावपिवसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देश्येन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। —ध्व०लो० तृ०उ०, पृ० ७५८।

२–एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकार वैचित्र्येणानन्तवृतावर्णनप्रकारा परिकथा। ध्व०लो० तृ०उ०, पृ० ७५८।

३–एकदेशवर्णना खण्डकथा। —तृ०उ०, पृ० ७५८।

४–समस्तफलान्तेतिवृत्तावर्णनासकल कथा। तृ०उ०, पृ० ७५८।

५–पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। —ध्व०लो० तृ०उ०, पृ० ७६४।

६–मुक्तमन्येनानालिङ्गितंतस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतंत्रतया परिसमाप्त निराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते। —ध्व०लो० तृ०उ०, पृ० ७५६।

७–पूर्वेषां तु मुक्तमादीनां भाषायामनियमः। —तृ०उ०, पृ० ७५६।

(१) सन्दानितक—यदि दो पद्यों में क्रिया समाप्त हो जाती है तो उस प्रकार के मुक्तक को सन्दानितक कहते हैं।

(२) विशेषक – यदि तीन पद्यों में क्रिया समाप्त हो तो उसे विशेषक कहते हैं।

(३) कलापक – यदि चार पद्यों में क्रिया की समाप्ति हो तो वह कलापक कहलाता है।

(४) कुलक – यदि पाँच या पाँच से अधिक पद्यों में क्रिया की समाप्ति हो तो उसे कुलक कहते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त काव्य का एक भेद और है जिसमें वस्तु व्यंजना प्रधानतः गद्य रूप में होती है। उसके भी दो भेद हैं —

(१) आख्यायिका – उसे कहते हैं जिसका विभाजन उच्छ्वास इत्यादि के द्वारा किया गया हो तथा उसमें वक्त्र तथा अपवक्त्र का प्रयोग हो।

(२) कथा — उसे कहते हैं जो उपरोक्त कथित नियमों से विहीन हो।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त सम्मत काव्य प्रभेद

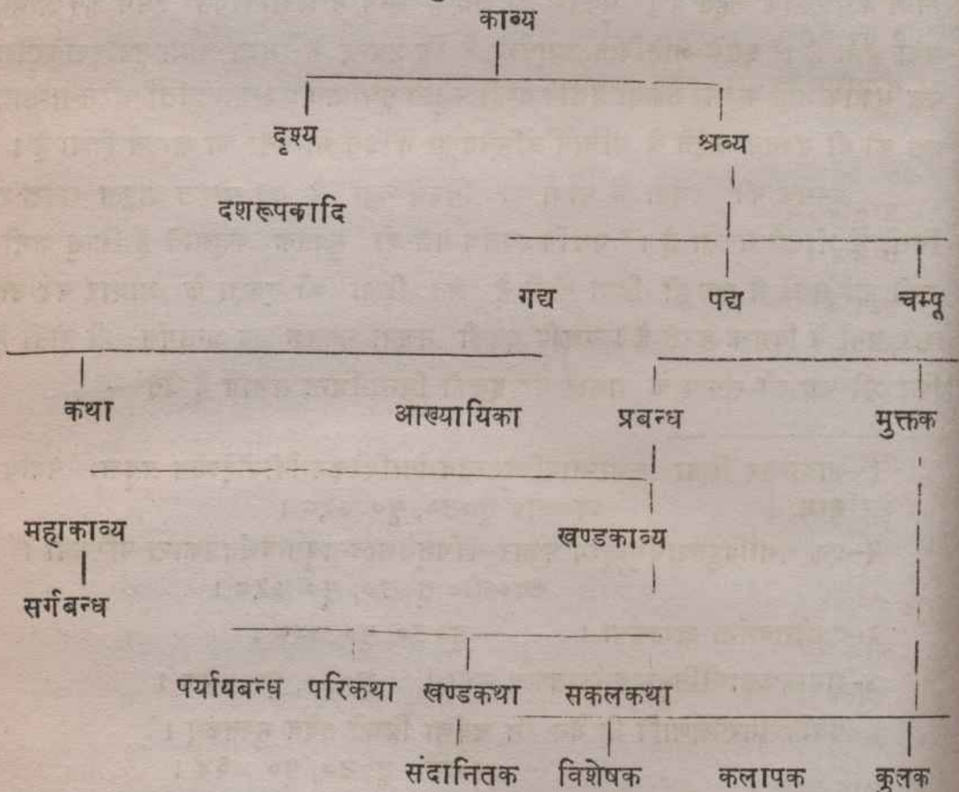

१—द्वाभ्यां क्रिया समाप्तौ सन्दानितकम्। त्रिभिर्विशेषकम् चतुर्भिकलापकम् : पञ्चप्रभृतिभि कुलकम्। इति क्रिया समाप्ति कृता भेदा इति।
तृ०उ०, पृ० ७५८।

२—आख्यायिकोच्छ्वासादिनावक्त्रापवक्त्रादिना च युक्ता कथा तद्विरहिता।
ध्व०लो० तृ०उ०, पृ० ७५९।

कवि

गतिशीलता ही जीवन का, सृष्टि का नित्य लक्षण है। मानव सभ्यता, साहित्य और संस्कृति पलों के पावड़ों पर पग रखकर प्रगति के पथ पर अग्रसर होती रही है। जहाँ गति है वहाँ परिवर्तनशीलता है और परिवर्तनशीलता ही विकासोन्मुखी प्रवृत्ति की परिचायिका है। आविर्भाव-तिरोभाव, आगम और विलोप, उद्भव और विलय, उदय और अस्त इस परिवर्तनशीलता का व्यक्ति स्वर है।

इस स्निग्ध परिवर्तनशील नवनवोन्मेष शालिनी प्रकृति की छाया में जन्म लेने वाला सर्वाधिक भावुक, सम्वेदनशील, अव्यक्त को व्यक्त, अदृश्य को दृश्य, अज्ञात को ज्ञान की सीमा में लाने वाला प्राणी है कवि। वह अव्यक्त स्वरों को श्रुतिगम्य ही नहीं करता, उन्हें केवल अनुभूति के धरातल पर अनुभव कर आत्मविस्मृत ही नहीं होता प्रत्युत् अभिव्यक्ति के लिए आतुर भी होता है। अनुभूति तो मानव की शाश्वत विभूति है पर इस अनुभूति की अभिव्यक्ति की क्षमता वाग्देवी का विरल वरदान है जिसका सौभाग्य केवल कवि को ही मिलता है।

यदि हम कवि शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करें तो कवि कर्म की गरिमा को आभास सहज ही मिल जाता है। कवि शब्द धातुज है✓कु वर्ण अथवा कुङ् शब्दे धातु से अच् (इ) प्रत्यय जोड़कर इसकी व्युत्पत्ति होती है। राजशेखर की सम्मत्ति में कवि शब्द की निष्पत्ति कवृ वर्णे धातु से हुई है इसलिए वे कवि का अर्थ वर्णन कर्त्ता मानते हैं।

कवि शब्द की✓कु धातु का अर्थ होता है 'व्याप्ति' आकाश अर्थात् सर्वज्ञता। फलतः कवि सर्वज्ञ है, द्रष्टा है। श्रुति कहती है कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः। 'परिभूः' अर्थात् जो अपनी अनुभूति के क्षेत्र में अथवा दृष्टिक्षेप में सब कुछ समेट ले और 'स्वयम्भूः' जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का भी ऋणी न हो अर्थात् काव्य उसी मनीषी की सृष्टि जो स्वयं सम्पूर्ण हो और सर्वज्ञ हो। वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक हैं। लौकिक साहित्य में कवि शब्द अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त होता है। उत्तर वैदिक काल में कवि शब्द विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न एक विशेष प्रकार की शैली में रचना करने वाले विद्वान् के अर्थ में योगरूढ़ हो गया था। कवि के लिए नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा और वर्णननिपुणता अनिवार्य धर्म बताये गये हैं। कवि की वर्णननिपुणता में एक बात विशेष होनी चाहिए वह है असाधारणता। मम्मटाचार्य के अनुसार 'काव्य लोकत्तर वर्णना में निपुण कवि कर्म को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु के यथावस्थित रूप के वर्णन में कवि के कवित्व का पर्यवसान नहीं होता वरन् उसके वर्णन में लोकोत्तरता का, अतिशय का पुट सर्वदा वर्तमान रहता है।

कवि कर्म को काव्य संसार कहा गया है और कवि को इस संसार का सृष्टा या प्रजापति[१] उसे जैसी सृष्टि रुचिकर प्रतीत होती है वह वैसी ही हो जाती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि यदि काव्य में कवि शृङ्गारी हो तो जगत रसमय हो जाता है वही यदि वीत राग हो तो वह सब नीरस ही होता है। सुकवि काव्य में स्वतन्त्र रूप में अचेतन भावों का चेतन के समान और चेतनों का अचेतन के समान व्यवहार करता है।[२] यही कारण है कि उसके काव्य में कहीं तो पत्थर रो पड़ते हैं और कभी वह सदेह स्वर्ग पहुँचाने में भी पीछे नही हटता।

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसी संदर्भ में कवि और उसकी शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि— कवि जो हृदय रूपी आयतन में निरन्तर उदित अपने प्रतिभा नामक वाग्देवता के अनुग्रह से उत्पन्न विचित्र एवं अपूर्व अर्थों के निर्माण करने की शक्ति से युक्त है तथा जो प्रजापति की तरह अपनी इच्छा से विश्व को उत्पन्न करता है।[३] आचार्य अभिनव के इन विचारों को आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में अत्यन्त व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है और कवि सृष्टि को ब्राह्मी सृष्टि से श्रेष्ठ बताते हुए उसकी श्रेष्ठता के कारण भी स्पष्ट कर दिये हैं।[४] ब्रह्मा की सृष्टि तो नियति नटीं के भ्रूभंग पर आश्रित है परन्तु कवि सृष्टि तो नियम विहीन है यहाँ कुछ भी असम्भव नहीं। ब्रह्मा की सृष्टि तो सुख दुःख मोह रूपा है परन्तु कवि की सृष्टि में केवल आनन्द ही आनन्द है। रुदन एवं क्रन्दन से युक्त भी कवि सृष्टि आनन्दानुभूति स्वरूप ही है।[५] ब्रह्मा की सृष्टि कार्य

१–अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥ अग्निपुराण ३३९।१०

२–शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
भावान चेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥
— ध्वन्यालोक तृ०उ०, पृ० १२२९।

३–कवेरपि स्वहृदयायतन सततोदित् प्रतिभाभिधान परवाग्देवतानुग्रहोत्थित विचित्रापूर्वार्थनिर्माण शक्ति शालिनः प्रजापतेरिव कामजनित जगतः।
— अभिनवभारती प्र०उ०, पृ० २१ मधुसूदन।

४–नियतिकृतनियमरहितांह्लादेकमयी मनन्यपरतन्त्राम्।
नवरस रुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥१।१। -- काव्य प्रकाश।

५–करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥३ ४ —साहित्यदर्पण।

कारणाश्रित है किन्तु कवि को प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्मा की सृष्टि से कवि सृष्टि में एक उत्कर्ष यह भी है कि ब्राह्मी सृष्टि तो षड् रस युक्त है और ६ रसों में भी सबके सब मनोज्ञ नहीं है परन्तु कवि सृष्टि में नव रस है और सब के सब रुचिर है। इसीलिए आदि आचार्यो ने कवि मनीषि को प्रजापति कहा है क्योंकि उसकी अपनी ही स्वतन्त्र सृष्टि होती है।

कवि को कवित्व के आधार भूत तत्वों में उल्लेखनीय हैं—दर्शन तथा वर्णन आचार्य भट्टतौत का मत है कि दर्शना और वर्णना का क्रमशः आश्रय लेकर ही काव्य सृजन सम्भव हो सकता है। दर्शन का अर्थ है वस्तु के अन्तर्हित धर्म को तत्व रूप से अनुभव करना तथा वर्णना का अर्थ है अनुभूत तत्व को गुणालंकारयुक्त शब्दों में उसकी प्राणचेतना के साथ अभिव्यक्त कर देना। दूसरे शब्दों में दर्शन का अर्थ है आत्मानुभूति तथा वर्णन का अर्थ है बाह्याभिव्यक्ति इन दोनों के मंजुल सामंजस्य होने पर ही कविता का स्फुरण होता है।

सहृदय

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त 'सहृदय' एक महत्वपूर्ण शब्द है जिसे काव्य निकष कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। कवि प्रणीत भाव कनक की शुद्धता की कसौटी यदि कोई है तो वह सहृदय ही है और काव्य में यदि कोई दोष है तो वह है 'सहृदय हृदय विघात।' इस प्रकार काव्य के गुण और दोष की परख का एक मात्र आधार स्तम्भ आचार्य अभिनव की दृष्टि में 'सहृदय' ही है।[1]

यद्यपि नाट्य के प्रेक्षक के संदर्भ में भरत मुनि ने सहृदय के गुणों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कर दिया था कि जो तुष्टता में तुष्टि शोक में शोक और दैन्य में दीनता का अनुभव करने में समर्थ हो उसे ही नाटक का प्रेक्षक कहा जा सकता है। परन्तु नाट्य संदर्भ में होने के कारण यह तत्व विशेष चर्चित नहीं हुआ। यों शब्द के रूप में सहृदय का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता रहा है जिसके परिणाम स्वरूप 'सहृदय दर्पण' 'हृदय लतिका' आदि ग्रन्थों में सहृदय का नामोल्लेख पाया जाता है परन्तु सहृदय की परिभाषा एवं काव्य में उसके महत्व का निरूपण अभिनव से पूर्व प्राप्त नहीं होता है।

सहृदय के वैशिष्ट्य की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा है कि—काव्यानुशीलन के अभ्यास से विशद् मनोमुकुर में वर्णनीय से तन्मय होने की योग्यता जिनमें हो और जो वर्णनीय से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं वे ही सहृदय कहे

१—सहृदयेत्यादि काव्यलक्षणमित्यर्थ।—प्र०उ० लोचन, पृ० ४०।

जाते हैं।[1] इसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन के 'हृदयवतीषु च स प्रज्ञक गाथासु' की व्याख्या करते हुए अभिनव ने कहा है—'त्रिवर्गोपायेयेय सुप्रज्ञकाः उच्यन्ते सहृदयाः'[2] अर्थात् त्रिवर्गों के उपाय में कुशल प्रज्ञा से युक्त सहृदय होता है।

सचमुच हर व्यक्ति सहृदय नहीं हो सकता रसिक भले ही हो क्योंकि सहृदय के लिए तन्मयी भाव की योग्यता के साथ जो अनिवार्य वैशिष्ट्य है वह है विवेचना की प्रज्ञा जो सर्वजन सामान्य कथमपि नहीं हो सकती। इस प्रकार सारांश यह है कि सहृदय के निर्माण में मुख्यतः तीन तत्वों का योगदान अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है —

(१) विशद् मनोमुकुर

(२) सम्वेदना (तादात्म्यस्थापनशक्ति)

(३) प्रज्ञा।

काव्य के सम्यक् अवबोध के लिए प्रमाता के चित्त का दर्पण के समान विशद होना अनिवार्य है। विशदता का तात्पर्य है प्रति साक्षात्कार योग्यता। जिस प्रकार दर्पण गत छाया 'स्व' पर एवं तटस्थ सम्बन्ध से मुक्त होती है क्योंकि दर्पण गत वस्तु न उत्पन्न होती है न अनुकृति रूप प्रतीत होती है और न दर्पण की निजि वस्तु होती है परन्तु फिर भी उसकी सत्ता होती है। इसी प्रकार प्ररिपत्ति के चित्त को भी होना चाहिए जिससे बाह्य स्थित काव्य वस्तु अभ्यन्तर में प्रत्यक्षानुभव के रूप में ही प्रतिभासित हो। दर्पणगत आकृति न मूलवस्तु का तात्विक रूप होती है न मिथ्या या भ्रान्ति उसे न सत् कह सकते हैं न असत् फिर भी उसकी सत्ता अनिवार्यतः होती ही है। इसीलिए चित्त की दर्पणवत् क्षमता सम्यक् काव्यबोध की अनिवार्य शर्त है। भावक में यह क्षमता नाना काव्यों के अनुशीलन और अभ्यास से आती है। सृष्टा की चेतना से व्यक्त रचना और उसका प्राणभूत भाव सम्बद्ध किन्तु स्वतंत्र सत्ता में भावुक के हृदय में स्वयमेव स्फुरित होता है। अधिकारी व्यक्ति की चेतना में वह रागात्मिका वृत्ति जिसके चलते कवि ने सृष्टि की स्वयं स्पन्दित हो उठती है। यही सहृदय की सफलता है।

आचार्य अभिनव के गुरू भट्टतौत ने लिखा है कि कविता की सबसे बड़ी सफलता इसी में है कि उसके द्वारा यह प्रतीत होने लगे कि किसी भाव को नायक ने

१-(अ) येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भावन योग्यता ते स्वहृदया सम्वादभाजः सहृदया। — प्र०उ० लोचन, पृ० ६२।

(ब) विमलमुकुर कल्पीभूत निज हृदय। —अ०भा०, पृ० ३६।

२--लोचन — तृ०उ०, पृ० १२३०।

जितनी गम्भीरता के साथ अनुभव किया होगा कवि की अन्तरात्मा ने भी उसे उतनी ही गम्भीरता के साथ अनुभव किया है और वह पाठक दर्शक श्रोता को भी उसी गहराई तक पहुँचाने में समर्थ हो सका है।[1] वस्तुतः प्रतिपत्ता की विभिन्न सम्वेदनाओं के योगदान से ही काव्यगत पात्रों का व्यक्तित्व प्रकाशित होता है। काव्यवस्तु तो जड़ है प्राणभूत तत्व तो परिशीलक की चेतना का उदार दान है। जिस व्यक्ति का हृदय सम्वेदनाओं, भावों, विचारों आदि से जितना ही समृद्ध होगा और साथ ही वह कवि के साथ तादात्म्य स्थापित करने में जितना अधिक समर्थ होगा वह काव्य वस्तु का उतनी ही अधिक तीव्रता विविधता पूर्णता से आस्वादन करने में समर्थ होगा। कवि की व्यंजना उसका मौन प्रतिपत्ता के उदार दान से ही उद्घाटित होता है और स्रष्टा के मौन का प्रतिपत्ता द्वारा उद्घाटन ही काव्यार्थ की निष्पत्ति का प्राण है।

सहृदय के लिए जो तीसरा आधार भूत तत्व है वह है प्रज्ञा। जिस प्रकार काव्य सर्जक के लिए प्रतिभा अनिवार्य है उसी प्रकार सहृदय में भी आस्वादन के निमित्त प्रतिभा की आवश्यकता होती है। सारस्वत के 'किमपि रहस्य' के अन्वेषण का कार्य विमल प्रतिभावान् सहृदय ही सम्पादित करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि प्रतिपत्ति के योगदान के बिना सृजन प्रक्रिया पूरी ही नहीं हो सकती। प्रतिपत्ता की प्रतिभा का सहकार ही काव्य का जीवन भूत तत्व है।[2] इसीलिए आचार्य अभिनव काव्य का अधिकारी सहृदय को ही बताते हैं।[3] यही कारण है कि अपने मंगलाचरण श्लोक में उन्होंने कवि के साथ सहृदय का स्मरण समान रूप से किया है क्योंकि कवि और सहृदय इस काव्य सरिता के दो तट हैं। एक दूसरे के पूरक हैं। साहित्य विद्या इसीलिए सहृदयों की विद्या मानी गई है। प्राचीन काल से ही अरसिक के सम्मुख काव्य निवेदन निषिद्ध समझा जाता है। कवि की सबसे बड़ी पीड़ा अरसिक के सम्मुख काव्य निवेदन ही है इसीलिए कवि प्रार्थना करता है हे ब्रह्मा जितने भी कर्म फल देने हो ताप देने हो दे दो परन्तु अरसिक के सम्मुख काव्य निवेदन भाग्य में कभी न लिखना —

इतिरकर्मफलानि यदृच्छयावितरता न सहे चतुरानन्।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनंशिरसिमालिखनमालिखमालिखा।

१–नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।
—लोचन प्र०उ०, पृ० १७१।

२–प्रतिपत्तृप्रतिभा सहकारित्वं ह्यस्माभिद्योतनस्य प्राणत्वनोक्तम्।
—ध्व० लोचन

३–अधिकारी चात्र विमल प्रतिभानशाली सहृदयः।
—अ०भा० पृ० ४७०।

आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी दूसरी टीका अभिनव भारती में भी सहृदय के गुणों की विवेचना करते हुए लिखा है 'वैमल्य जिसका अपर पर्याय है ऐसी सुकुमारता ही सहृदयता है तथा कवि के हृदय के साथ तादात्म्यापत्ति को प्राप्त करने करने की योग्यता ही उत्कर्ष है। आचार्य अभिनव गुप्त का विश्वास है कि नाट्यगत काव्यगत रस का आस्वाद प्रत्येक व्यक्ति नही ग्रहण कर सकता। अधिकारी व्यक्ति ही काव्यात्मक शब्दों के माध्यम से काव्यात्मक भाव की प्रतीति कर सकता है फलतः उसमें रस मानता आ सकती है।[२] विमल प्रतिभा सम्पन्न सहृदय ही रसास्वाद का अधिकारी होता है।[३] आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय को सुकुमार हृदय प्रमदा के समकक्ष घोषित किया है। अभिनव गुप्त लिखते हैं कि जिस प्रकार सुकुमार हृदय प्रमदा कर्कश कठिनाइयों से आपूर्ण कंटकित प्रदेश में चलते हुए व्यक्ति को देखकर उसी के समान खेद का अनुभव करती है उसी प्रकार सुहृदय भी सुकुमार हृदय होता है विमलता ही जिसका पर्याय है ऐसी सुकुमारता ही सहृदयता है।[४]

आचार्य अभिनव के अनुसार सहृदय वही हो सकता है जिसके प्राक्तन संस्कार प्रबल हों और जो काव्यानुशीलन में पटु हो।[५]

चमत्कार

लोक साहित्य में सामान्यतः चमत्कार शब्द का अर्थ बुद्धि के धरातल पर की गयी वैचित्रय सृष्टि से सम्बद्ध माना जाता रहा है। बुद्धि से सम्बद्ध करने के कारण ही कभी-कभी काव्यात्मक मूल्यांकनों में चमत्कार का आधिक्य सहृदयता का अभाव मान लिया जाता है किन्तु यदि आचार्य अभिनवगुप्त से दिशा निर्देश लेकर विचार करें

१--सुकुमारता हि वेमल्यापरपर्याया, सहृदयत्वं, हृदयस्य हि कवि हृदय तादात्म्यापत्ति योग्यैतेव उत्कर्षः।

—ना०शा० अभिनवभारती, षोडशोध्याय, पृ० १३२८।

२--काव्यात्मकादपि शब्दाधिकारिणो अधिकास्ति प्रतिपत्तिः।

—ना०शा० अ०भा०, पृ० ४६६।

३--अधिकारी चात्र विमल प्रतिभाशालि हृदयः। —आ०भा०, पृ० ४७०।

४--यथा हि कर्कशशंकरनिकरकंटकिते देशे दुस्संचरे संचरंजनं पश्चत्याऽपि सुकुमार हृदयायाः प्रमादायास्तदात्मानुप्रवेश इव जायमानं खेदमतितरामादत्तो प्रहार पातादी व तथा सहृदयस्य स एव मार्गः सुकुमारता हि वेमल्यापरपर्याया सहृत्यत्वम्। —अ०भा० भाग दो, पृ० ३३६।

५--ये काव्याभ्यास प्राक्तन पुण्यादि हेतुगलादिभिं सहृदयाः।

—अ०भा०, पृ० ४६८।

तो बौद्धिक विलास की प्रक्रिया को चमत्कार कहने की मान्यता स्वयं में विभ्रम है। चमत्कार का शाब्दिक अर्थ है विस्मय और विस्मय बुद्धि की नहीं हृदय की स्थायी विभूति है जिसकी पूर्णता 'अद्‌भुत रस के अन्तर्गत व्यंजित होती है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने चमत्कार का संबंध सहृदय से जोड़ा है और इसे आनन्दात्मक आस्वाद का पर्याय कहा है।

काव्यशास्त्र में 'चमत्कार' शब्द का बहुल प्रयोग आचार्य अभिनवगुप्त से लेकर पं० जगन्नाथ तक दृष्टिगत होता है। विघ्नों से सर्वथा रहित प्रतीति चमत्कार कहलाती है तथा उससे उत्पन्न होने वाले अनुभावात्मक विकार और रोमांचोंदय आदि भी चमत्कार कहलाते हैं।[1] अविघ्न संविद् रूप चमत्कार पूर्ण तृप्ति रूप भोगावेश कहलाता है तथा सहृदय के अद्‌भुत भोगात्मक व्यापार अर्थात् स्पन्द से आविष्ट मन का चमत्कृत हो जाना ही चमत्कार कहलाता है[2] तात्पर्य यह है कि रसानुभूति तथा उससे जन्य पुलकादि दोनों के लिए चमत्कार शब्द का प्रयोग होता है। रसन निर्वेश, आस्वादन, भोग समापत्ति लय विश्रान्ति चमत्कार के ही पर्याय हैं।[3] लोचन में चमत्कार शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'चमत्कार अर्थात् आस्वाद प्रधान बुद्धि।[4] वहीं पर चमत्कार को आनन्द का पर्याय भी कहा है।[5] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी में चमत्कारिता पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि चमत्कारिता वस्तु के आस्वाद लेने की स्थिति है और अपने में आत्मविश्रान्ति ही उसका लक्षण है।[6]

१–सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः। तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारश्चमत्कारः। —अ० भा० अ० ६, पृ० ४७१।

२–स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते। भुन्जानस्याद्‌भुत् भोगास्पन्दाविष्टस्य च मनश्चमत्करणं चमत्कार इति।
—अ०भा० अ० ६, पृ० ४७२।

३--तथा हि लोके सकल विघ्नविनिर्मुक्ता सवित्तिरेव चमत्कार निर्वेश--रसन--आस्वावन –भोग समापत्ति--लय--विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।
—अ०भा० अ० ६, पृ० ४७३।

४--चमत्कृतिरिति। आस्वादप्रधानाबुद्धिरित्यर्थः।
—ध्व०लो० च०उ०, पृ० १४०३,

५--ध्वेनः स्वरूपं लक्ष्यतां सम्बन्धिनिमनसि आनन्दोनिवृत्यात्मा चमत्कारपरपर्यायः।
—ध्व०लो० प्र०उ०, पृ० ६१।

६--चमत्कारिता हि भुन्जानरूपास्वात्मविश्रान्ति लक्षणा।
—३–२५२ इ०प्र०वि०वि०।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से चमत्कार शब्द चम् भक्षणे से व्युत्पन्न है और इसमें दो शब्द है चमत् + कार। चमत् का अर्थ है—आश्चर्य का उद्गार अथवा किसी वस्तु के आस्वादन लेने को स्थिति। आचार्य अभिनवगुप्त चमत्कार के दोनों अर्थों (१ – भोग (२) आस्वादात्मक अनुभव) को मान्यता देते हैं क्योंकि रस संदर्भ में मूलतः दोनों एक ही है।

इसके अतिरिक्त आन्तरिक स्पन्दनों के आन्दोलनों से उदित आनन्दात्मक अभिव्यक्ति को भी चमत्कार कहा जा सकता है।[१]

उपरोक्त समस्त परिभाषाओं का सार यही है कि चमत्कार का अर्थ है संवित् विश्रान्ति यह चमत्कार सहृदय हृदय की विभूति है जो उसे काव्यास्वाद के समय विस्मय विमुग्ध कर एकाग्र कर देता है। परात्रिशिका विवरण में तो आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दिया है कि सहृदयता का अर्थ है अतिशय चमत्कार में मग्नता चमत्कार का सर्वथा अभाव तो जड़ता है।[२]

१–चमत्कारो हि इति स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुन्जानतारूपं चमत्वम्। तदेव करोति संरम्भे विमर्शतिनान्यत्रानुधावति। चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदित परामर्शमयशब्दान व्यक्तानुकरणम्।

— ई०प्र० वि० पृ० ३।२५१।

२–सर्वतो हिं अचमत्कारे जडतेव अधिकचमत्कारावेश एव सहृदयता उच्यते।

— परात्रिशिका विवरण, पृ० ४६।

पंचम अध्याय

उपसंहार

साहित्यशास्त्र को अभिनवगुप्त का योगदान

कोई भी क्रिया निरुद्देश्य नहीं होती। हर यात्रा का अपना निश्चित लक्ष्य होता है। शोध यात्रा का भी अपना एक लक्ष्य है और वह है विवेच्य व्यक्ति एवं उसके कृतित्व का सम्यक् समालोचन कर जिज्ञासु अध्येताओं के लिए उनके समग्र योगदान को सीधे सुलझे रूप में संकलित कर अध्ययन का मार्ग सुगम करना। मैंने अपने विवेच्य टीकाकार अभिनवगुप्त के जीवन दर्शन सिद्धान्त निरूपण पूर्ववर्ती एवं परवर्ती काव्य-शास्त्रों के संदर्भ में मूल्यांकन आदि का मंथन कर इस अध्याय में आचार्य अभिनव की उपलब्धियों को योगदान की संज्ञा देकर संकलित करने की चेष्टा की है।

आचार्य अभिनवगुप्त चतुरस्र प्रतिभा के धनी एक असामान्य टीकाकार हैं जिनकी असामान्यता इसी से सिद्ध है कि एक टीकाकार होते हुए भी, शंकराचार्य के समान ही, उन्हें मूल ग्रन्थ कर्त्ता से अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। साहित्यशास्त्र के लिए तो वे मेरुदण्ड ही मान लिये गये यहां तक कि परवर्ती साहित्यशास्त्रज्ञों ने उनकी स्थापनाओं को अपनाकर मूल ग्रन्थकारों को भुला सा दिया। यदि काव्यशास्त्रीय सोपानों पर दृष्टि रखकर चलें तो उनकी मान्यताओं को इस रूप में समायोजित किया जा सकता है :

(१) काव्यलक्षण :

आचार्य अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम काव्य को शब्दार्थ मात्र (शब्दार्थ काव्यम्) की शुष्क परिधि से निकाल कर उसे प्राणतत्व मे अभिसिंचित करते हुए कहा कि — 'काव्य का अर्थ है कवि कर्म कवि जब अपने अनुभूत भावों की अभिव्यक्ति गुणालंकार औचित्ययुक्त, सुन्दर शब्दार्थों में जो ध्वनन रूप आत्मा से युक्त हैं, करता है तो उसे काव्यत्व की संज्ञा दी जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त की काव्य सम्बन्धी इस धारणा की स्थापना के परिणाम स्वरूप ही परवर्ती आचार्य मम्मट तददोषी शब्दार्थों सगुणा-वनलंकृती पुनः क्वापि (का० प्र० १।४) कहने का साहस कर सके।

(२) काव्यात्मा :

आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के पूर्व समस्त काव्य चेतना शब्द और अर्थ पर ही केन्द्रित थी। काव्य के आत्म तत्व के अन्वेषण का प्रयास सर्व प्रथम इनके समय में ही दृष्टिगत होता है। काव्यात्मा के संदर्भ में अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थकार से एक कदम आगे आकर स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी कि काव्य की आत्मा रस है। उनका अखण्ड विश्वास है कि रस के अभाव में काव्य के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

(३) काव्य प्रयोजन :

आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती समस्त प्रचलित प्रयोजनों को अपने मत की स्थापना के साथ एक नया रूप दिया और प्रथमतः उसे कविगत एवं सहृदयगत काव्य प्रयोजनों के रूप में विभक्त किया। उनके अनुसार काव्य के जितने भी प्रयोजन बताये गये हैं उनमें आनन्द ही सर्वप्रमुख प्रयोजन है। दुःखों से छुटकारा तथा सुख की उपलब्धि ही इस आनन्द की आत्मा है तथा चमत्कार इसका पर्याय है।

(४) काव्यकारण :

आचार्य अभिनवगुप्त ने समस्त काव्य हेतुओं के मध्य 'प्रतिभा' को ही एक मात्र प्रधान काव्य हेतु कहा है और उसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि प्रतिभा का अर्थ है अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम बुद्धि।

शब्द शक्ति :

यद्यपि शब्द शक्तियों का विवेचन व्याकरण और दर्शन से सम्बद्ध होने के कारण अत्यन्त प्राचीन है परन्तु अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शब्द शक्तियों के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त के विचार ही परवर्ती समीक्षकों के विवेचन का आधार हैं। अभिनवगुप्त ने शब्द शक्ति के रूप में चार शक्तियों को मान्यता दी है-- (१) अधि, (२) तात्पर्य, (३) लक्षणा और (४) व्यंजना !

ध्वनि :

संस्कृत काव्यशास्त्र में एक नवीन प्रस्थान का सृजन करने वाला यह ध्वनि शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसे ही काव्य का सार तत्व कहा गया है और इसके तीन प्रकारों का उल्लेख है—(१) वस्तु ध्वनि (२) अलंकार ध्वनि और (३) रस ध्वनि। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि वस्तु और अलंकार ध्वनि अन्ततः रस पर्यवसायी होते हैं अतः रस ध्वनि ही प्रधान है फिर भी वाच्य की अपेक्षा वस्तु और अलंकार ध्वनि उत्कृष्ट होती ही है इसी अभिप्राय से ध्वनि काव्य की आत्मा है यह सामान्य रूप से कहा गया है।

रस :

साहित्य सम्प्रदाय का मौलिभूत माना जाने वाला रस सिद्धान्त आचार्य अभिनवगुप्त की देन है क्योंकि इनके पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ बहुत पहले ही लुप्त हो गये थे परवर्ती साहित्यशास्त्र में उपलब्ध रस विचार की सामग्री आचार्य अभिनवगुप्त की टीकाओं से ही प्राप्त होती है। इस क्षेत्र में अभिनवगुप्त ने अनेक क्रान्तिकारी स्थापनायें की जो आज भी यथावत् मान्य हैं—

(१) आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्व प्रचलित उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद एवं मुक्ति-

वाद का युक्तियुक्त खण्डन कर अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की जो कि आज भी सर्व-मान्य सिद्धान्त हैं।

(२) आचार्य अभिनवगुप्त ने ही सर्व प्रथम अनुकार्य एवं अनुकर्ता में रस स्थिति का निषेध कर उसे सहृदय सामाजिक की सम्पत्ति घोषित किया और उन्होंने ही सर्वं-प्रथम कविगत रस और सामाजिकगत रस के परस्पर सम्बन्ध की विस्तृत व्याख्या की है।

(३) अभिनवगुप्त के मतानुसार रस सिद्धि मात्र विभाव, अनुभाव अथवा व्यभि-चारी के प्राधान्य द्वारा भी हो सकती है किन्तु उसका पूर्ण उत्कर्ष रसावयवों के समप्राधान्य द्वारा ही सम्भव है।

(४) भट्टलोल्लट प्रतिपादित रसों की अनन्तता का निषेध कर अभिनवगुप्त ने रस संख्या नौ ही मानी है शान्त रस की साहित्यशास्त्र में प्रतिष्ठा का महत् कार्यं अभिनवगुप्त द्वारा ही सम्पादित हुआ है।

गुण :

अभिनवगुप्त की स्थापना है कि गुण का अर्थ है चारुता। गुण शून्य काव्य, काव्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं होता। अभिनवगुप्त माधुर्य ओज और प्रसाद इन तीन गुणों को ही मान्यता देते हैं। उन्होंने पूर्व प्रचलित विभ्रमों का युक्तियुक्त निरा-करण करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि गुण रसाश्रित होते हैं।

अलंकार :

अभिनवगुप्त के अनुसार वचन की विच्छित्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारों की इयत्ता नहीं हो सकती। जहाँ तक इनके सामान्य स्वरूप का प्रश्न है ये शब्दार्थ की स्वरूपगत चारुता के हेतु हैं। इसके साथ ही इनका कथन है कि इन्हें रसोपकारक तथा अप्यत्नसम्पाद्य होना चाहिए।

संघटना :

अभिनवगुप्त के अनुसार संघटना का तात्पर्य रचना से है। यह संघटना अर्थ की अपेक्षा किये बिना ही केवल श्रोत्र ग्राह्य होकर ही अपद्गीत ध्वनिवत् मृदुता या परुषता का सृजन कर रसास्वाद कराती है। इस संदर्भ में अभिनवगुप्त का अभिनत्व इस बात में निहित है कि वे संघटना को प्रथमतः दो रूपों में विभक्त करते हैं— (१) पदगत संघटना और (२) वाक्यगत संघटना। साथ ही वे संघटना को नियत विषय मानते हैं। उसकी नियतता का आधार वे गुण को बताते हैं।

दोष :

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय हृदय विघात ही दोष है। वैसे अभिनव-गुप्त की धारणा है कि—

न वे दोषा दोषा न च खलु गुणा एव च गुणा ।
निबन्धस्वातन्त्र्यं सपदि गुण दोषान् विभजते ।।

घटकर्पट काव्य, पृ० २२ ।

विनिवेशन के प्रकार से बहुधा दोष दोष नहीं रह जाते हैं। सत्य तो यह है कि यदि ध्वन्यात्मक रस का भंग न हो तो बड़े से बड़े दोष का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसीलिए ये दोष के दो प्रकार मानते हैं नित्य और अनित्य ।

काव्य की विधायें :

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा मान्यता प्राप्त प्रधान काव्य भेद हैं—(१) दशरूपक, (२) सर्गबन्ध, (३) मुक्तक । इसके भी अनेकानेक प्रभेदों की चर्चा इन्होंने की है जिसका विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में द्रष्टव्य है ।

कवि :

अभिनवगुप्त के अनुसार कवि वह है जो हृदय रूपी आयतन में निरन्तर उदित अपने प्रतिभा नामक वाग्देवता के अनुग्रह से उत्पन्न विचित्र एवं अपूर्व अर्थों के निर्माण करने की शक्ति से युक्त है तथा जो प्रजापति की तरह अपनी इच्छा से विश्व को उत्पन्न करता है।

सहृदय :

आचार्य अभिनव ही वह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने सहृदय की काव्य-जगत् में महत्वपूर्ण स्थिति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने सहृदय को ही काव्य निकष कहा है। इस प्रसंग में सहृदय के गुणों एवं आवश्यकता की विवेचना करते हुए तीन तथ्यों पर विशेष प्रकाश डाला गया है कि सहृदय को—विशदमनोमुकुर वाला, तादात्म्यस्थापन शक्ति से युक्त एवं प्रज्ञावान् होना चाहिए ।

चमत्कार :

अभिनव के अनुसार चमत्कार का अर्थ है संवित् विश्रान्ति यह चमत्कार सहृदय हृदय की विभूति है जो उसे काव्यास्वाद के समय विस्मय विमुग्ध कर एकाग्र कर देता है। सहृदयता का अर्थ है अतिशय चमत्कार में मग्नता चमत्कार का सर्वथा अभाव तो जड़ता है।

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा काव्यतत्वों पर लिये गये उपरोक्त निष्कर्ष साहित्य-जगत में आज भी यथावत् मान्य हैं परवर्ती मम्मटाचार्य, आचार्य जगन्नाथ आदि इनके ऋणी हैं वे अभिनवगुप्त द्वारा विकीर्ण आलोक में ही संचरण करते हुए दीख पड़ते हैं। इतना होते हुए भी एक स्थान पर, अभिनवगुप्त चूक गये हैं। जहाँ उन्होंने ध्वनि की अनन्तता की चर्चा की है वहाँ उनका गणित त्रुटिपूर्ण है।

साहित्यशास्त्र को आचार्य अभिनवगुप्त का जो सर्वाधिक विशिष्ट योगदान है वह है दो सम्प्रदायों का समन्वय। इन्होंने नाट्यशास्त्रीय रस एवं काव्यशास्त्रीय ध्वनि के समायोजन का महत्वपूर्ण कार्य किया है। ध्वनि सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार ध्वनिवादियों की व्यंजना रस की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त की जा सकती है। इसी प्रसंग में रस की परिभाषा एवं काव्य में उसके महत्व का स्पष्टीकरण करते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि रस ही वस्तुतः आत्मा है क्योंकि वस्तु और अलंकार ध्वनि अन्ततः रस में ही पर्यवसित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त की दूसरी महत्वपूर्ण स्थापना है—काव्य में सहृदय के महत्व का निरूपण। उनके अनुसार सहृदय व्यक्ति ही काव्य का रसास्वाद कर सकता है। सहृदय ही कवि और काव्य को पूर्णता प्रदान करने वाला है। आचार्य अभिनवगुप्त ने ही काव्य के गुण और दोष का विवेक करने वाला सहृदय को ही बताया है।

आचार्य अभिनवगुप्त बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान व्यक्ति थे, दर्शन, तन्त्र, नाट्य, साहित्य सभी विषयों पर इन्होंने समान अधिकार से लेखनी चलायी है। कुछ विद्वानों को ऐसा भ्रम है कि आचार्य अभिनव में अहं भाव की प्रधानता है क्योंकि वे बहुधा उत्तम पुरुष की क्रिया के साथ भी अहम् का पृथक् प्रयोग करते दिखते हैं। सामान्य प्रभाव तो इसका वही पड़ता है जिसे बहुधा लोग सोचते हैं परन्तु अभिनवगुप्त के विस्तृत अध्ययन के उपरान्त मुझे ऐसा लगता है कि यह उनका अहम् नहीं वरन् गहन अध्ययन से उद्बुद्ध आत्म विश्वास है जिसे दूसरे शब्दों में अस्मिता कहा जा सकता है। अस्मिता और अहंकार दोनों शब्द बहुत पास होते हुए भी बहुत दूर हैं क्योंकि एक तो व्यक्ति को उच्च पदासीन करने में समर्थ है तो दूसरा पतन का मार्ग दिखाता है। वस्तुतः यदि साहित्यकार में अस्मिता नहीं है तो वह काल प्रवाह में बह जाता है उसका कोई भी चित्र अवशिष्ट नहीं रहता परन्तु व्यक्ति की अस्मिता उसे काल प्रवाह से अलग कर कालजयी बना देती है। आचार्य अभिनवगुप्त का पाण्डित्य तो सर्वविदित है ही अतः उनके इस अहम् को उनके श्रमण, मनन, चिन्तन एवं दर्शन से उत्पन्न अखण्ड विश्वास की अभिव्यक्ति कहा जाय तो अनुचित न होगा।

अपनी सम्पूर्ण बोध यात्रा के बीच अन्तः साक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन के उपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि अभिनवगुप्त में उनके प्रतिपाद्य सिद्धान्तों, दर्शनों के पीछे एक ऐसा अखण्ड विश्वास था एक ऐसी असंदिग्ध आस्था थी जो उन्हें परवर्ती साहित्यकारों के लिए सहज ही मार्ग निर्देशक बना गई। भले ही अभिनवगुप्त ने साहित्य सिद्धान्तों के सलिल सीकर आनन्दवर्धन के साहित्य सागर से ग्रहण किये हों किन्तु उनकी विवेचक प्रतिभा साहित्याकाश पर केवल मेघ बन कर छायी ही नहीं बरसी भी और ऐसी बरसी कि इतने युगों के व्यवधान को पार कर आज भी मैं शोध छात्रा के रूप में उनके सैद्धान्तिक काव्य सागर पर सन्तरण कर किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाने के लिए प्रयत्नशील रही हूँ। मेरी उपलब्धि नितान्त मेरी है। मेरे निष्कर्ष मेरे शोध का प्रतिफल है। यदि सुधीजनों की सहमति मेरी उपलब्धि को प्राप्त हुई तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगी।

———

परिशिष्ट

आचार्य अभिनवगुप्त की काव्यशास्त्रीय टीकायें पद्धति और उद्देश्य

साहित्य सौरभ का एकमात्र कोश काश्मीर भारत का गौरव है। अपने हिमाच्छादित गिरि शिखरों, सुरम्य जल प्रपातों, फल फूल से लदे वृक्षों वल्लरियों के कारण ही नहीं अपितु वह गौरव मय है काव्यशास्त्रीय उर्वर अंचल के रूप में। काश्मीर की सुरम्य घाटियों की छाया में, शिव से समाधिस्थ हिमालय की क्रोड़ में दर्शन व्याकरण और साहित्य तीनों ही पले और बढ़े हैं। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है वहाँ स्पष्ट ही दिखता है कि काव्यशास्त्र विदों की एक परम्परा ही इस भूमि ने पोषित की है जिसकी पहली कड़ी के रूप में आचार्य भामह का नाम उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त वामन, उद्भट, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, मम्मट, मंखक, जयरथ आदि मूर्धन्य साहित्यशास्त्री एवं आचार्य भी इसी प्रदेश की विभूतियाँ है।

संस्कृत साहित्य के असमान्य टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त भी इसी भूमि के अनमोल रत्न हैं जिसकी अप्रतिम भास्वरता से समस्त परवर्ती साहित्य जगमगा उठा। टीकाकार होते हुए भी आचार्य अभिनव को जिस गौरवमय पद की प्राप्ति हुई उसका एक अंश भी उन्हीं विषयों पर मौलिक ग्रन्थ का प्रणयन करने वाले आचार्यों को नहीं मिला। अपने दो टीका ग्रन्थों के सीमित क्षेत्र में आचार्य ने अपनी जिन सार्वकालिक मान्यताओं की स्थापना की है वह उस विषय पर आज भी अन्तिम प्रमाण है और यही कारण है कि टीकाग्रन्थ होते हुए भी इनका महत्व किसी भी मौलिक ग्रन्थ से कम नहीं है। यदि यह कहा जाय कि अभिनव की टीकाओं के समक्ष इस विषय पर रचे गये मौलिक ग्रन्थ सतही जान पड़ते हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अभिनव की टीकाओं का महत्व इस तथ्य से भी प्रकाशित होता है कि परवर्ती विचारकों ने मूल ग्रन्थकारों को भुलाकर इनकी स्थापनाओं का ही खण्डन-मण्डन प्रारम्भ कर दिया।

संस्कृत भाषा एवं उसके शास्त्रों की गंभीरता और गहनता के परिणाम स्वरूप संस्कृत साहित्य का टीका साहित्य मौलिक से कहीं अधिक विशाल है। टीका शब्द का सामान्य अर्थ है टीक्यते गम्यतेऽर्थो यया सा इसकी व्युत्पत्ति है टीकृत गती + अः + टाप् यों तो सामान्यतः टीकाओं में पुराने वादों पर नये विचार, उन वादों का नई दिशाओं में विकास, उनका नये ढंग से मूल्यांकन, विरुद्ध मतों का खण्डन अभिमत सिद्धान्त का मण्डन आदि मिलता ही है फिर भी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी अभिनव भारती में अपनी टीका पद्धति पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपनी टीका की नौ विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(१) उपादेय पाठ का ग्रहण।

(२) अनुपादेय पाठ का परित्याग या प्रतीक रूप में ग्रहण

(३) स्पष्ट व्याख्या

(४) ग्रन्थ में प्रतीत होने वाले विरोधों का परिहार या विरोधी मतों का परिहार।
(५) विषय का पूर्णता से प्रतिपादन
(६) लक्ष्य का अनुसरण अर्थात् यथा स्थान उदाहरणों से पुष्टि
(७) लक्ष्य से सम्बद्ध वक्तव्य अंश का विवेचन करना
(८) पुनरुक्त अर्थों की समाधान पूर्वक संगति
(९) विस्तृत व्याख्या में कहे हुए विषय का संक्षेप में श्लोकों द्वारा संग्रह करना।[१]

आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन टीका पहले लिखी है और अभिनव भारती बाद में। उन्होंने अपनी लोचन टीका में उसकी व्याख्या पद्धति के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है सम्भवतः पहली कृति होने के कारण ही वे अपनी रचना पद्धति का निर्णयात्मक उपदेश न कर सके हों और एक टीका लिखने के बाद दूसरी के लिए उन्होंने अपनी व्याख्यान शैली का निर्णय ले लिया हो क्योंकि जिस पद्धति का उल्लेख उन्होंने अभिनव भारती में किया है लोचन टीका भी उसी पद्धति पर लिखी गई है। दोनों ही टीकाओं में यथा स्थान उन समस्त पूर्वोक्त तत्वों का प्रयोग आचार्य ने किया है।

जहाँ तक तक दोनों टीकाओं की रचना के उद्देश्य का प्रश्न है वहाँ अभिनव गुप्त की काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वे सृजन का प्रयोजन आनन्द एवं कीर्ति को बताते हैं। अतः इन टीकाओं का एक उद्देश्य यश प्राप्ति तो है ही किन्तु आचार्य अभिनव गुप्त के शब्दों में काव्यालोक की स्फुट व्याख्या ही लोचन का उद्देश्य है।[२] सहृदय के लिए ध्वन्यालोक के गूढ़ तत्वों का विशद् व्याख्यान ही लोचन टीका का उद्देश्य है और अभिनवगुप्तपादाचार्य का ऐसा विश्वास है कि ध्वन्यालोक के आलोक का ग्रहण लोचन के अभाव में कथमपि सम्भव नहीं है।[३] सहृदय समाज को ध्वनि का रहस्य समझा कर कृतार्थ करना भी[४] इस

१—उपदेशस्यसम्पाठः तदन्यस्य प्रतीकनम्।
स्फुट व्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता॥
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशविवेचनम्।
सङ्गतिः पौनरुक्त्यानां समाधान समाकुलम्॥
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्या प्रकारोऽत्र समाश्रिता॥ —ना०शा०अ०भा०, प्र०अ०।

२—भट्टेन्दुराज चरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।
यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं स्वलोचन नियोजनयाजनस्य॥
लोचन, पृ० ४।

३—किं लोचनं बिनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥ – प्र०उ० (अंतिम मंगलपद्य)।

४—काव्यालोकेप्रथां नीतान् ध्वनि भेदान् परामृशत्।
इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान् संविधास्यति॥
— तृ०उ० (अंतिम मंगल पद्य)।

लोचन टीका का महत् उद्देश्य है जिसमें आचार्य को अभूत पूर्व सफलता मिली क्योंकि आचार्य अभिनव से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त की नींव ही हिल रही थी जिन्हें अभिनवगुप्त ने अपनी टीकाओं के माध्यम से एक सुदृढ़ आधार दिया। अभिनवाचार्य की टीकाओं के उपरान्त तो ध्वनि सिद्धान्त इस तरह प्रतिष्ठित हुआ कि उसके समक्ष पूर्ववर्ती या परवर्ती कोई भी प्रस्थान अडिग न रह सका। लोचन के चतुर्थ उद्योत में भी अपनी टीका का वैशिष्ट्य बताते हुए लिखा है कि आनन्दवर्धन के विवेक से प्रकाशमान काव्यालोक के अर्थ तत्व की संयोजना करने वाला होने से ही जिसकी सारवत्ता का अनुमान किया जा सकता है और जो काव्य के महत्वपूर्ण विषयों को प्रकृष्ट रूप में प्रकाशित करने वाला है ऐसे लोचन को आचार्य अभिनव ने अभिनव किन्तु गुप्त रूप से क्रियाशील बनाया है।[१] गुप्त रूप से कहने का अभिप्राय यहाँ यह है कि इस टीका का अभिनवत्व प्राप्त करने के लिए प्रज्ञा युक्तता आवश्यक है मन्द बुद्धि को तो यह आनन्दवर्धनाचार्यों के सिद्धान्तों का अनुरणन ही प्रतीत होगा।

अपनी दूसरी टीका अभिनवभारती के उद्देश्य का आख्यान करते हुए उन्होंने बताया है कि यह टीका उन्होंने उन अर्थिजनों की मनोकामना की सिद्धि के लिए लिखी है जो आचार्य भट्टतौत की नाट्यवेद सम्बन्धी व्याख्याओं को सुनने के जिज्ञासु हैं।[२] ऐसी प्रसिद्धि है कि अभिनव के नाट्यशास्त्र के गुरु भट्टतौत अपने समय के नाट्य-शास्त्र के प्रमुख आचार्य थे ग्रन्थ लेखन में उनकी रुचि न थी वे मात्र अध्यापन करते थे उनकी नाट्यशास्त्रीय व्याख्यायें सुनने को सभी लालायित रहते थे अतः प्रतिभाशाली शिष्य अभिनवगुप्त ने दूरस्थ जिज्ञासुओं के लिए भट्टतौत के वेदनोति नाट्यवेद को संक्षिप्त वृत्ति की रचना द्वारा स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने स्थान-स्थान पर यह भी स्पष्ट कहा है कि ग्रन्थगत ग्रन्थियों का निर्ग्रन्थन भी इन टीकाओं के माध्यम से किया गया है।[२] संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी टीकाओं के माध्यम से मूल ग्रन्थकारों की मान्यताओं की स्थापना खण्डन-मण्डन विवेचन विश्लेषण करते हुए साथ ही अपनी अस्मिता की रक्षा करते हुए की है।

१–आनन्दवर्धन विवेकविकासिकाव्यालोकार्थतत्वघटनादनुमेयसारम् यत्प्रोन्मिषत्
सकलसद्विषयप्रकाशिव्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत् ॥२॥
—च०उ० (अन्तिम मंगल पद्य)

२–सद्विप्रतेतवदनोदितनाट्य वेदतत्वर्धमर्थिजनवाञ्छितसिद्धि हेतोः।
माहेश्वराभिनवगुप्तपः प्रतिष्ठः संक्षिप्त वृत्ति विधिनाविशदी करोति ॥
—अ०भा० प्र०अ०

१–शिशिरतरकिरलकलिकालंकारविभक्तिभक्तङ्गुरतापः।
अभिनवगुप्ते नवमाध्याये संदेहतापमपनुदतिस्म ॥ – अ०भा० नवम अ०
इति षोडशमध्यायं ग्रन्थ निर्ग्रन्थिकं व्यधात्।
यशो राशेर्यशोरागनाप्नो दोहित्र-देहज ॥ – अ०भा० दशम० अ०।

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अभिनवगुप्त की लोचन टीका पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि –'उन्होंने लोचन में आन्दवर्धन के सिद्धान्तों को केवल भित्ति बनाया है, उस पर जो चित्र अंकित किये वे उनके सिद्धान्तों के थे। यह अन्तर पाठकों को विलम्ब से समझ में आता है क्योंकि अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव बात गुप्त ढङ्ग से लिखी है। इस ढङ्ग से कि उससे यही प्रतीत होता है कि वे जो कुछ लिख रहे हैं वह सब आनन्दवर्धन को भी उसी रूप में मान्य है। परन्तु मैं आचार्य द्विवेदी की मान्यता से पूर्णतः सहमत नहीं हूँ। प्रथम तो यही कि अभिनव ने अपनी बातें गुप्त रूप से कही हैं यदि यह कहा जाय कि अभिनव ने अपनी मान्यतायें सूक्ष्म रूप से उपस्थित की है और अपनी सूक्ष्मता के कारण ही वे सामान्य व्यक्ति की पकड़ से बाहर हैं तो अधिक उपयुक्त होगा। द्विवेदी जी का यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है कि अभिनव आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को मात्र भित्ति रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपियह सत्य है कि आचार्य अभिनव ने टीकाकार होते हुए भी कुछ स्थानों पर ग्रन्थकार से अलग होकर अपनी मान्यतायें स्थापित की हैं। परन्तु स्मरणीय है कि वे मान्यतायें ग्रन्थकार के विरुद्ध न जाकर ग्रन्थकार की मान्यताओं का विस्तार करने वाली है। उदाहरण के लिए काव्यात्मा के प्रश्न को लिया जा सकता है जहाँ आनन्दवर्धन 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' कह कर वस्तु अलंकार और रस को एक श्रेणी में ला खड़ा करते परन्तु अन्तर्मन से रस को श्रेष्ठ स्वीकार करना चाहते हैं। आचार्य अभिनव ने अपनी टीका के माध्यम से रस ध्वनि को काव्यात्मा घोषित किया जो आनन्दवर्धन का भी विवक्षित था। साथ ही दर्शन व्याकरण साहित्य के पंडित बहुज्ञ आचार्य से यह अपेक्षा करना कि वे टीका करते हुए शब्दार्थ का स्पष्टीकरण करेंगे अपने आप में ही त्रुटिपूर्ण है।

द्विवेदी जी ने अभिनवगुप्त के लिए एक स्थान पर लिखा है—अभिनव ने बहुत कुछ अपनी ओर से सोचा है। वह भी पूर्ण स्वरूप क्रम से नहीं प्रत्युत् बहुत अधिक भावुकता और दूरान्वयी प्रवृत्ति से, जिसे खींचतान कहा जाय तो अनुचित न होगा।[2] मेरे विचार 'वाक्यप्रमाणपदवेदिगुरु' आचार्य अभिनवगुप्त से यह आशा करना कि वे अपनी टीकाओं में कठिन शब्दों के अर्थ बतायेंगे उनके प्रति अन्याय है। अतः द्विवेदी जी के इस कथन से मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि आचार्य अभिनव ने बहुत कुछ अपनी ओर से सोचा है परन्तु उनका यह कथन तर्क संगत नहीं है कि वह सब जो उन्होंने अपनी ओर से सोचा है स्वस्थ क्रम से नहीं सोचा या खींचतान की है।

१--आनन्दवर्धन आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, प्रवेशिकी, पृ० १।

२--आनन्दवर्धन–आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७८।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :

अग्निपुराण	व्यास	चौ० सं० सी० वाराणसी
अभिनव भारती	अभिनवगुप्त-पदाचार्य	गा० चौ० सी०
काव्यादर्श	दण्डी	काशी-चौ० सं० सी० १९५८
काव्यानुशान	हेमचन्द्र	चौ० सं० सी० बा०
काव्य प्रकाश	मम्मट	ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला
काव्यमीमांसा	राजशेखर	बिहार राष्ट्रभाषा परिषय
काव्यालंकार	भामह	सम्पादक बलदेव उपाध्याय चौ०सं०सी०
काव्यालंकार	रुद्रट	निर्णय सागर बम्बई
काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	वामन	आत्माराम एन्ड सन्स
ध्वन्यालोक (लोचन टीका)	आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त	रामसागर त्रिपाठी मोतीलाल बनारसीदास
नाट्यशास्त्र	भरत	गा० चौ० सी०
नाट्यशास्त्र	भरत	मधुसूदनशास्त्री – मोतीलाल बनारसीदास
नाट्यशास्त्र	भरत	मनमोनन घोष – एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता
नाट्यशास्त्र	भरत	डा० रघुवंश मोतीलाल बनारसीदास
सरस्वती कंठाभरण	भोज	नि० सा० बम्बई
साहित्य दर्पण		
हिन्दी अभिनव भारती	आ० विश्वेश्वर	हि० अ० प० दिल्ली

आलोचनात्मक ग्रन्थ :

आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन	जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
आनन्दवर्धन	डा० रेवा प्रसाद विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ।
अभिनव का रस विवेचन	नगीनदास पारिख, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।
अभिनव नाट्यशास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी

अलंकार मीमांसा	डा० रामचन्द्र द्विवेदी—मोतीलाल बनारसीदास ।
अलंकारधारणा विकास और विश्लेषण	डा० शोभाकान्त मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना
अभिनव साहित्य चिन्तन	डा० भागीरथ दीक्षित, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली ।
भारतीय साहित्य शास्त्र	बलदेव उपाध्याय
भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त	कृष्णदेव झारी
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	डा० नगेन्द्र
भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त	राजवंश सहाय
भरत और भारतीय नाट्यकला	सुरेन्द्रनाथ दीक्षित
भारतीय साहित्य शास्त्र	जी० टी० देश पाण्डे
भारतीय काव्य सिद्धान्त	देशराज सिंह माटी
भारतीय काव्य सिद्धान्त	आचार्य काका कालेकर एवं नगेन्द्र लोक-भारती प्रकाशन
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	डा० नगेन्द्र ने० प० हा० दिल्ली
भारतीय काव्यशास्त्र	डा० सुरेश अग्रवाल, अशोक प्रकाशन दिल्ली
भारतीय समीक्षा सिद्धान्त	डा० सूर्यनारायण द्विवेदी —संजय बुक सेन्टर
ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	भोलाशंकर व्यास
ध्वनि सिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन	डा० बच्चूलाल अवस्थी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल
ध्वनि सम्प्रदाय का विकास	डा० शिवनाथ पाण्डे साहित्य प्रकाशन दिल्ली ।
ध्वनि सिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय सौन्दर्य शास्त्रीय और समाज मनोवैज्ञानिक अध्ययन	डा० कृष्ण कुमार शर्मा
काव्यदोषों का उद्‌भव और विकास	बम शम्भुदत्त झा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ।
काव्यांग विवेचन	डा० भागीरथ मिश्र, बलभद्र तिवारी
काव्यांग प्रक्रिया	डा० शंकर देव अवतरे, लिपि प्रकाशन दिल्ली ।
रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण	आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन